GL SANS 891.22
KAL
125583
LBSNAA

ी राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी
L.B.S. National Academy of Administration
मसूरी
MUSSOORIE
पुस्तकालय
LIBRARY

अवाप्ति संख्या — 125583
Accession No. ~~14614~~
वर्ग संख्या GL Sans
Class No. 891.22
पुस्तक संख्या KAL
Book No. कालिदा

॥ श्रीः ॥

हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला

२४२

महाकविश्रीकालिदासविरचितं

विक्रमोर्वशीयम्

'प्रकाश' नामक संस्कृत-हिन्दीटीकोपेतम्

तच्च

समालोचना-कथासार-नोट्स-नाटकीयविषय-शब्दकोश-
प्रश्नपत्रादि-विविध-विषयैर्विभूषितम् ।

टीकाकारः-

व्याकरण-वेदान्त-साहित्याचार्यः

पण्डित श्रीरामचन्द्र मिश्रः

मुजफ्फरपुरस्थराजकीय-धर्मसमाजसंस्कृतकालेजाध्यापकः ।

चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज, बनारस-१

सं० २०१०] [ई० १९५३

प्रकाशकः—
जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः,
चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज-आफिस,
बनारस-१

पुनर्मुद्रणादिकाः सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः

The Chowkhamba Sanskrit Series Office.
P. O. Box 8, Banaras.
1953

मुद्रकः—
विद्याविलास प्रेस,
बनारस-१

THE
HARIDAS SANSKRIT SERIES
242

THE

Vikramorvas'īyam

OF

S'RĪ KĀLIDĀSA

EDITED WITH THE

PRAKĀS'A SANSKRIT HINDI COMMENTARIES

Notes, Introduction, Indices, Appendices etc.,

BY

VYĀKARANA-VEDĀNTA-SĀHITYĀCHĀRYA

Pandit S'rī Rāma Chandra Mis'ra

Prof. Dharma Samaj Sanskrit College, Muzaffarpur.

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

BANARAS.

1953

विषयानुक्रमणिका

विषय			पृष्ठ
अवतारणा	...	...	१
[समालोचना]			
नाटक-साहित्यकी प्राचीनता	...	...	३
कालिदासका काल	...	...	५
कालिदासका स्थान, धर्म	...	...	६
कालिदासके ग्रन्थ	...	...	७
कालिदासकी कविता	...	...	७
विक्रमोर्वशीयपर एक दृष्टि	...	...	९
कथानकका आधार और भेद	...	...	११
पात्रालोचन	...	...	१२
कथासार	...	...	१५
विक्रमोर्वशीयके मूलाधार	...	...	१९
पात्रपरिचय	...	...	२४
ग्रन्थारम्भ	...	...	१–२३५
नोट्स (Notes)	...	...	२३७
ग्रंथमें आये हुए छन्द	...	...	२४८
,, सुभाषित	...	...	२४९
नाटकीय विषय	...	...	२५१
नायकादिनिरूपण	...	...	२५४
प्रश्नपत्र	...	...	२५५
शब्द-कोष	...	...	२५६
श्लोक-सूची	...	...	२६२

अवतारणा

अथेदमुपक्रम्यते प्रकाशयितुं 'प्रकाश'समन्वितं विक्रमोर्वशीयं नाम त्रोटकम्। अस्य रचयितुः परिचयं साहित्यिकं गौरवमन्यच्च ज्ञातव्यमग्रे राष्ट्रभाषायां लिखितमस्तीति तत एव ज्ञातव्यम्।

विक्रमोर्वशीयत्रोटकस्यानेकाष्टीकाः प्रथन्ते १-काटयवेमकृता, २-रङ्गनाथकृता, ३-तारानाथकृता, ४-कालेमहाशयकृता, ५-सुरेन्द्रनाथशास्त्रिकृता च। तासु सतीष्वपि ममायमारम्भः स्वान्तःसुखायैवेति विदन्तु सन्तः, अथाप्यनया ममटीकया यदि कोऽपि नवो भावः प्रकाशमानीतः स च सुधीभिरास्वादितस्तदाऽहमात्मानं धन्यं मंस्ये।

अस्य ग्रन्थस्य चतुर्थाङ्के प्राकृतपद्यानि भूयांसि नानाविधाभिश्चर्चर्यादिसंज्ञाभिरवतार्यमाणानि दृश्यन्ते, तत्र प्राकृतपद्यभागस्य कालिदासकृतत्वं तु मम मनो नैव प्रत्यैषीत्। मया कृतेऽत्रान्वेषणे यदुपलब्धं तदत्र निवेद्यते।

१—अस्य ग्रन्थस्याष्टौ हस्तलिखिताः प्रतयः पण्डितमहोदयेन सङ्कलितास्तत्र षट्सु प्राकृतपद्यानीमानि नासन्। २—प्रसिद्धष्टीकाकारः काटयवेमोऽमीषां प्राकृतपद्यानां चर्चामपि नाकृत। ३—द्राविडाक्षरोपलब्धपुस्तकाधारेण कृतेपि प्रकाशने न सन्तीमानि पद्यानि। ४—राजोत्तमपात्रतया प्राकृतं कथं वदेत्? उन्मादावस्था तथाऽकारयदिति चेत्, कथमसौ सहैव संस्कृतमप्यभ्यधात्? ५—प्रायस्तासु वर्णनैव प्रधानभूता, यया राज्ञः किमपि नोपक्रियते। ६—तानि न केवलमनावश्यकानि किन्तु रसव्यवच्छेदकराण्यपि।

अस्यां टीकायां मया प्रयत्न सारल्यमानीतम् । गद्यभागोऽपि विस्तरेण व्याख्यातः परिशिष्टे च ज्ञातव्याः सर्वेऽपि विषयाः समावेशिताः । आशासेऽनया टीकया छात्रा अध्यापकाश्च यथायोग्यमुपकृता भविष्यन्ति ।

परगुणपरभाणून् पर्वतीकृत्य स्वहृदि विकसतां सतां नित्यक्षमामयतया दोषैकदृशामसतां तु पुरः क्षमाप्रार्थनाव्यापारस्यापि स्वप्रवञ्चना मात्रसारतया क्षमाप्रार्थनामन्तरैव समापयामि स्वीयमिदं प्रास्ताविकम् । इति ।

मुजफ्फरपुरम्
अनन्तचतुर्दशी २०१०

प्रश्रयावनतः
श्रीरामचन्द्र मिश्रः

समालोचना

नाटकसाहित्यकी प्राचीनता

भारतीय नाटक-साहित्य विचार-धारा तथा विकासक्रममें मूलतः स्वतन्त्र है इस बातको अब सभी आलोचक मानने लग गये हैं। वैदिक-साहित्यकी समीक्षासे पता चलता है कि वैदिककालमें नाटकके सभी अङ्गों—संवाद, सङ्गीत, नृत्य, एवं अभिनयका किसी न किसी रूपमें अस्तित्व था। ऋग्वेदमें यमयमी, उर्वशी-पुरूरवा, सरमा-पणिके संवादात्मक सूक्तोंमें नाटकीय संवादका तत्त्व वर्त्तमान है। सामवेद तो सङ्गीतप्राण ही है। आलोचकोंका अनुमान है कि ऐसे संवाद ही कालान्तरमें परिमार्जित होकर नाटकोंके रूपमें परिणत हुए होंगे। रामायण महाभारत कालमें रामायणका कुछ और स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। विराटपर्वमें रङ्गशालाका नाम आया है। नट शब्दका भी वहाँ प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ श्रीधरस्वामीके अनुसार 'नवरसाभिनयचतुर' है। हरिवंशमें रामायणकी कथापर आश्रित एक नाटकके खेले जानेका वर्णन आया है। रामायणमें भी 'नट' 'नर्त्तक' 'नाटक' 'रङ्गमञ्च' आदिका वर्णन स्थान २ पर मिलता है तथा 'कुशीलव' शब्दका प्रयोग भी नट या अभिनेताके अर्थमें हुआ है, महामुनि पाणिनिने **'पाराशर्य-शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः'** इस सूत्रमें नटसूत्र अर्थात् नाट्यशास्त्रका स्मरण किया है। इससे स्पष्ट है कि उनके समयमें या उनसे पूर्व ही अनेक नाटक रचे जा चुके होंगे, जिनके आधार पर इन नटसूत्रोंकी रचना हुई होगी, क्योंकि लक्ष्य ग्रन्थोंको देखकर ही लक्षण ग्रन्थोंका निर्माण किया जाता है। इधर द्वितीय ईस्वी सदी पूर्वकी एक प्राचीन नाट्यशाला भी छोटा नागपुरकी पहाड़ियोंमें पाई गई है जो नाट्यशास्त्रमें वर्णित प्रेक्षागृहोंसे मिलती-जुलती है। इस तरह संस्कृत नाटकोंकी अपनी प्राचीन परम्परा सिद्ध होती है।

संस्कृत नाटकोंमें रङ्गमञ्चके पर्दोंके लिये कहीं कहीं 'यवनिका' शब्दका प्रयोग हुआ है, इसीसे कुछ पाश्चात्य विद्वान् यह अनुमान लगाते हैं कि संस्कृतनाटकोंकी उत्पत्ति 'यवन' अर्थात् 'ग्रीक' नाटकोंके प्रभावसे हुई है, किन्तु यह धारणा भ्रान्त है। 'यवनिका' शब्दके प्रयोगका रहस्य तो इतना ही भर है कि वह पर्दे 'यवन' (Lonea) देशसे आये हुए वस्त्रोंसे बनाये जाते थे।

प्राचीन पद्धतिके विचारसे भी नाटकसाहित्यकी प्राचीनता सिद्ध होती है। भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें लिखा है :—

'महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः। क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्॥
न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु। तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्॥

एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च ।
सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित् ॥
धर्म्यमर्थ्यं यशस्यञ्च सोपदेशं ससङ्ग्रहम् । भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् ॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रदर्शकम् । नाट्यसंज्ञमिमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥
एवं सङ्कल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन् । नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च । यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥
वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना । एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा ललितात्मकम् ॥
आज्ञापितो विदित्वाहं नाट्यवेदं पितामहात् ।
पुत्रानध्यापयं योग्यान् प्रयोगं चास्य तत्त्वतः ॥
एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानवनाशने । अभवन् क्षुभिताः सर्वे दैत्या ये तत्र सङ्गताः ॥
देवतानामृषीणाञ्च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् । कृतानुकरणं लोके नाट्यमित्यभिधीयते' ॥

शारदातनयने भी अपने 'भावप्रकाशन' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थमें लिखा है:—

'कल्पस्यान्ते कदाचित्तु दग्ध्वा लोकान्महेश्वरः ।
स्वेमहिम्निस्थितः स्वैरं नृत्यन्नानन्दनिर्भरम् ॥
मनसैवासृजद्विष्णुं ब्रह्माणं च महेश्वरः । नियोगाद्देवदेवस्य ब्रह्मालोकानथासृजत् ॥
सृष्ट्वा स देवदेवस्य पुरावृत्तमथास्मरत् । दिव्यं चरित्रमेशं मे कथमध्यक्षतामियात् ॥
इति चिन्तापरे तस्मिन्नभ्यगान्नन्दिकेश्वरः । स नाट्यवेदमध्याप्य सप्रयोगं चतुर्मुखम् ॥
उवाच वाक्यं भगवान्नन्दी तच्चिन्तितार्थवित् ।
नाट्यवेदोपदिष्टानि रूपकाणि च यानि तु ॥
विधाय तेषामेकं तु रूपकं लक्षणान्वितम् ।
भरतेषु प्रयोज्यं तत्त्वया सम्यग् विजानता ॥
तस्मिन् प्रयुक्ते भरतैर्भावाभिनयकोविदैः ।
प्राक्तनानि च कर्माणि प्रत्यक्षाणि भवन्ति ते ॥
एवं ब्रुवन्नन्तरधान्नन्दी स भगवान् प्रभुः । श्रुत्वैतद्वचनं प्रीतो ब्रह्मादेवैः समन्वितः ॥
ततस्त्रिपुरदाहाख्यं रूपकं सम्यगभ्यधात् ।
अध्याप्य भरतानेतत्प्रयुङ्ग्ध्वमिति चाब्रवीत् ॥
ततस्त्रिपुरदाहाख्ये कदाचिद् ब्रह्मसंसदि । प्रयुज्यमाने भरतैर्भावाभिनयकोविदैः ॥
तदेतत्प्रेक्षमाणस्य मुखेभ्यो ब्रह्मणः क्रमात् ।
वृत्तिभिः सह चत्वारः शृङ्गाराद्या विनिर्गताः' ॥

उपर्युक्त समीक्षा तथा उद्धरणोंके आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटक साहित्यने अपने क्रमबद्ध विकासमें वैदिक वाङ्मय, इतिहास, तथा पुराणसे प्रचुर प्रेरणा पाई है। इसप्रकार भारतीय नाटकोंके विकासमें बहुत समय लगा होगा।

महाकवि कालिदास

कालिदासका काल

हमारे प्राचीन कवियोंका काल बड़ी कठिनतासे निर्णीत होता है क्योंकि वे अपने सम्बन्धमें कुछ लिखते नहीं थे। इसलिये केवल अनुमान तथा दूसरोंद्वारा किये गये उल्लेखोंके आधार पर ही कालिदासका समय भी निर्णीत हो सकता है। इस तरहके अनुमानमें कुछ तथ्य हो भी सकता है। इसीलिये यहाँ कुछ मत संक्षिप्तमें उद्धृत किये जाते हैं।

१—सर विलियम जोन्सने कालिदासको विक्रमादित्यकी सभामें वर्त्तमान मानकर उनका समय ईस्वी सन्से थोड़ा पहले माना है, क्योंकि विक्रमादित्यका चलाया हुआ संवत् ईस्वीसे ५७ वर्ष पहले पड़ता है। पूनाके नन्दर्गीकर महाशयने भी इस मतका समर्थन किया है।

२—डाक्टर वेबर, और विलियम मॉनियरका मत है कि ईस्वीय द्वितीय शतकसे चतुर्थ शतकके बीचमें कालिदास उत्पन्न हुए थे। विसेन्टस्मिथका भी यही मत है।

३—डाक्टर भाऊदाजी महाशयका मत है कि मातृगुप्तका ही नामान्तर कालिदास था जिसे उज्जयिनीनरेश विक्रमादित्यने काश्मीरका शासक बनाकर भेजा था। इस तरहसे कालिदास छठी शताब्दीके सिद्ध होते हैं। इस मतमें कालिदासका विक्रमादित्य-समकालिकत्व भी सुरक्षित रह जाता है।

४—डाक्टर मैक्डोनल महाशयके मतमें कालिदास ५ वीं सदीके थे क्योंकि वत्सभट्टिका जो शिलालेख मिला है उसपर ५२९ मालव संवत् (४७३ ईस्वीय) खुदा है, और उसकी भाषासे कालिदासकी भाषा अधिकांशमें समानता रखती है।

५—डाक्टर हार्नले प्रभृति पण्डितोंकी रायमें कालिदासका समय ५ वीं या ६ ठी शताब्दी है। उन विद्वानोंने कालिदासको गुप्तवंशीय शासकोंका आभारी माना है और कालिदासकी कविताओंमें 'गोप्त्रे' 'गोप्ता' 'गुप्त' 'स्कन्द' आदि शब्दोंसे गुप्तवंशी शासकोंकी ध्वनि मानी है।

६—श्रीयुत ए. सी. चटर्जीका मत है कि कालिदास मालव नरेश यशोधर्माके कालमें थे अतः उनका समय ईस्वीय छठी सदी होगी।

७—पण्डित रामचन्द्र विनायक पटवर्धनने **'आषाढस्य प्रथमदिवसे'** और **'प्रत्यासन्ने नभसि'** इत्यादि पदोंके आधार पर ज्यौतिषानुसारिणी गणना करके सिद्ध किया है कि कालिदासको पैदा हुए आजसे १८०० वर्षोंसे अधिक ही हुए हैं।

८—आर. कृष्णमाचारियर महोदयने मेघसन्देशविमर्श नामक अपने ग्रन्थमें लिखा है कि दिङ्नागाचार्य कालिदासके समकालिक थे जैसा कि **'दिङ्नागानाम्'** इसकी टीकामें मल्लिनाथने माना है। दिङ्नागका समय छठी सदी है अतः कालिदासका समय भी वही होगा।

९—एस्० के० दे महाशयने कालिदासका समय द्वितीय शताब्दी ईस्वीसे चतुर्थ शताब्दी ईस्वीके बीचका माना है। इस मतमें विक्रमादित्य साहचर्य भी रक्षित रहता है क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीयके साथ उनका सम्बन्ध जोड़ दिया जा सकता है। चन्द्रगुप्त द्वितीयने भी तो विक्रमादित्यकी पदवी ली थी।

१०—महामहोपाध्याय रामावतार शर्माने लिखा है कि कालिदास द्वितीय चन्द्रगुप्तके समयमें (३७५ ई० से ४७५ ई० तक) थे। इस मतको बड़ी छान-बीनके बाद उन्होंने माननीय कहा है। यह संक्षिप्त विवरण है, जिन्हें इस विषयमें अधिक जानना हो वह कृपया निम्नलिखित पुस्तके देखें :—

१. History of Sans krit Classics by Krishnamachariar
२. संस्कृतसाहित्यका इतिहास (सीताराम जयराम जोशी)
३. ,, ,, (बलदेव उपाध्याय)
४. संस्कृतकविचर्चा ,, ,,
५. कालिदास (आचार्य म० प्र० द्विवेदी)
६. ,, (राजेन्द्रनाथ देवशर्मा)
७. भारतीयमितिवृत्तम् (म० म० रामावतार शर्मा)

कालिदासका स्थान

कालिदास काश्मीरके निवासी थे क्योंकि उन्होंने हिमालय तथा अलकाके वर्णनमें प्रत्यक्षदृष्ट वस्तुओंके वर्णनका दर्शन कराया है। इसके अलावा मेघको जो मार्ग उन्होंने अलका जानेके लिये बताया है उससे भी ज्ञात होता है कि उनका वासस्थान काश्मीर था। इतना हीं नहीं, यदि वे काश्मीरके नहीं होकर किसी और उष्ण स्थानके वासी होते तो अपने नाटकोंमें बार बार ग्रीष्म ऋतुका वर्णन न करके कहीं और ऋतुका भी वर्णन करते। इससे भी सिद्ध होता है कि उनका स्थान काश्मीर ही था। सबसे महान् प्रमाण तो विक्रमाङ्कदेवचरितमें विल्हणकी यह उक्ति है :—

'सहोदराः कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः' ॥

यदि कालिदास काश्मीरके न होकर किसी और भूभागके होते तो यह गर्वोक्ति उनके मुखसे नहीं निकलती।

कालिदासका धर्म

कालिदासका दृष्टिकोण यद्यपि उदार था, उन्होंने सनातन धर्मानुमोदित सभी देवी देवताओंका आदर किया है, तथापि प्रधानतः वे शैव थे। यह बात उनके तीनों नाटकोंके मङ्गलाचरण तथा रघुवंशके मङ्गलाचरणके देखनेसे स्पष्ट हो जाती है। मेघदूतमें महाकाल मन्दिरके वर्णनका भी यही स्वारस्य है।

कालिदासके ग्रन्थ

कालिदासने अपना नाम किसी ग्रन्थमें नहीं दिया इसीलिये अन्य साधारण कवियों को भी अपनी कृतियोंको कालिदासकृत कहकर प्रचारित करनेका अवसर मिल गया। आज कालिदासकृत कहे जानेवाले ग्रन्थोंकी संख्या बहुत बढ़ गई है। १-शाकुन्तल, २-विक्रमोर्वशीय, ३-मालविकाग्निमित्र, ४-रघुवंश, ५-कुमारसंभव, ६-मेघदूत, ७-कुन्तेश्वरदौत्य, ८-ऋतुसंहार, ९-अम्बास्तव, १०-कल्याणस्तव, ११-कालीस्तोत्र, १२-काव्यनाटकालङ्कार १३-१४-गङ्गाष्टक, १५-घटकर्पर, १६-चण्डिकादण्डकस्तोत्र, १७-चर्चास्तव, १८-ज्योतिर्विदाभरण १९-दुर्घटकाव्य, २०-नलोदय, २१-नवरत्नमाला, २२-पुष्पबाणविलास, २३-मकरन्दस्तव, २४-२५ मङ्गलाष्टक, २६-महपद्यषट्क, २७-रत्नकोश, २८-राक्षसकाव्य, २९-लक्ष्मीस्तव, ३०-लघुस्तव, ३१-विद्वद्विनोदकाव्य, ३२-वृन्दावनकाव्य, ३३-वैद्यमनोरमा, ३४ शुद्धिचन्द्रिका, ३५-शृङ्गारतिलक, ३६-शृङ्गाररसाष्टक, ३७-शृङ्गारसारकाव्य, ३८-श्यामलादण्डक, ३९-श्रुतबोध, ४०-शप्तश्लोकीरामायण, ४१-सेतुबन्ध। इनमें शूरूके छः ग्रन्थ कालिदासके है, इसमें किसीको आज तक आपत्ति नहीं हुई है। ७ वीं पुस्तक आज तक उपलब्ध नहीं हो सकी है, केवल काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्रने उसका उद्धरण अपने औचित्यविचारचर्चा नामक ग्रन्थमें दिया है। आठवें ग्रन्थ 'ऋतुसंहार' के रचयिता कौन हैं यह बात सन्दिग्ध है, कुछ बंगीय विद्वान् उसे कालिदासकृत ही मानते हैं। और अवशिष्ट ग्रन्थ अन्यान्य कवियोंके ही बनाये माने जांय यही उचित है। यह बात प्रामाणिक है कि संस्कृतसाहित्यके सौभाग्यसे इसके निर्माताओंमें अनेक कालिदास नामधारी महानुभाव पैदा हुए, कमसे कम तीन कालिदासका पता तो राजशेखरको ही था, जैसा कि उन्होंने लिखा है—

'एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥'

हमको केवल रघुवंशकार कालिदाससे ही प्रयोजन है जिनको उपर्युक्त ग्रन्थ सूचीगत आद्य छः ग्रन्थोंके प्रणयन का गौरव प्राप्त है। विक्रमोर्वशीय कालिदासकी कृति है। कालिदासकी रचनाओंमें कौन पहलेकी है? उसका क्या पौर्वापर्यक्रम है? इस विषयमें कुछ लोग-काव्य और नाटकोंको दो श्रेणियोंमें विभक्त करके कुमारसंभव, मेघदूत रघुवंश और मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, शाकुन्तल, इसतरह क्रम कायम करते है। कुछ लोग—दोनों तरहके काव्योंको एक साथ मिलाकर—कुमारसंभव, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, मेघदूत, शाकुन्तल, रघुवंश यह क्रम मानते हैं।

कालिदासकी कविता

कालिदासका नाम संस्कृतसाहित्यमें इतना आदृत हो गया है कि उनकी कविताकी कोटि निर्धारित करनेकी आवश्यकता नहीं मानी जाती, वह निर्धारित है। कालिदास

वाल्मीकिके बाद सर्वश्रेष्ठ कविके रूपमें समादृत हो गये हैं। बाणभट्टने कालिदासके बारेमें लिखा है:—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

भारतीय विद्वानोंने कालिदासकी कविताकी जितनी प्रशंसाकी है उनकी बात जाने दीजिये, विश्वके किसीभी कोनेमें शायद ही उनकी कविताकी भूरि भूरि प्रशंसा नहीं हुई हो। जर्मनकवि 'गेटे' Goethe ने कालिदासकी बड़ी प्रशंसा की है। प्रसिद्ध दार्शनिक तथा पर्यटक Humboldt ने निम्नलिखित शब्दोंमें कालिदासकी कीर्त्ति गाई है-'Kalidasa is a masterly diseriber of the influence which nature exercises upon the minds of lovers.'' महाशय जोन्सने कालिदासकी तुलना शेक्स्पीयरके साथ की है। इस तरह यह प्रमाणित है कि कालिदासकी कविता बड़ी यशस्विनी हुई है। यह तो हुई उनकी प्रसिद्धिकी प्रस्तावना, परन्तु यह प्रश्न तो अभी असमाहित है कि उनकी कविता क्यों इतनी प्रसिद्ध हुई? उसमें कौन ऐसी बात थी जिससे विद्वानों की चेतोवृत्ति इसतरह आकर्षित की जा सकी? यह प्रश्न बहुत विस्तारसे उत्तर चाहता है, परन्तु हम यहाँ संक्षेपमें ही कुछ उत्तर देंगे।

कालिदासकी रचना संस्कृतसाहित्यकी प्रस्फुटित शैलीका चारुतम निदर्शन मानी जाती है इसका प्रधान कारण उनकी मौलिकता है। उन्होंने प्राचीन आख्यानोंको अपनी मौलिक सृष्टि निपुणतासे कुछका कुछ बना दिया है। पुरानी कृतिको नवीनरूपमें दुनियाँ के सामने रखनेमें बड़ी कारीगरीकी जरूरत होती है और वह कालिदासमें खूब थी।

कालिदासकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, उन्होंने महाकाव्य, खण्डकाव्य, तथा नाटक, सब प्रकारकी रचनामें अपनी प्रखर प्रतिभाका समान परिचय दिया है। कोई भी एक कवि इन सभी विभागोंमें उनकी बराबरी करनेका दावा नहीं कर सकता है।

कालिदासकी लोकप्रियताका सर्वप्रधान कारण उनकी प्रसादपूर्ण तथा सरस शैली है। उनके सभी ग्रन्थ वैदर्भी रीतिमें लिखे गये हैं:—

'वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते'
'माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।
अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते'॥

ललित पदविन्यासके माधुर्यसे और क्लिष्टता तथा कृत्रिमताके नितान्त परिहारसे कालिदासकी रचनायें स्वाभाविक तथा सहज सरस हैं।

किसी भावके चित्रणके लिये कालिदास एक अनूठी शैलीका आश्रयण लेते हैं। वह उसे शब्दोंमें कहनेकी अपेक्षा व्यञ्जनावृत्तिसे उसकी ओर संकेत भर कर देना पर्याप्त मानते हैं।

कोमल और सुकुमार भावोंकी व्यञ्जनामें कालिदास अद्वितीय हैं, इसी लिये प्रसन्न-राघवकार कविवर जयदेवने उन्हें कविताकामिनी विलासकी उपाधि दी है।

सबसे बड़ी आकर्षणकी बिजलीकी सृष्टि कालिदासकी उपमाओंद्वारा हुई है, उनकी उपमा शास्त्र, लोक तथा कल्पना तीनों स्रोतोंसे आती हैं फिर भी उनकी अपनी होती है। रघुवंशमें आगे सुदक्षिणा, बीचमें नन्दिनी और उनके पीछे राजा दिलीप हैं—**'दिनक्षपा-मध्यगतेव सन्ध्या'** इस उपमासे वहाँका दृश्य इतना स्पष्ट हो जाता है कि हम उसे प्रत्यक्ष दृष्ट सा मानने लग जाते हैं। स्वयंवरमें इन्दुमती आगे बढ़ती जाती है और पीछे छुटते हुए राजागण उदास होते जाते हैं, उपमा हैं :—

'सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं सस भूमिपालः' ॥

निराशाकी कालिमा क्या नैश अन्धकारसे कम होती होगी।

उपमाओंके उदाहरण यदि पेश किये जांय तो अधिक स्थान लगेगा, पाठक उनके ग्रन्थों में देखें। केवल उपमा ही नहीं **'मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तार पाण्डुः'** **'राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः'**

ऐसी उत्प्रेक्षाओं तथा **'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' 'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते'** इस तरहके अर्थान्तरन्यासों की भी उनकी रचना में प्रचुरता पाई जाती है।

उनके द्वारा चित्रित मानवचित्र इतने स्पष्ट तथा सजीव हैं कि उनपर कालद्वारा किसी प्रकार की कालिमा नहीं पोती जासकेगी, वे शाश्वत हैं, इसीलिये उनके ग्रन्थ भी अमर हैं।

कालिदासने जिसका वर्णन किया है, उसे प्रकृतिकी गोदसे छीनकर अपना आवरण पहनाकर नहीं, उसे उसी रूपमें रहने दिया है जैसा वह है। इसीलिये वह रमणीय है।

विक्रमोर्वशीयपर एक दृष्टि

यह पांच अङ्कों का एक त्रोटक है। त्रोटक उपरूपकप्रभेद हैं। इसमें राजा पुरूरवा तथा उर्वशी नामक अप्सराकी प्रणयकथा वर्णित है। (कथासार देखें)

कलाकी दृष्टिसे विक्रमोर्वशीयका स्थान मालविकाग्निमित्र और अभिज्ञानशाकुन्तलके बीचका है। उर्वशी और पुरूरवाके अतिप्राचीन वैदिक आख्यानको कविने भाव, भाषा, और शैलीकी मौलिकतासे नवीनरूप दे दिया है। कविकी कल्पना इसमें खूब प्रस्फुटित हुई है। भरतमुनिका शाप, कार्त्तिकेयद्वारा किया गया नियम, उर्वशीका लतारूपमें परि-वर्त्तन, पुरूरवाका उन्माद प्रलाप और पञ्चम अङ्कका पूरा प्रकरण यह सब कालिदासकी कल्पनाकेद्वारा चित्रित हुए हैं, जिनसे नाटकीय कथा भागमें जान सी आगई है। इस नाटकमें शृङ्गारके दोनों अङ्ग--विप्रलम्भ और संभोग-का उत्तम परिपोष हुआ है। पात्रोंकी

संख्या कम होनेपर भी उनका चित्रण मार्मिक रूपसे किया गया है। शाकुन्तलकी तुलना में इसकी भाषा मंजी हुई और महावरेदार नहीं है तथापि उसमें प्रसाद तथा सौष्ठव पर्याप्त मात्रामें विद्यमान है। इस त्रोटकमें छोटे छोटे छन्दोंकी विविधता तथा मधुरता बड़ी खूबीसे प्रयुक्त हुई है। प्रथम अङ्कमें उर्वशीके मोहापगमका जो वर्णन है वह बहुत विलक्षण है।

'आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
र्नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गङ्गारोधः पतनकलुषा गृह्णतीव प्रसादम्'॥ (पृ० २३५)

चांद निकल रहा है रात अन्धकारके परदेसे निकलती जाती है, धुंआका सिलसिला टूटता जा रहा है, आग अपनी ज्वालामय भास्वररूपमें निखरती जाती है, कगारोंके गिरने से जो पानीमें गन्दगी आ गई थी वह बैठती जारही है, गङ्गा विमलसलिला होती जा रही है उसी तरह इस सुन्दरीकी मूर्च्छा धीरे धीरे दूर होती जा रही है और इसका रूप विखरता जा रहा है। इन तीन तीन उपमाओंमें जितनी गहराईसे सौन्दर्यकी अभिव्यक्ति चित्रित की गई है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

कालिदास प्रायः करके उन उपादानोंका ही प्रयोग अपने वर्णनात्मक पद्योंमें करते हैं जिनकी सुलभता उनके पात्रोंकी स्थितिमें रहती है। राजाके मुंहसे ग्रीष्मका वर्णन करवाना है तब जंगलकी बात कहें तो वह कृत्रिम होगा, उसके मुंहसे उसकी राजधानीके प्रासादोंमें या उपवनोंमें मिलनेवाले उपादानोंका ही उपयोग स्वाभाविक प्रतीत होता है।

'उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी
निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः।
तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते
क्रीडावेश्मनि चैष पञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते'॥ (पृ, ९०)

गर्मी नहीं सहसकनेके कारण मयूर वृक्षकी जड़के आलवालमें बैठता है, कर्णिकारकी कलियोंको भेदकर भौंरे उसमें छिप रहे हैं, पानी तप गया है अतः उसे छोड़कर वत्तक कमलिनीके पत्तोंमें अपना आश्रय बना रहे हैं। और क्रीड़ाघरमें वर्त्तमान पिञ्जरमें पड़ा सुग्गा प्याससे पानी पानी चिल्ला रहा है। कितनी स्वाभाविक वर्णना है?

एक वृद्ध आदमी जिसकी जिन्दगी नौकरीमें ही बीती हो, उम्मीद करता है कि अब कुछ दिनोंमें इस जीवनसे छुटकारा पाकर विश्राम करना है। परन्तु जिसकी वृद्धावस्था ही नौकरोंके लिये उपयुक्त समय माना जाता हो ऐसा भृत्य क्या सोचेगा इस बातका कालिदासने बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन किया है।

'सर्वः कल्ये वयसि यतते लब्धुमर्थान् कुटुम्बी
पश्चात्पुत्रैरपहृतभरः कल्पते विश्रमाय।

अस्माकं तु प्रतिदिनमियं सादयन्ती शरीरं
सेवा कारापरिणतिरभूत्स्त्रीषु कष्टोऽधिकारः ॥ (पृ० ९७)

सब आदमी जवानीमें पैसा पैदा करनेकी चेष्टामें रहता है और बुढ़ापेमें अपने कार्य-भारको पुत्रोंपर डालकर विश्रामकी इच्छा करता है। हमारी तो यह नौकरी कारागारमें परिणत हो रही है, स्त्रियोंकी सेवामें रहना बड़ा कष्टप्रद होता है'। उस वृद्धके पश्चात्ताप की सादगीमें लिपटी तीव्रता बड़ी हृदयग्राहिणी है।

कालिदासकी कवितामें एक खास बात यह रहा करती है कि वह जिस वस्तुका वर्णन करना चाहते हैं उसे कममें ही पूर्ण करके छोड़ते हैं। यही बात इस निम्नलिखित उद्धरण में देखी गई है। वह उर्वशीके लिये पागल राजाके मुंहसे उर्वशीके विषयमें कुछ कहवाना चाहते हैं जिसमें उसके सौन्दर्यका वर्णन हो और जो स्मर्यमाण होकर विप्रलम्भका पोषक हो। एक ही श्लोकसे उसके रूपसौन्दर्यका परिचय दे देना है, साथ ही साथ प्राकरणिक विषय भी कहना है, देखिये :—

'पद्भ्यां स्पृशेद्दुसुमतीं यदि सा सुगात्री, मेवाभिवृष्टसिकतासु वनस्थलीषु।
पश्चान्नता गुरुनितम्बतया ततोऽस्या, दृश्येत चारुपदपङ्क्तिरलक्तकाङ्का' ॥

'सुगात्री' 'स्थली' पदमें जो व्यञ्जना है वह सहृदय ही समझेंगे। (टीका पृ० १५१ देखें)।

उद्धरणों से तथा ऊपर लिखी बातोंसे पाठक स्वयं इस त्रोटक की कोटि निर्धारित करनेमें समर्थ हो सकेंगे।

कथानक का आधार और उससे भेद

इस त्रोटकमें जो कथानक है उसका आधार क्या है? इस प्रश्नके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि उर्वशी-पुरूरवाके संबन्धका ऋग्वेदभाग ही आधार है। यद्यपि उसमें बहुत बड़ा परिवर्त्तनकर दिया गया है तथापि आधारता उसकी बनी है।

ऋग्वेदके आधारपर ही महाभारत, विष्णुपुराण, पद्मपुराण, मत्स्यपुराण भागवत, तथा कथासरित्सागरमें उर्वशी और पुरूरवाके प्रेमका वर्णन हुआ है, उनमेंसे किसीको आधार मानने की अपेक्षा ऋग्वेद को ही आधार मानना अच्छा है। (आधारभूत ऋग्वेद तथा पुराण, कथासरित्सागर आदि का भाग परिशिष्टमें देखें)। एक बात यहाँ कह देना है कि कालिदासने ऋग्वेद अथवा किसी अन्य ग्रन्थसे जो कथाभाग लिया, उसमें काफी परिवर्त्तन करके मनोहर बनानेकी जहाँतक संभव था प्रयत्न किया है। पुराणोंकी कथाओंमें और इस त्रोटक की कथामें कम भेद नहीं है,—

(१) पुराणोंके अनुसार राजाने पहले उर्वशीको इन्द्रसभा या नन्दनवनमें देखा। इस ग्रन्थके अनुसार हेमकूटपर बेहोशी की हालत में देखा।

(२) पुराणोंमें औशीनरीको राजाकी स्त्रीके रूपमें कहीं नहीं स्वीकार किया गया है। हरिवंशमें तो एकमात्र उर्वशीको ही राजाकी स्त्री कहा गया है। महाभारतमें औशीनरीको राजाकी प्रेयसी तो बताया गया है लेकिन उसका विवाहिता होना नहीं लिखा है। इस त्रोटक में उर्वशीको विवाहित पटरानी माना है।

(३) पुराणोंमें उर्वशीको कहीं भरतने और कही तुम्बुरुने शाप दिया है। कहीं कहीं तो मित्रावरुणके शापका भी प्रसंग आया है। किन्तु इस ग्रन्थमें केवल भरतका शाप है।

(४) पुराणोंके अनुसार उर्वशीके वियोगमें राजाके ऊपर भगवान् का अनुग्रह लिखा है। कहीं कहीं गन्धर्वोंके अनुग्रह की बात है। इस ग्रन्थमें तो इन्द्रके द्वारा अनुग्रह है।

(५) पुराणोंके अनुसार राजाको उर्वशी अवस्त्र देखती है और चली जाती है, कहीं कहीं गन्धर्व उसे हरकर ले जाते हैं। यहाँ पुत्रमुख-दर्शनपर्यन्त संयोग माना है।

(६) पुराणोंमें वियोगके बाद पुनः संगमनीय मणिके द्वारा संयोगकी बात नहीं आई है।

(७) पञ्चम अङ्ककी पूरी कथा किसी भी पुराणमें नहीं है, वह केवल इसी ग्रन्थ में है।

(८) पुराणोंके अनुसार उर्वशीको राजा ही मर्त्यलोकमें लाये, वह स्वयं अभिसारिका होकर नहीं आई।

(९) पुराणोंने राजाको दुःखी ही छोड़ दिया है, परन्तु इस ग्रन्थमें भारतीय मर्यादा के अनुसार उसे सुखान्त बनाया गया है।

इसप्रकार यह बात स्पष्ट है कि कालिदासने पौराणिक कथाओं में आवश्यक परिवर्त्तन और परिवर्धन करके अपनी कृतिको चमत्कारकारी बनानेकी भरपूर चेष्टा की है और उसमें उन्हें पूरी सफलता भी मिली है।

पत्रालोचन

१—पुरूरवा

इस रूपकका नायक पुरूरवा है। रूपक में नायक का धीरोदात्त होना आवश्यक होता है और वह वैसा है। पुरूरवा एक बहादुर तथा लोकप्रिय राजा हैं। इनको इन्द्र भी अपना सहायक स्वीकार करते हैं। इन राजाकी सबसे विशेषता है इनकी सहृदयता। ये इतना सहृदय हैं कि किसीको अप्रसन्न करना नहीं चाहते हैं। रानी औशीनरी उनकी उर्वशीपरायणतापर इतना विगड़ उठती है कि उनके पादपतनका भी ख्याल नहीं करती है, फिर भी राजाका आदर बहुमान रानीके लिये वैसा ही है जैसा पहले था। इस बातसे इनकार नहीं किया जा सकता है कि वे उर्वशीपर आसक्त थे, परन्तु उनके हृदयमें अपनी रानीके प्रति भी सद्भाव था। उर्वशीको ही लीजिये, यदि राजा सहृदय नहीं होते तो उसके खोजानेपर दर दर मारे मारे फिरनेकी क्या आवश्यकता थी? परन्तु राजाका

प्रेम भौतिक प्रेमका आदर्श था, वे अपनी जानपर खेलकर भी प्रियाका पता लगाना चाहते थे। शाकुन्तलके दुष्यन्त और विक्रमोर्वशीयके पुरूरवामें यही अन्तर है कि दुष्यन्त राजा होकर प्रेमी थे, उनके लिये राज-कार्य प्रथम था, पुरूरवाके लिये प्रेम ही प्रथम था। इसीलिये वे वर्षों राजधानीसे अलग रह सकते थे, परन्तु दुष्यन्त शकुन्तलाको चौथे(१) रोज बुलानेके लिये खुद नहीं जा सके थे—उनका आदमी गया था। पुरूरवाके प्रेममें जो उन्मादकता है वह जगह-जगह फूट पड़ी है, जो बहुत आस्वाद्य है।

२-उर्वशी

उर्वशीमें दैवी तथा मानुषीका मिश्रण पाया जाता है। उसके रूप तथा गुण दोनों रमणीय थे। अपनी सखियोंके साथ भी उसका बड़ा सौम्य व्यवहार था। राजाने जिस समय उसका उपकार किया, उस समय वह बेहोश थी किन्तु जब होश हुआ तब पहले उसके दिमागमें यही बात आई कि 'दानवोंने उपकार हीं किया' इससे यही ज्ञात होता है कि वह इतनी बढ़ी उत्पीडनाके बाद लब्ध होने पर भी राजाके दर्शनकी स्पृहा करती है। इतनेसे ही उसकी प्रीतिका पता लग जाता है। प्रीतिका विष सातो धातुओंमें एकसाथ ही सञ्चरित हो जाता है। उर्वशीके चरित्रमें राजाके प्रति कोमल प्रेम ही विशेषता है। वह राजाके साथ प्रेम करती है, उसे अपमान-मानका कोई ख्याल नहीं है। वह प्रथम सङ्गममें ही अभिसारिका बनकर आजाती है। राजाके समीप आजानेपर उसकी दशा ऐसी हो जाती है कि वह तिरस्करिणी संहार करना भी भूल जाती है। उसके हृदयकी स्वच्छताका पता तब चलता है जब वह औशीनरीको इन्द्राणी से तुलित स्वीकार करती है। उसको यह विश्वास है कि राजा औशीनरीको प्यार करते हैं, फिर भी उसने राजासे प्रेम किया और उस बात की गन्ध भी अपने आचरणमें नहीं आने दी। राजापर उर्वशीका प्रेम इस बातसे और दृढ़ हो जाता है कि वह राजाके वियोगके भय से ही अपने सद्योजात बालकको दूर रख आती है। वास्तवमें यह बड़ा भारी त्याग है। मातृजाति होकर सन्तानको अलग रखकर पति-प्रेम निभाना एक कठिन प्रश्न है, परन्तु उसने उसमें अपनेको सिद्ध प्रमाणित किया। यद्यपि यह साधारण स्त्री मानी जाती है परन्तु उसका आचरण एक कुलबधूके समान ही है।

३-औशीनरी

रानीका चित्रण यद्यपि इसमें उतना स्पष्ट नहीं हो सकता है फिर भी विक्रमोर्वशीयकी औशीनरी एक अप्रहृष्ट वनिता ही बनी रही है। उसे इसका दुःख सदा बना ही रहा कि

---

(१) शकुन्तलानाटककी सुविस्तृत हिन्दी समालोचना और नोट्स प्रोफेसर कान्तानाथ शास्त्री तेलंग एम. ए. सम्पादित शाकुन्तलमें पढ़िये। ऐसी समालोचना हिन्दी जगतमें प्रथम वार प्रकाशित हुई है। शकुन्तला-परिणयका मुहूर्त भी उसमें लिख दिया गया है।

(प्रकाशक)

हमारे स्वामी किसी और रमणीको चाहते हैं। इस बातको उसका व्रत करना तथा शपथ लेना ही प्रमाणित करता है। वह अपनी मानसिक स्थिति सुधार नहीं सकती थी, इसीलिये एकदम अलग रहती है। इधर क्या हो रहा है इसकी चिन्ता नही रखती है। कहीं भी उसके चरित्रमें कोई लांछन नहीं लग सका है।

४-कञ्चुकी

कञ्चुकीका चित्रण बड़ा ही स्वाभाविक हुआ है। उसे वृद्धावस्थाकी स्त्रीजन-सेवा बहुत खटकती है, जो नितान्त स्वाभाविक है। उसका जीवन सचमुच कारावासके समान है इस बातको उसने बड़ी उत्तम शैलीमें व्यक्त किया है—**'सर्वः कल्ये वयसि यतते लब्धुमर्थान्'.....' (पृ० ९६)**। यह उक्ति उसकी बहुत स्वाभाविक मालूम पड़ती है।

५-निपुणिका

निपुणिका एक चतुर दासी है, वह सदा अपनी स्वामिनीके हित-अहितका ख्याल रखा करती तथा दूसरोंके द्वारा किये गये स्वत्त्वापहरणका नीरीक्षण किया करती है। उसकी प्रशंसा इसमें है कि वह अवसर नहीं चूकती।

६-विदूषक

विदूषकका कार्य इस रूपकमें वस्तुतः केवल विनोदके सिवा कुछ उल्लेख योग्य नहीं हुआ है। वह या तो खानेकी चिन्ता या वेवकूफी किया करता रहा है। कभी रहस्य भेद, तो कभी भूर्जपत्र ही खो दिया। इतना होनेपर भी उसके द्वारा किये गये बिनोद अच्छे वने हैं। वह स्थिर स्वार्थी है, एक ओर राजाका हित्तू बना है और दूसरी ओर रानीसे भी अपना प्राप्य भाग वसूल करनेमें नहीं हिचकता। वह विनोदका तो खूब ही अभ्यासी है।

कथासार

प्रथम अङ्क

पुरातन कालमें पुरूरवा नामके एक चन्द्रवंशी राजा थे। गङ्गा-यमुना-सङ्गमके समीप प्रतिष्ठान नामक नगर उनकी राजधानी थी। वे राजा एक दिन सूर्योपासना करके लौट रहे थे कि एक आर्त्तनाद उनके कानोंमें पड़ा। उधर आखें फेरी तो उन्होंने सुना कि कुछ अप्सरायें चिल्ला रहीं हैं—'हमारी रक्षा करो! हमारी रक्षा करो!! स्वर्गकी शोभास्वरूप हमारी सखी उर्वशीको केशी नामक दैत्य वन्दी करके लिये जा रहा है?' सुनते ही राजाने उन्हें आश्वासन दिया, और कहा—'हम आपकी सखीको लौटा लाने जाते हैं, आप हेमकूटपर हमारी प्रतीक्षा करें'। इतना कहकर राजाने केशीका पीछा किया और जबतक उर्वशीकी सङ्गिनी अप्सरायें हेमकूटपर पहुँचो, तवतक वे भी उर्वशीको दैत्यके हाथसे छुड़ाकर वहाँ आगये। रथस्थ उर्वशीको, जो आतङ्कसे वेहोश हो गई थी, उसकी सखी चित्रलेखाने जब आश्वासित किया तव उसकी मूर्च्छा दुर हुई। उर्वशीके होशमें आनेपर उसकी अप्राकृतिक सुन्दरता देखकर राजाका हृदय मोहित होगया। उर्वशी भी राजा पर आसक्त हो गई। हेमकूट पर राजाका रथ उतर रहा था, रथके चक्के निम्नोन्नत भूमिपर चलनेसे रथको हिला रहे थे जिससे राजाका कन्धा उर्वशीके कन्धेसे टकरा गया, इस स्पर्शने उनके प्रेमके लिये अग्निमें आहुतिका कार्य किया (दोनोंके शरीरमें वासनाकी बिजली दौड़ गई)। हेमकूट पर पहुँचकर उर्वशी अपनी सखियोंके गले लगी। सवने मिलकर राजाको धन्यवाद दिया। इसी वीच प्रभाव वश सव वृत्तान्त जानकर दैत्यके हाथोंसे उर्वशीकी रक्षाके लिए इन्द्रने जिस गन्धर्वराज चित्ररथको भेजा था, वह वहाँ आया और पुरूरवासे कहा-महाराज, आपने इन्द्रका भारी कार्य कर दिया है, आप उर्वशीको साथ लेकर इन्द्रसे मिल लें। इस अनुरोधको राजाने यह कहकर टाल दिया कि—भाई, अभी इन्द्रसे मिलनेका समय नही हैं। अनन्तर सभी अपने अपने गन्तव्य स्थानको गये। उर्वशी राजापर आसक्त हो गई थी, इसलिये वह जाती तो थी परन्तु उसकी आंखें राजापर अटक रही थीं, वह झाड़ीसे मालाके उलझ जानेका वहाना वनाकर गमनको विलम्बित कर (टेढ़ी कटाक्षोंसे) राजाको देख रही थी। किसी तरह हृदय खोकर सखियोंके साथ वह स्वर्ग गई। उसके चले जानेपर राजा भी हृदय गंवाकर अपनी नगरी लौटे।

द्वितीय अङ्क

राजधानीमें आने पर भी राजाके दिन उर्वशीके ध्यानमें ही बीतते थे। अपनी उत्कण्ठा को शान्त करनेके लिये वह एक दिन प्रमदवनमें गये, वहाँ जानेसे उनकी हालत और बिगड़ गई, वसन्तकी शोभाने उनके कामको और भड़काया। वहाँ अतिमुक्त लतामण्डपमें बैठकर वह विदूषकसे उपाय सोचनेको कहने लगे। उन्होंने अपने प्रति निरनुक्रोश

व्यवहारका अपराध उर्वशीके मत्थे मढ़ा। उस समय तक उर्वशी भी अपनेको नहीं रोक सकी, वह चित्रलेखाको साथ लेकर राजाके पास चली। दोनों तिरस्करिणीमें छिपकर राजा की विश्रम्भवार्त्ता सुन रही थीं। अपने प्रति किये गये निष्ठुरत्वारोपको वह नहीं सह सकी। भूर्जपत्र पर उनके आरोपके उत्तरमें उर्वशीने निवेदन किया कि मेरी भी वही स्थिति है जो आपकी है—यह बात नहीं है कि मैं आपको दुःखमें रखकर स्वयं मजेमें रहती हूँ। इस प्रेमपत्रको प्राप्तकर राजाको बड़ी खुशी हुई। इसके बाद वह तिरस्करिणी हटाकर राजाके पास आई। राजाने उसे अपने आसन पर बैठाया। इसी समय आकाशसे किसी देव दूतने कहा—'उर्वशी, भरतने जो अभिनय तुम लोगोंको सिखाया है; जिसमें आठों रसोंका समावेश है, उसे आज लोकपालोंके साथ देवराज देखना चाहते हैं इसलिये तुम्हें शीघ्रता करनी है।'

सुनते ही उर्वशी चली गई। उसे भी राजासे बिछुड़नेका खेद हुआ लेकिन लाचारी थी। उसके चले जानेपर उसके द्वारा लिखित भूर्जपत्रसे राजाने दिल बहलाना चाहा, किन्तु वह भूर्जपत्र विदूषककी असावधानीसे उड़ गया था। राजा उसकी खोजमें बेचैन थे। इसी बीच राजाको ढूंढ़ती हुई रानी औशीनरी वहाँ आ पहुँची। संयोगवश उसे रास्तेमें उड़ता हुआ वह भूर्जपत्र मिल चुका था। उसने आते ही राजासे कहा—'आर्यपुत्र, परेशान मत होइये, यही तो है वह भूर्जपत्र ?' ऐसा कहकर उसने वह भूर्जपत्र राजाको थम्हा दिया। इस प्रसङ्गसे राजा सहम उठे, उनके मनमें यह खटका पैदा होगया कि इसने सब बातें जान लीं। अतः उसे खुश करनेके लिये राजाने उसके पैरोंपर गिरकर मनाना चाहा। रानीका क्रोध राजाके द्वारा किये गये पादपतनसे भी नहीं गया, वह क्रोध लिये ही अपने परिजनके साथ वहाँसे चली गई। राजाका भी मन छोटा हो गया।

तृतीय अङ्क

औशीनरी राजाके पादपतनका तिरस्कार करके चली तो आई, परन्तु उसे पश्चात्ताप होने लगा। उसने चन्द्रमा तथा विशाखाको साक्षी बनाकर प्रियानुप्रसादन नामक व्रत किया; जिसमें सङ्कल्प किया कि आज दिनसे आर्यपुत्र जिस स्त्रीपर आकृष्ट हों या जो स्त्री आर्यपुत्र पर आकृष्ट हो उसके साथ मेरा व्यवहार प्रीतिपूर्ण होगा। इस तरह उसने राजा की प्रसन्नताके लिये प्रयत्न तो किया लेकिन राजाके अनुरोध करने पर भी वह उनके पास ठहरी नहीं—चली ही जाती रही। इसी समय अभिसारिकाके वेषमें उर्वशी वहाँ आई। उसने चित्रलेखाके साथ रानीकी सभी बातें सुनीं; जिससे उन्हें बहुत आनन्द हुआ। रानीके जानेपर उर्वशीने राजाके सामने जाकर जय-जयकार की। चित्रलेखाने राजासे कहा—'महाराज, हमारी सखीको आप इसतरह रक्खें जिससे इसे स्वर्गकी याद न आवे'। इसप्रकार कहकर चित्रलेखा चली गई। राजा उर्वशीको प्राप्तकर प्रदोषकालिक चन्द्रमाकी किरणोंका उपभोग करके अन्तःपुर चले गये। इसके बाद उनके दिन सुखोपभोगमें बीतने लगे।

चतुर्थ अङ्क

एक समय उर्वशी क्रीड़ाबन्धु राजाको साथकर गन्धमादन पर्वतपर विहार करने गई। वहाँ नाना प्रकार की क्रीड़ाओं में उन दोनोंके दिन बीतने लगे। वहाँ गङ्गाके तीर पर बालुका राशिसे एक गन्धर्व-बाला क्रीड़ाकर रही थी। राजा उसे एकटक देखने लगे। इतने से ही उर्वशीको स्वामीपर क्रोध हो आया। भवितव्यता विषम होती है। राजाके उसी अपराधको उर्वशीने अपना अपमान समझा, तथा उनके द्वारा किये गये पादपतनकी भी उपेक्षा करके वह उस वनमें प्रवेश कर गई जो स्त्रियोंके लिये अगन्तव्य था। उस वनमें स्त्रियाँ इसलिये नहीं जाती थीं कि उसमें कुमार रहते थे; जिन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर नियम कर दिया था कि जो स्त्री इस कुमारवनमें आजायगी वह लता हो जायगी और तब तक उसका उद्धार नहीं होगा जबतक गौरीचरणरागमणिसे स्पर्श नहीं होगा। उस वनमें उर्वशीने ज्योंही प्रवेश किया कि वह लता वन गई। राजाके लिये वह खोगई। इस प्रकार प्रेयसीके अकस्मात् लुप्त हो जानेसे राजा नितान्त व्यग्र हो उठे। बरसातके आजाने से वह एकदम पागल हो गये। वह उसी वनमें प्रियाकी खोज करने लगे। जो मिलता था उसीसे अपनी प्रियाकी खबर पूछते तथा अण्ट-सण्ट उत्तरकी कल्पना करते-फिरते थे। इसी पागलपनमें उनके दिन बीतने लगे। एकदिन वह घूमते थे कि उन्होंने एक रत्न देखा, उनकी इच्छा नहीं हुई कि हम रत्न लें, क्योंकि वह उनके लिये व्यर्थ था। उनकी प्रियतमा होती तो वह उसे लेकर उसके बालोंपर पहनाते। वह तो थी नहीं। यही सोचकर वह आगे बढ़े जा रहे थे कि किसी साधुने कहा—'यह रत्न सङ्गमनीय है, इसके प्रभावसे प्रियमिलन होता है आप यह ले लें'। रत्नको लेकर राजा आगे बढ़े। उन्होंने एक लता देखी, उसे देखकर राजाको उस लतासे लिपट जाने की प्रबल इच्छा हुई, राजा उससे लिपट गये और लिपटते ही लता उर्वशी हो गई। राजाकी खुशीका ठिकाना नहीं रहा, (लपककर राजा उर्वशीके गलेसे चिपक गये) बादमें उर्वशीकी इच्छानुसार राजा अपनी राजधानी प्रतिष्ठान नगरमें प्रेयसीको साथ ले वापस आये।

पञ्चम अङ्क

राजधानी लौट आनेपर प्रकृतिने राजाकी बड़ी अभ्यर्थना की। कुछ दिनोंके बाद किसी पुण्यपर्वपर सपरिवार राजा सङ्गम-स्नानकरने गये। संयोगवश उस सङ्गमनीय मणिको, जिसे राजा बहुत चाहते थे क्योंकि उसके ही मिलनेसे उर्वशीको पासके थे, कोई दासी तालवृन्तपर रखकर इधरसे उधर लिये जा रही थी, दूरसे किसी गृध्रने देखा, उसे उस मणिमें मांसखण्डका भ्रम हुआ अतः उसने उसे झपट लिया। यह खबर राजाको मिली, राजा शरासन बाण लेकर जब तक तैयार हुए तब तक वह गृध्र दृष्टि तथा बाणकी गतिसे परे हो गया। राजाने नगरवासियोंसे कहवा दिया कि पक्षियोंके निवासवृक्षों पर उसकी तलाश

की जाय। इसी समय दरवारमें आकर वरूचुकीने निवेदन किया कि 'किसीने नामाङ्कित अपने बाणसे आहत करके गृध्रको मणिके साथ गिरा दिया था, वह मणि तथा बाण यही है। बाणमें अङ्कित अक्षर पढ़े गये, उस पर अङ्कित था—'यह बाण पुरूरवा और उर्वशीके पुत्र कुमार आयुका है'। सभीको आश्चर्यमिश्रित आनन्दकी प्राप्ति हुई। इसी बीच कुमारको लेकर च्यवनाश्रमसे एक तापसी राजाके पास आई। उसने आकर कुमारके बारेमें राजासे सभी बातें कहीं। पुत्रको उपलब्धिसे राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई। तापसीसे मिलने उर्वशी भी दरवारमें आई। तापसीने उर्वशीसे कहा—'यह तुम्हारी निधि (पुत्र) मैंने तुम्हें सौंप दिया मुझे जानेकी आज्ञा दो, मेरे आश्रमधर्ममें बाधा होगी।' यह कहकर तापसी चली गई। इसके बाद उर्वशी कुछ याद करके रोने लगी। राजाने उसे बहुत कहा कि 'यह हम लोगोंके लिये पुत्रप्राप्तिका अवसर है, इस खुशीके अवसर पर तुम रोने क्यों लगी?'

उर्वशीने किसी तरह अपनेको संभालकर राजासे कहा—'महाराज, मैं अवतक पुत्रके देखने से भूली हुई थी, मुझे स्मरण हुआ है—मेरे अभिनयमें गड़बड़ी देखकर भरतने मुझे शाप दिया था कि तुम स्वर्गमें मत रहो। इन्द्रने कृपाकी, उन्होंने मेरी प्रीति आप पर देख ली थी, इसलिये उन्होंने कहा कि 'तब तक तुम हमारे प्रिय मित्र राजा पुरूरवाके साथ पृथ्वी पर रहो जब तक तुम्हारेद्वारा उत्पादित पुत्रका मुख राजा देख न लें। पश्चात् तुमको स्वर्ग आजाना होगा। वियोगभयसे मैंने पुत्रको छिपा दिया। अब आपके साथ मेरे रहनेका अवसान हुआ। राजाको इससे बड़ी मनोव्यथा हुई, उन्होंने कहा—'ठीक है तुम स्वर्गजाओ, मैं भी तुम्हारे पुत्र आयुको राजा बनाकर वन जाऊंगा' इसी समय अकस्मात् नारद वहाँ आगये। सत्कारके बाद उन्होंने राजासे इन्द्रका संवाद कहा—'आप शस्त्र त्याग नहीं करें मुनियोंने कहा है कि निकट भविष्यमें देवदानव युद्ध होनेवाला है, आप हमारे युद्धमें सहायक हैं, आपका उसमें रहना आवश्यक है। यह उर्वशी भी आजीवन आपकी सहधर्मचारिणी होकर रहेगी।' इस संवादने सभीको आनन्दितकर दिया। नारदने कुमार आयुका अभिषेक स्वयं किया। सब आनन्दमग्न हो गये। राजाको जीवनभरके लिये उर्वशीकी ऐसी सुन्दरी स्त्री तथा पुत्र, उर्वशीको सुरूप स्वामी पुत्र, आयुको मातापिताका प्यार इस तरह सभी अपने २ मनोरथलाभसे परम प्रसन्न होकर दिन बिताने लगे।

कथाक आधार

ऋग्वेदे (१० मण्डले, ९५ सूक्ते)

पुरूरवाः—हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु ।
न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन् परतरे चनाहन् ॥
उर्वशी—किमेता वाचा कृणवा नवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव ।
पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि ॥
पुरूरवाः—इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः ।
अवीरे कृतौ वि दविद्युतन्नोरा न मायुं चितयन्त धुनयः ॥
उर्वशी—'सा वसु दधती श्वशुराय वय उषो यदि वष्टयन्तिगृहात् ।
अस्तं ननक्षे यमिद्धाकं दिवा नक्तं शनथिता वैतसेन' ॥ इत्यादिः ।

अत्र सायणाचार्यः—

ऐलोर्वशीतिहासोऽत्र वैशद्यार्थं प्रवर्ण्यते ।
मित्रश्च वरुणश्चोभौ दीक्षितौ प्रेक्ष्य चोर्वशीम् ॥
रेतः सिषिचतुः सद्यस्तत्कुम्भे न्यदधुस्तदा ।
तां शप्तवन्तो मनुजभोग्या भूमौ भवेति तौ ॥
अत्रान्तर इलो राजा मनोः पुत्रश्च संयुतः ।
मृगयां सञ्चरन् साश्वो देवीक्रीडं विवेश ह ॥
यत्र देवं गिरिसुता सर्वैर्भावैरतोषयत् ।
अत्राविशन् पुमान् स्त्री स्यादित्युक्त्वा तत्र चाविशत् ॥
स्त्री भूत्वा व्रीडितः सोऽगाच्चरणं शिवमञ्जसा ।
इयं प्रसाद्यतां राजान्नित्युक्तः शम्भुना नृपः ।
जगाम शरणो देवीमात्मनः पुंस्त्वसिद्धये ॥
अकरोत्सा नृपं देवी षण्मासात्प्राप्तपुंस्त्वकम् ॥
ततः कदाचित् स्त्रीकाले बुधः सौन्दर्यमोहितः ।
अप्सरोभ्यो विशिष्टां तामिलां सङ्गतवान्मुदा ॥
तदेलायां सोमपुत्राज्जातो राजा पुरूरवाः । तमुर्वशी तु चकमे प्रतिष्ठानपुरे स्थितम् ॥
तत्पादन्यत्र नग्नं त्वां दृष्ट्वा यामियथागतम् ।
सुतावुरणकौ त्वं च समीपे कुरु मे द्रुतम् ॥
इति सा समयं कृत्वा रमयामास तं नृपम् । चतुरब्दे गते रात्रौ देवैरुरणकद्वयम् ॥
हृतं तस्य ध्वनिं श्रुत्वा नग्न एव स भूपतिः ।
उत्थाय जित्वा तावागच्छेत्येवं जल्पको नृपः ॥

विद्युता दर्शितोऽस्यै स नग्न एव पुरूरवाः। अथ सा दृष्टसमया उर्वशी तु दिवं ययौ ॥
तत उन्मत्तवद्राजा दिदृक्षुस्तामितस्ततः। कुर्वन्नन्वेषणं तीरे सरसो मानसस्य ताम् ॥
विहरन्तीमप्सरोभिः सहापश्यत्पुरूरवाः। पुनः स चक्रमे भोक्तुमुर्वशीं च पुरूरवाः ॥
साश्रुं सापश्यदुक्त्वा च प्रत्याचष्ट व्रजेति तम्।
इत्युर्वश्यैल संवादमिममेषोऽप्यसूचयत् ॥

मत्स्यपुराणे (अ० २५)

'इलोदरं च धर्मिष्ठं बुधः पुत्रमजीजनत्। अश्वमेधशतं साग्रमकरोद्यः स्वतेजसा ॥
पुरूरवा इति ख्यातः सर्वलोकनमस्कृतः। अहन्यहनि देवेन्द्रं द्रष्टुं याति स राजराट् ॥
कदाचिदारुह्य रथं दक्षिणाम्बरचारिणाम्।
सार्धमर्केण सोऽपश्यन्नीयमानामथाम्बरे।
केशिना दानवेन्द्रेण नीयमानामथोर्वशीम् ॥
तं विनिर्जित्य समरे विविधायुधपाणिना।
बुधपुत्रेण वायव्यमस्त्रं मुक्त्वा यशोऽर्थिना ॥
तथा शक्रोऽपि समरे येन चैव विनिर्जितः। मित्रत्वमगमद्देवैर्ददाविन्द्राय योर्वशीम् ॥
ततः प्रभृति मित्रत्वमगमत्पाकशासनः।
लक्ष्मीस्वयंवरं नाम भरतेन प्रवर्त्तितम् ॥
मेनकामुर्वशीं रम्भां नृत्यतेति तदादिशत् ॥
ननर्त्त सलयं तत्र लक्ष्मीरूपेण चोर्वशी। सा पुरूरवसं दृष्ट्वा नृत्यन्ती कामपीडिता ॥
विस्मृताभिनयं सर्वं यत्पुरा भरतोदितम्। शशाप भरतः क्रोधाद्वियोगादस्य भूतले ॥
पञ्चपञ्चाशद्वर्ष्दानि लता सुचमा भविष्यसि। पुरुरवाः पिशाचत्वं तत्रैवानुभविष्यति ॥
ततस्तमुर्वशी गत्वा भर्त्तारमकरोच्चिरम्। शापान्ते भरतस्याथ उर्वशी बुधसूनुतः।
अजीजनत्सुतानष्टौ नामतस्तान्निबोधत ॥
आयुर्दृढायुरश्वायुर्धनायुर्धृतिमान्वसुः। शुचिविद्यः शतायुश्च सर्वे दिव्यबलौजसः' ॥

भागवते (स्क० ९ अ० १४)

'अथातः श्रूयतां राजन् वंशः सोमस्य पावनः।
यस्मिन्नैलादयो भूपाः कीर्त्यन्ते पुण्यकीर्त्तयः ॥
सहस्रशिरसः पुंसो नाभिह्रदसरोरुहात्। जातस्यासीत्सुतो धातुरत्रिः पितृसमो गुणैः ॥
तस्य दृग्भ्योभवत्सोमः पुत्रोमृतमयः किल। तस्यात्मयोनिरकृत बुध इत्यभिधां नृप ॥
ततः पुरूरवा जज्ञे इलायां य उदाहृतः। तस्य रूपगुणौदार्यशीलद्रविणविक्रमान् ॥
श्रुत्वोर्वशीन्द्रभुवने गीयमानान्सुरर्षिणा। तदन्तिकमुपेयाय देवी स्मरशरार्दिता ॥
मित्रावरुणयोः शापादापन्ना नरलोकताम्। निशम्य पुरुषश्रेष्ठं कन्दर्पमिव रूपिणम् ॥
धृतिं विष्टभ्य ललना ह्युपतस्थे तदन्तिके ॥

स तां विलोक्य नृपतिर्हर्षोत्फुल्ललोचनः। उवाच श्लक्ष्णया वाचा देवीं हृष्टतनूरुहः।
स्वागतं ते वरारोहे आस्यतां करवाम किम्?।
संरमस्व मया साकं रतिर्नौ शाश्वतीः समाः॥

उर्वश्युवाच

कस्यास्त्वयि न सज्जेत मनो दृष्टिश्च सुन्दर। यदङ्गान्तरमासाद्य च्यवते हि रिरंसया॥
एतावुरणकौ राजन्न्यासौ रक्षस्व मानद।
संरंस्ये भवता साकं श्लाघ्यः स्त्रीणां वरः स्मृतः॥
घृतं मे वीर भक्ष्यं स्यान्नेक्षेत्वा……। विवाससं तत्तथेति प्रतिपद्यै महामनाः॥
अहो रूपमहोभावो नरलोकविमोहनम्।
को न सेवेत मनुजो देवीं त्वां स्वयमागताम्॥
तया स पुरुषश्रेष्ठो रमयन्त्या यथार्हतः। रेमे सुरविहारेषु कामं चैत्ररथादिषु॥
रममाणस्तया देव्या पद्मकिञ्जल्कगन्धया। तन्मुखामोदमुषितो मुमुदेहर्गणान्बहून्॥
अपश्यन्नुर्वशीमिन्द्रो गन्धर्वान् समनोदयत्।
उर्वशीरहितं मह्यमास्थानं नातिशोभते॥
त उपेत्य महारात्रे तमसि प्रत्युपस्थिते। उर्वश्या उरणौ जह्रुर्न्यस्तौ राजनि जायया॥
निशम्याक्रन्दितं देवी पुत्रयोर्नीयमानयोः। हृतास्म्यहं कुनाथेन नपुंसा वीरमानिना॥
यद्बिभ्रम्भादहं नष्टा हृतापत्या च दस्युभिः।
यः शेते निशि संत्रस्तो यथा नारी दिवा पुमान्॥
इति वाक्सायकैर्विद्धः प्रतोत्रैरिव कुञ्जरः। निशि निस्त्रिंशमादाय विवस्त्रोभ्यद्रवद्रुषा॥
ते विसृज्योरणौ तत्र व्यद्योतन्त स्म विद्युतः।
आदाय मेषावायान्तं नग्नमैक्षत सा पतिम्॥
ऐलोपि शयने जायामपश्यन् विमना इव।
तच्चित्तो विह्वलः शोचन् बभ्रामोन्मत्तवन्महीम्॥
स तां वीक्ष्य कुरुक्षेत्रे सरस्वत्याश्च तत्सखीः। पञ्च प्रहृष्टवदनाः प्राह सूक्तं पुरूरवाः॥
अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ घोरे न त्यक्तुमर्हसि।
मां त्वमद्याप्यनिर्वृत्य वचांसि कृणवावहै॥
सुदेहोऽयं पतत्यत्र देवि दूरं हृतस्त्वया।
खादन्त्येनं वृका गृद्ध्रास्त्वत्प्रसादस्य नास्पदम्॥
मा मृथाः पुरुषोऽसि त्वं मा स्म त्वाद्युर्वृका इमे।
क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा॥
स्त्रियोह्यकरुणाः क्रूरा दुर्मर्षाः प्रियसाहसाः।
घ्नन्त्यल्पार्थेऽपि विश्रब्धं पतिं भ्रातरमप्युत॥

विधायालीकविश्रम्भमज्ञेषु त्यक्तसौहृदाः। नवं नवमभीप्सन्त्यः पुंश्चल्यः स्वैरवृत्तयः॥
संवत्सरान्ते हि भवानेकरात्रं मयेश्वर। वत्स्यत्यपत्यानि च ते भविष्यन्त्यपराणि भोः॥

अन्नवर्त्मीमुपालक्ष्य देवीं स प्रययौ पुरम्।
पुनस्तत्र गतोऽब्दान्ते उर्वशीं वीरमातरम्॥
उपलभ्य तया युक्तः समुवास मुदा निशाम्।
अथैनमुर्वशी प्राह कृपणं विरहातुरम्॥
गन्धर्वानुपधावेमांस्तुभ्यं दास्यन्ति मामिति॥
तस्य संस्तुवतस्तुष्टा अग्निस्थालीं ददुर्नृप।
उर्वशीं मन्यमानस्तां सोऽबुध्यत चरन्वने॥
स्थालीं न्यस्य वने गत्वा गृहानाध्यायतो निशि।
त्रेतायां सम्प्रवृत्तायां मनसि त्रय्यवर्त्तत॥
स्थालीस्थानं गतोऽश्वत्थं शमीगर्भं विलक्ष्य सः।
तेन द्वे अरणी कृत्वा उर्वशीलोककाम्यया॥
उर्वशीं मन्त्रतोध्यायन्नधरारणिमुत्तरम्। आत्मानमुभयोर्मध्ये यत्तत्प्रजननं प्रभुः॥
तस्य निर्मन्थनाज्जातो जातवेदा विभावसुः।
त्रय्या स विद्यया राज्ञा पुत्रत्वे कल्पितस्त्रिवृत्॥
तेनायजत यज्ञेशं भगवन्तमधोक्षजम्। उर्वशीलोकमन्विच्छन् सर्वदेवमयं हरिम्॥
एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः। देवो नारायणो नान्य एकोग्निर्वर्ण एव च॥
पुरूरवस एवासीत्त्रयी त्रेतामुखे नृप। अग्निना प्रजया राजा लोकं गन्धर्वमेयिवान्॥

(इयमेवानतिपरिवर्त्तिता कथा विष्णुपुराणेऽपि अं० ४, अं० ६)

कथासरित्सागरे (ल० ३, त० ३)

आसीत् पुरूरवा नाम राजा परमवैष्णवः।
अभूद्भुवीव नाकेऽपि यस्याप्रतिहता गतिः॥
भ्रमन्तं नन्दने जातु तं ददर्श किलाप्सराः।
उर्वशी नाम कामस्य मोहनास्त्रमिवापरम्॥
दृष्टमात्रेण तेनाभूत्सा तथा हृतचेतना।
यथा समयरम्भादिसखीचेतांस्यकम्पयत्॥
सोऽपि तां वीक्ष्य लावण्यरसनिर्झरिणीं नृपः।
यत्र प्राप परिष्वङ्गं तृषाक्रान्तो मुमूर्च्छ तत्॥
अथादिदेश सर्वज्ञो हरिः क्षीराम्बुधिस्थितः।
नारदाख्यं मुनिवरं दर्शनार्थमुपागतम्॥
देवर्षे नन्दनोद्यानवर्त्ती राजा पुरूरवाः। उर्वशीहृतचित्तः सन् स्थितो विरहनिःसहः॥

तद्गत्वा मम वाक्येन बोधयित्वा शतक्रतुम् ।
दा ाय त्वरितं तस्मै राज्ञे तामुर्वशीं मुने ॥
इत्यादिष्टः स हरिणा तथेत्यागत्य नारदः । प्रबोध्य तं तथाभूतं पुरूरवसमब्रवीत् ॥
उत्तिष्ठ त्वरितं राजन् प्रहितोस्मीह विष्णुना ।
स हि निर्व्याजभक्तानां नैवापदमुपेक्षते ॥
इत्युक्त्वाश्वासिते नाथ स पुरूरवसा सह । जगाम देवराजस्य निकन्नारदो मुनिः ॥
हरेर्निदेशमिन्द्राय निवेद्य प्रणतात्मने । उर्वशीं दापयामास स पुरूरवसे ततः ॥
तदभूदुर्वशीदानं निर्जीवकरणं दिवः । उर्वश्यास्तु तदेवासीन्मृतसंजीवनौषधम् ॥
अथाजगाम भूलोकं तामादाय पुरूरवाः । स्वर्वधूदर्शनाश्चर्यमर्पयन्मर्त्यचक्षुषाम् ॥
ततोनपायिनौ तौ द्वावुर्वशी च नृपश्च सः । अन्योन्यदृष्टिपातेन निबद्धाविव तस्थतुः ॥
एकदा दानवैः साकं प्राप्तयुद्धेन वज्रिणा । सहाय्यकार्थमाहूतो ययौ नाकं पुरूरवाः ॥
तत्र तस्मिन्हृते मायाधरनाम्न्यसुराधिपे । प्रवृत्तस्वर्वधूसार्थः शक्रस्याभवदुत्सवः ॥
ततश्च रम्भां नृत्यन्तीमाचार्ये तुम्बुरौ स्थिते ।
चलिताभिनयां दृष्ट्वा जहास स पुरूरवाः ॥
जाने दिव्यमिदं नृत्यं किं त्वं जानासि मानुष ।
इति रम्भाऽपि तत्कालं सासूयं तमभाषत ॥
जानेऽहमुर्वशीसङ्गात्तद्यद्वेत्ति न तुम्बुरुः । युष्मद्गुरुरपीत्येनामुवाचाथ पुरूरवाः ॥
तच्छ्रुत्वा तुम्बुरुः कोपात्तस्मै शापमथादिशत् ।
उर्वश्या ते वियोगः स्यादाकृष्णाराधनादिति ॥
श्रुतशापश्च गत्वैव तमुर्वश्यै पुरूरवाः ।
अकालाशनिपातोग्रं स्ववृत्तान्तं न्यवेदयत् ॥
ततोऽकस्मान्निपत्यैव निन्ये क्वाप्यपहृत्य सा ।
अदृष्टैस्तेन भूपेन गन्धर्वैरुर्वशी किल ॥
अवेत्य शापदोषं तं सोऽथ गत्वा पुरूरवाः । हरेराराधनं चक्रे ततो बदरिकाश्रमे ।
उर्वशी तु वियोगार्त्ता गन्धर्वविषयस्थिता । आसीन्मृतेव सुप्तेव लिखितेव विचेतना ॥
आश्चर्यं यन्न सा प्राणैः शापान्ताशावलम्बिनी ।
मुक्ता विरहदीर्घासु चकवाकीव रात्रिषु ॥
पुरूरवाश्च तपसा तेनाच्युतमतोषयत् । तत्प्रसादेन गन्धर्वा मुमुचुस्तस्य चोर्वशीम् ॥
शापान्तलब्धया युक्तः पुनरप्सरसा तया ।
दिव्यान्स राजा बुभुजे भोगान् भूतलवर्त्यपि ॥

—००—

पात्र-परिचय

पुरुष-पात्र

१-पुरूरवा—	प्रतिष्ठानपुराधिपति, नाटक-नायक
२-सूत्रधार—	नाटकाभिनयप्रबन्धक
३-पारिपार्श्वक—	सूत्रधारका सहायक
४-माणवक—	विदूषक, राजाका मित्र
५-आयु—	पुरूरवाका पुत्र
६-नारद—	लोकप्रसिद्ध योगी
७-चित्ररथ—	गन्धर्वराज
८-कञ्चुकी—	अन्तःपुरचारी वृद्ध ब्राह्मण
९-पल्लव—	भरतमुनिका शिष्य
१०-गालव—	,, ,,

स्त्री-पात्र

१-उर्वशी—	स्वर्गकी अप्सरा, नाटक-नायिका
२-चित्रलेखा—	उर्वशीकी सखी (अप्सरा)
३-सहजन्या—	अप्सरा
४-रम्भा—	,,
५-मेनका—	,,
४-देवी—	राजाकी प्रथम पत्नी (औशीनरी)
५-निपुणिका—	देवीकी परिचारिका
६-तापसी—	तपस्विनी
७-परिजन—	परिचारिका जन
८-यवनी—	राजाकी सहायिका स्त्री

विक्रमोर्वशीयम्

'प्रकाश' नामकसंस्कृत-हिन्दीटीकोपेतम्

प्रथमोऽङ्कः

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः ।

अगजाननिहितदृशो गजाननोद्धूतकपिशकेशस्य ।
मदनप्लुषो निमेषोदयरहितः कोऽपि विभ्रमो जयति ॥ १ ॥
श्रद्धानतेन शिरसा पितरं 'मधुसूदनम्' ।
प्रसूं 'जयमणि'ञ्चाहं ध्यायामि हृदि सन्ततम् ॥ २ ॥
श्रीकालिदासकविताभावानवबोधबद्धवैमुख्यान् ।
मन्ये कतिचन बालान् प्रोत्साहयिता 'प्रकाशो'ऽयम् ॥ ३ ॥
सन्तो गुणेन तुष्यन्ति स नैकान्तेन दुर्लभः ।
दोषाविलेऽपि तेनात्र दृक्पातः क्रियतां बुधैः ॥ ४ ॥

रूपकरचनाप्रधानाचार्यभावेन प्रथितयशाः कालिदासमहाकविरतिसरसं विक्रमोर्वशीयं नाम त्रोटकं निर्मित्सुः प्रारम्भे तस्य चिकीर्षितग्रन्थसमाप्ति-तत्सानन्दाभिनयसम्पत्ति-विद्वत्समुदयप्रतिपत्ति-प्रतिबन्धिदुरितक्षयसाधनं मङ्गलमाचरन् सामाजिकजनानामप्यानुषङ्गिकमङ्गलसिद्धयेऽत्र निबध्नाति—वेदान्तेष्विति । वेदान्तेषु उपनिषत्सु यम् रोदसी द्यावापृथिव्यौ व्याप्य आवृत्य स्थितम् वर्त्तमानम् एकपुरुषम् अद्वितीयम् पुरुषम् आहुः कथयन्ति । वेदानामन्ताः अवसानभागाः उप-

---

वेदान्तोंने जिन्हें व्यापकरूपमें सर्वत्र वर्त्तमान अद्वितीय पुरुष कहा है एकमात्र जिनके लिये ईश्वर शब्द अपने अर्थकी वास्तविकतामें व्यवहृत होता है, योगिजन

अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥१॥

निपदः, तासां ब्रह्माधिगमसाधनत्वमतिप्रसिद्धमतस्ता वेदान्तपदेनाभिलप्यन्ते, तथाचाहुः—'वेदान्ताः परमात्मबोधगुरवो यूयं मयोपासिताः' इति। 'रोदसी' इति सान्तस्य पृथिव्याकाशोभयवाचकस्य 'रोदस्' शब्दस्य द्वितीयाद्विवचने रूपम्, 'द्यावापृथिव्यौ रोदस्यौ द्यावाभूमी च रोदसी' इति कोषः। शिवस्य व्यापकत्वे श्रुतिः प्रमाणम्' 'स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' इति, 'सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः। सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात्सर्वगतः शिवः' इति च। एकपुरुषम् अद्वितीयम् पुरुषम् आहुः श्रुत्यन्तवेदिन इति शेषः। सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यताऽद्वितीयता शास्त्रेषूच्यते। तथाहि—'स एको य एकः स रुद्रो यो रुद्रः स ईशानो य ईशानः स भगवान्महेश्वरः' इति अथर्वशिर उपनिषत्। पुरि शेते पुरुषः, पृषोदरादित्वात्साधुः। यस्मिन् (स्थाणौ) ईश्वरः इति शब्दः अनन्यविषयः तन्मात्रवाचकः, यथार्थाक्षरः वस्तुतस्तङ्गतैश्वर्यप्रवृत्तिनिमित्तकत्वाद्योगार्थभासकतयाऽस्युपयुक्तः। यस्मिन्स्थाणौ परावाचकभावेन प्रयुज्यमान ईश्वरो यौगिक इवातिशयेन सङ्गतार्थ इति भावः। लीलयैव ब्रह्माण्डकोटीः सृजतः पालयतः संहरतश्च तस्य सर्वशक्तिमत्तयेश्वरपदवाच्यत्वम्, ईष्टे इतीश्वरः, 'स्थेशभासपिसकसो वरच्' इति वरच्प्रत्ययः। तथाचोपनिषदः—'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः' 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमञ्च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदेमदेवं भुवनेशमीड्यम्' 'ईशानः सर्वभूतानाम्'। यः च (स्थाणुः) नियमितप्राणादिभिः निरुद्धप्राणापानसमानोदानव्यानवायुभिः समाधिलीनैरित्यर्थः, मुमुक्षुभिः मोक्षमिच्छद्भिः संयमिभिः अन्तः हृदये मृग्यते अन्विष्यते। 'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे। प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः' इति गीतोक्त्यनुसारेण समाधिमवलम्बमानायमीश्वरम् 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' 'हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्यमध्ये विशदं विशोकम्। अचिन्त्यमव्यक्तमनेकरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्' इत्युक्तदिशा ध्यायन्तीत्यर्थः। स्थिरभक्तियोगसुलभः—स्थिरा अव्यभिचारिणी विषयलोभादिना अनुच्छेद्या या भक्तिः योगः चित्तसंयमश्च ताभ्याम् साधनाभ्याम् सुलभः स्थाणुः शिवः वः सामाजिकानाम् निःश्रेयसाय कल्याणाय मोक्षाया अस्तु जायताम्। 'तैलधारावदविच्छिन्नस्मृति-

जिन्हें समाधि लगाकर अपने अन्तःकरणमें ध्यानगोचर करते हैं, और योगके द्वारा जो गम्य हैं, वे स्थाणु शिव आप लोगोंको निःश्रेयस प्रदान करें ॥ १ ॥

(नान्द्यन्ते)

सन्तानरूपा भक्तिः' इति केचित् आराध्यत्वेन ज्ञानं भक्तिरित्येके । 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपामृतरूपा चेति परे । 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' इति योगसूत्रम् । 'मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणश्रेयो निःश्रेयसामृतम्' इत्यमरः । वेदान्तायं शिवं द्यावापृथिव्यौ व्याप्यावस्थितमेकं पुरुषमाहुर्यस्मिंश्चेश्वरशब्दस्याक्षरार्थसङ्गतिर्यश्चान्तश्चरमरुन्निरोधेन निष्कम्पनिदिध्यासनवर्त्मना हृदये ध्यायते स स्थाणुवदवस्थितः कूटस्थो भगवान् सामाजिकानामज्ञानमपसार्य मुक्तिं दिशत्विति भावः । अत्र प्रार्थितो मोक्षश्च शैवागमसम्मत एव स्वरसतः प्रतिभाति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्-'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणम् । भूमिदेवताकस्य मगणस्यादौ प्रयोगः शुभागमसूचकः । वकारस्यामृतबीजत्वात्प्रचयाशंसा च । अस्य श्लोकस्य नान्दीपाठरूपतया काव्यार्थसूचनमध्यनेन कर्त्तव्यमिति तदिह प्रदर्श्यते-वेदेषु पुरुरवस उर्वश्याश्च चर्चास्तीति तस्य वेदान्तगोचरतैकपुरुषता च पराक्रमातिशयेन । रोदसी व्याप्येत्यत्र निजकीर्त्येति अध्याहृत्यसङ्गतिः । ईश्वरपदस्य यथार्थाक्षरत्वमपि प्रभावमहिम्नैव । योऽन्तरन्तःकरणे मृग्यते नैतादृशः कश्चिदन्य इति मनसि सङ्कीर्त्यते । स्थिरत्वात्स्थाणुः । 'स्थिरभक्तियोगसुलभः' स्थिराभक्तिरर्थाद्राजनि निष्ठा यस्यास्तयोर्वश्या योगेन सङ्गमनीयमणिसंबन्धेन सुलभः । एवं कथांशनिर्देश ऊहितुं शक्यः ॥ १ ॥

अथ प्रस्तावनां निबन्धुमिच्छुस्तदङ्गयोः प्ररोचनामुखयोः प्ररोचनां प्रस्तौति—नान्द्यन्त इति । नन्दयति आनन्दयति स्तवेन देवादीन् आशीर्वादेन सभ्यादीन् वेति नान्दी स्तुत्याशीरन्यतरपरावाक्, नन्देः पचाद्यजन्तान्नन्दशब्दात्प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेऽण्, ततः स्त्रियां ङीप् । तदुक्तं नाट्यप्रदीपे—

नन्दन्तकाव्यानि कवीन्द्रवर्गाः कुशीलवाः पारिषदाश्च सन्तः ।
यस्मादलं सज्जनसिन्धुहृंसी तस्मादियं सा कथितेह नान्दी ॥

भरतोऽप्याह—देवद्विजनृपादीनामाशीर्वादपरायणा ।
नन्दन्ति देवता यस्मात्तस्मान्नान्दीति कीर्त्तिता ॥

अत्र द्वादशपदत्वाष्टपदत्वयोरन्यतरस्य नान्दीस्वरूपेऽपेक्षितस्याभावात्कथमत्र तल्लक्षणसमन्वय इति तु मा शङ्कि, पदादिनियमोऽपि वा इति पदादिनियमस्य वैकल्पिकत्वेनानास्थेयत्वात् । रङ्गनाथस्त्वत्रेत्थमाह—'कालिदासादिमहाकविप्रबन्धेषु च वेदान्तेष्वित्यादौ नान्दीलक्षणायोगात्पूर्वरङ्गस्यैव रङ्गद्वाराख्यमङ्गलमारभ्य कविः कुर्यादित्युक्तत्वाच्च रङ्गद्वारमेवेदं न नान्दीति साहित्यदर्पणकृदुक्तं तु तन्मूलादर्शन-

(नान्दी-पाठके बाद)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण । (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) मारिष इतस्तावत् ।

(प्रविश्य)

पारिपार्श्वकः—भाव अयमस्मि ।

सूत्रधारः—मारिष, बहुशस्तु परिषदा पूर्वेषां कवीनां दृष्टाः प्रयोग-

---

निबन्धनम्, यतः 'प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि । तथाप्यवश्यं कर्त्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये' इत्यादिवचनेनास्या अवश्यकर्त्तव्यत्वात् ।। (नान्द्याः) अन्ते = अवसाने अत्र नान्दीश्लोकात्मिकाऽतश्च श्लोकचरमवर्णध्वंस इत्यर्थः । सूत्रधारः = सूत्रम् अभिनेयसूचनं धारयतीति सूत्रधारः प्रधाननटः । आहेति क्रियापदमध्याहृत्यान्वयः करणीयः । सूत्रधारलक्षणं यथा सङ्गीतसर्वस्वे—

वर्णनीयतया सूत्रं प्रथमं येन सूच्यते । रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ।।

अतिविस्तरेण = भूयसा (नान्दीप्रयोगेण) अलम् = नास्ति फलमित्यर्थः । एतावतैव नान्दीपाठेन विधेयमङ्गलाचरणस्य कृतत्वादतोऽधिको नान्दीपाठः फलविशेषाजनकतयाऽत्र मापकारीति तात्पर्यम् । नेपथ्याभिमुखमवलोक्य = वेषरचनार्थमवधारितं प्रदेशं प्रति दृक्पातं कृत्वा । तथाकरणञ्च तत्र वर्त्तमानस्य पारिपार्श्वकस्यामन्त्रणार्थमामन्त्रणीयपुरुषाध्युषितप्रदेशं विलोक्यैवामन्त्रणस्य लोकप्रथापरिप्राप्तत्वादिति बोध्यम् । नेपथ्यपदं तद्रचनास्थानोपलक्षणम् 'आकल्पवेषौ नेपथ्यम्' इत्यमरः ।।

इतस्तावत्—अत्र आगम्यतामिति शेषः । रङ्गशाला प्रविश्यतामिति भावः । पारिपार्श्वकस्य मारिषपदेन सम्बोधनं सूत्रधारः करोति, यथोक्तं प्राचा—

'सूत्री नटेन भावेति तेनासौ मारिषेति च' । इति । सूत्री-सूत्रधारः ।

परिसमन्तात् पार्श्वे सूत्रधारसमीपे चरतीति पारिपार्श्वकः । प्रविश्य = सूत्रधारसमीपमागत्य । भावयति प्रयोजयति अभिनयमिति भावपदव्युत्पत्तिः सूत्रधारेऽत्र रूढिः । 'सूत्रधारं वदेद्भाव इति वै पारिपार्श्वकः । सूत्रधारो मारिषेति' प्राचीनोक्तमनुसृत्यात्र व्यवहारः ।

परिषदा = सभया, 'समज्या परिषद्गोष्ठी सभासमितिसंसदः' इत्यमरः ।

सूत्रधार—अधिक विस्तार अनावश्यक है । (नेपथ्यकी ओर देखकर) मारिष, इधर आना ।

(प्रवेश करके)

पारिपार्श्वक—भाव, मैं यहीं तो हूं ।

सूत्रधार—मारिष, इस सभाने प्राचीन कवियोंके नाटक अनेक वार देखे हैं ।

बन्धाः । सोऽहमद्य विक्रमोर्वशीयं नाम नाटकमपूर्वं प्रयोक्ष्ये । तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु स्वेषु पाठेष्वसंमूढैर्भवितव्यमिति ।

पारिपार्श्वकः—यथाज्ञापयति भावः । (इति निष्क्रान्तः)

सूत्रधारः—यावदिदानीमार्यमिश्रान्विज्ञापयामि ।

(प्रणिपत्य)

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथ वा सद्वस्तुपुरुषबहुमानात् ।

पूर्वेषाम् = पूर्वोत्पन्नानाम् प्राचामित्यर्थः । प्रयोगबन्धाः = प्रयोगः = अभिनयः, स बध्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या प्रयोगबन्धो नाटकम् । सोऽहम् = प्राचां प्रबन्धाः सभया दृष्टा इति ज्ञानवानहम् । विक्रमोर्वशीयम् = विक्रमेण लब्धा उर्वशी विक्रमोर्वशी, मध्यमपदलोपी समासः । तामाधिकृत्य कृतं विक्रमोर्वशीयम् , 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इति छः । नाटकम् = यद्यपि त्रोटकमिदम् , तथापि नाटकसाम्यात्तथोक्तिः । अपूर्वम् = नूतनम् , अनुद्भिन्नरसम् , प्रयोक्ष्ये = अभिनीय दर्शयिष्यामि । पात्रवर्गः= नटसमुदयः । स्वेषु = आत्मीयेषु । पाठेषु = भूमिकाभिनयेषु । असंमूढैः = सावधानतया तत्परैः ।

यथाज्ञापयति = भवदाज्ञानुसारेण वर्त्तितुमहं सन्नद्ध इत्यर्थः ।

आर्यमिश्रान् = आर्याश्च ते मिश्राश्च तान् । आर्याः=अभ्यर्हिताः । 'कर्त्तव्यमाचरन् कार्यमकर्त्तव्यमनाचरन् । तिष्ठति प्रकृताचारे स वै आर्य इति स्मृतः' । मिश्राः= पूज्याः, पूज्ये मिश्रवचनं नित्यं बहुवचनान्तम् , 'मरीचिमिश्रदर्भेण' इति विष्णुपुराणात् । [आरात् दूरम् याताः गताः ग्राम्यत्वादिदोषेभ्य इत्यार्या इति मालतीमाधवटीकायां जगद्धरः ।

प्रणिपत्य = आदरप्रदर्शनार्थमभिवादनं विधायेत्यर्थः ।

प्रणयिष्विति । प्रणयः प्रीतिरस्ति येषां ते प्रणयिनः प्रीतिपात्राणि स्नेहयुक्ता अस्मादृशा नटाः तेषु दाक्षिण्यात् अनुकूलभावात् , अथवा सत् हृदयग्राहि यद्वस्तु

अतः मैं आज विक्रमोर्वशीय नामक नया नाटक खेलूंगा । पात्रोंको सावधान करदो– वे अपने अपने पाठमें सावधान रहें ।

पारिपार्श्वक—आपकी जो आज्ञा । (जाता है)

सूत्रधार—तब तक मैं इसकी सूचना सभासदोंको दे दूं ।

(प्रणामकी मुद्रामें)

स्नेहिजनपर अनुकूलतासे या कथानक तथा महापुरुषपर आदर भावसे प्रेरित

श्रृणुत मनोभिरवहितैः क्रियामिमां कालिदासस्य ॥ २ ॥

(नेपथ्ये)

परित्रायतां परित्रायतां यः सुरपक्षपाती यस्य वाम्बरतले गतिरस्ति ।

(परित्ताअदु परित्ताअदु जो सुरपक्खवादी जस्स वा अम्बरअले गदी अत्थि)

सूत्रधारः—(कर्णं दत्त्वा) अये किं नु खलु मद्विज्ञापनानन्तरं कुररीणामिवाकाशे शब्दः श्रूयते ।

वर्णनीयमितिवृत्तम् , सन् कुलीनः पुरुषः नायकश्च तयोः सद्वस्तुपुरुषयोः बहुमानात् आदरातिशयात् इमाम् प्रत्यक्षनिर्देश्यामधुनैव प्रयुज्यमानामित्यर्थः कालिदासस्य क्रियां ग्रोटकरूपां रचनाम् अवहितैः अनन्यासक्तैः मनोभिः हृदयैः श्रृणुत श्रवणीयमंशं श्रवणगोचरीकुरुतेत्यर्थः । कालिदासस्येति नामनिर्देशः कविप्रशंसाप्रयोजनः, 'सद्वस्तु' इति च काव्यप्रशंसार्थम् । तथाचोक्तम्—'इत्थं रङ्गविधानस्य सम्बन्धादिप्रसिद्धये । गोत्रं नाम च बध्नीयात्पूजावाक्यं सभासदाम्' ॥ 'अयं ममाहमस्येत्याकारकः पक्षपातविशेषः प्रेम, तथा च तदेवावलोकनादिना प्रकर्षनीतमपराधसहस्रेणाप्यविचलं प्रणयः' इति टीकाकृतः' । दाक्षिण्यं परच्छन्दानुवर्त्तित्वम् । आर्यावृत्तम्—'यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथातृतीयेऽपि । अष्टादशद्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या' इति च तल्लक्षणम् ॥ २ ॥

अत्रदेवमधयेम् , इतिवृत्तं द्विविधं रूपकेषु, 'सूच्यमेव भवेत किञ्चिद् दृश्यश्रव्यमथापि वा' इति भेदात् । तत्र 'अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत् । विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः' ॥ एतेषु—'अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना' इति लक्षणात् 'नेपथ्ये' इत्यारभ्य 'गतिरस्ति' इत्यन्तेन सन्दर्भेण कुबेरभवनान्निवर्त्तमानाया उर्वश्या दानवापहरणरूपनाटकीयार्थस्य सूचनात्प्रस्तावनान्तर्गतैव चूलिका कृतेति ।

होकर सावधान हो आपलोग कालिदासकी इस रचनाका आनन्द लें ॥ २ ॥

(नेपथ्यमें)

जो देवोंके हितैषी हों और जिनको आकाशमें उड़नेकी क्षमता हो, वह हमारी रक्षाकरें, रक्षाकरें ।

सूत्रधार—अरे, हमने अभी अभी सूचना दी है और इधर यह मृगियोंका सा आर्त्तनाद आकाशमें सुनाई दे रहा है ।

(विचिन्त्य) भवतु । ज्ञातम् ।

उरूद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री
कैलासनाथमुपसृत्य निवर्तमाना ।
बन्दीकृता विबुधशत्रुभिरर्धमार्गे
क्रन्दत्यतः शरणमप्सरसां गणोऽयम् ॥ ३ ॥

(इति निष्क्रान्तः)

प्रस्तावना ।

उरूद्भवेति । नरस्य तदाख्यस्य मुनेः सखा नरसखः तस्य नरसखस्य नारायणनामधेयस्य मुनेः ऊरोः सक्थिदेशात् उद्भवः प्रकटीभावो यस्याः सा ऊरूद्भवा उर्वशी नाम सुरस्त्री देवाङ्गना कैलासनाथम् कुबेरम् उपसृत्य सेवार्थं समीपं गत्वाऽऽराध्य वा निवर्त्तमाना प्रत्यावर्त्तमाना विबुधशत्रुभिः देवविरोधिभिर्दानवै अर्धमार्गे मार्गान्तराले बन्दीकृता बलाद्गृहीता, अतः हेतोः अयम् अप्सरसाम् गणः समुदायः शरणं रक्षितारम् क्रन्दति आक्रोशति, रक्षकमाह्वयतीत्यर्थः । अत्र—'नारायणोरुं निर्भिद्य संभूता वरवर्णिनी । ऐलस्य दयिता देवी योषिद्रत्नं किमुर्वशी' ॥ अप्सु निर्मथनादेव रसात्तस्माद्वरस्त्रियः । उत्पेतुर्मनुजश्रेष्ठ तस्मादप्सरसोऽभवन्' ॥ इति पुराणवचने । अप्सरः शब्दः प्रायो बहुवचनान्तः, 'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः' इत्यमरः, किन्तु 'अप्सराः' इत्येकवचनान्तस्यापि प्रयोगो दृश्यत इति सुबोधिनीकारः । यथा नलोदये—'तुल्योऽप्सरसा देहि' इति । उक्तमप्यन्यत्र—'आपः सुमनसो वर्षाः अप्सरः सिकतासमाः । एते स्त्रियां बहुत्वे स्युरेकत्वेऽप्युत्तरत्रिकम्' इति । आबन्तरूपेणापि प्रयोगोऽस्य शब्दस्यानेन कविना कृतोऽत्र ग्रन्थे—यथा—अनप्सरेव प्रतिभासि' इति । वसन्ततिलकावृत्तम् , 'उक्तावसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति च तल्लक्षणम् ॥ ३ ॥

प्रस्तावना—'यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते, तेन पात्रप्रवेशश्चेत्प्र-

---

(कुछ सोचकर) अच्छा, समझ गया ।

नारायण मुनिकी जङ्घासे उत्पन्न उर्वशी नामक अप्सरा कुबेरकी आराधना करके लौटती अवस्थामें बीच रास्तेमें दानवों द्वारा पकड़ी जाकर अपनी सखियोंके साथ आर्त्तनाद कर रही है ॥ ३ ॥

(प्रस्थान)

इति प्रस्तावना

(ततः प्रविशन्त्यप्सरसः)

अप्सरसः—परित्रायतां परित्रायतां यः सुरपक्षपाती यस्य वाम्बरतले गतिरस्ति । (परित्ताअदु परित्ताअदु जो सुरपक्खवादी जस्स वा अम्बरअले गदी अत्थि)

(ततः प्रविशत्यपटीक्षेपेण राजा पुरूरवा रथेन सूतश्च)

राजा—अलमाक्रन्दितेन । सूर्योपस्थानात् प्रतिनिवृत्तं पुरूरवसं मामुपेत्य कथ्यतां कुतो भवत्यः परित्रातव्या इति ।

रम्भा—असुरावलेपात् । (असुरावलेवादो)

योगातिशयस्तदा' इति लक्षिताऽत्र प्रस्तावनाभिदा, सूत्रधारेणाप्सरसां प्रवेशसूचनादधिकं परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

सुरपक्षपाती = देवपक्षगतः, देवानां हितस्यानुपेक्षक इत्यर्थः । अम्बरतले गतिः= आकाशसञ्चरणसमर्थत्वम् ।

अपटीक्षेपेणेति । 'नासूचितस्य पात्रस्य प्रवेशो नाटके मतः' इति प्रामाणिकोक्त्यनुरोधेन यत्रासूचितस्य पात्रस्य प्रवेशो भवति तत्रापटीक्षेपेणेति प्रथममवतरणिकारूपमुल्लिख्यते । आक्रन्दितेन = चीत्कारेण । अलम्=वृथा । चीत्कारप्रयोजनस्य रक्षादक्षजनध्यानावर्जनरूपस्य पूर्वमेव निर्वृत्ततया तत्प्रयोजनं नास्तीत्याशयः । सूर्योपस्थानात् = सूर्यमुपास्य । प्रतिनिवृत्तम् = परावर्त्तमानम् । पुरूरवसम् = तदभिधानं चन्द्रवंश्यं राजानम् । अत्र नामोपादानविशेषितास्मदर्थाभिधानेन स्वस्य शरणागतभयापहारलब्धप्रसिद्धिकत्वं प्रकाशितम् । उपेत्य = समीपमवाप्य । कुतः = कस्मात् कारणात् । एतेन चाविशेषप्रश्नेन सर्वविधभयशमनक्षमत्वमात्मनः प्रत्याययितुमिष्टमिति व्यञ्जितम् । भवत्यः = अप्सरसः परित्रातव्याः = रक्षणीयाः ।

असुरावलेपात् = असुराणाम् = दैत्यानाम् अवलेपात् = गर्वात् । अत्र पूर्वोक्तस्य

(अप्सराएँ प्रवेश करती हैं)

अप्सराएँ—रक्षा करो, रक्षा करो, जो देवताओंके पक्षपाती हैं और जिसकी आकाशमें गति है ।

(विना पर्दा गिराये राजा पुरूरवा तथा सारथिका प्रवेश)

राजा—रोना व्यर्थ है, सूर्योपस्थानसे लौटते हुए मुझ पुरूरवासे आप बतावें कि आपकी किससे रक्षा चाहिये ।

रम्भा—असुरोंके दर्पसे ।

राजा—किं पुनरसुरावलेपेन भवतीनामपराद्धम् ।

रम्भा—शृणोतु महाराजः। या तपोविशेषपरिशङ्कितस्य सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य प्रत्यादेशो रूपगर्विताया: श्रियः अलंकारः स्वर्गस्य सा नः प्रियसख्युर्वशी कुबेरभवनात्प्रतिनिवर्तमाना समापत्तिदृष्टेन हिरण्यपुरवासिना केशिना दानवेन चित्रलेखाद्वितीया अर्धपथ एव बन्दिग्राहं गृहीता । (सुणादु महाराओ । आ तवोविसेसपरिसङ्किदस्स सुउमारं पहरणं महिन्दस्स पच्चादेसो रूवगव्विदाए सिरीए अलंकारो सग्गस्स सा णो पिअसही उव्वसी कुबेरभवणादो पडिणिवुत्तमाणा समावत्तिदिट्ठेण हिरण्णउरवासिणा केसिणा दाणवेण चित्तलेहादुदीआ अद्धपथं ज्जेव्व बन्दिग्गहं गिहीदा)

'परित्रातव्याः' इत्यस्य सम्बन्धेन तद्योगे 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति पञ्चमी । इह यद्यपि गर्वकार्यादधिक्षेपादेव त्रातव्यतेति तथैव प्रयोक्तुमुचितं तथापि गर्वपदस्य स्वकार्येऽधिक्षेपे लाक्षणिकत्वं मनसिकृत्य तथाप्रयुक्तम् ।

भवतीनाम् = युष्माकमप्सरसाम् । अत्र सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । अपराद्धम् = अपराधः कृतः ।

तपोविशेषपरिशङ्कितस्य–तपसः = तपस्यायाः, विशेषः=प्राचुर्यम्, तेन परिशङ्कितस्य सञ्जातभयस्य, कस्याप्युग्रं तपो निशम्यायं मत्पदप्राप्तिमेवोद्दिश्य तपस्यतीति शङ्कया व्याकुलस्येत्यर्थः । सुकुमारम् = अकठोरम् । प्रहरणम् = अस्त्रम् । इन्द्रो हि कञ्चिदुग्रं तपस्यन्तं तपसश्च्यावयितुं सुराङ्गनाः प्रहिणोतीतिवृत्तमन्तर्निधायायं ग्रन्थः । रूपगर्वितायाः = स्वसौन्दर्यसगर्वायाः, श्रियः = लक्ष्म्याः, प्रत्यादेशः = प्रत्याख्यानम् तिरस्कार इत्यर्थः । स्वर्गस्य देवलोकस्य, अलङ्कारः=भूषणम् । अग्रोल्लेखालङ्कारः । सा = प्रसिद्धा, प्रसिद्धावत्र तच्छब्दः । समापत्तिदृष्टेन=अकस्माल्लोचनगोचरतामायातेन । हिरण्यपुरवासिना = तदाख्यनगरवास्तव्येन । केशिना = तदभिधानेन । दानवेन = दैत्येन । चित्रलेखाद्वितीया = चित्रलेखाख्यप्रियसहचरी-

राजा—असुरोंके दर्पने आपकी क्या क्षति की है ?

रम्भा—महाराज ! सुनें, तपस्याकी प्रचुरतासे सदा सशङ्क इन्द्रका जो सुकुमार अस्त्र रही है, जिसने सौन्दर्यगर्विता लक्ष्मीको परास्त किया है, जिससे स्वर्गकी शोभा है वह हमारी प्रियसखी उर्वशी कुबेरके यहाँसे लौट रही थी, संयोगवश रास्तेमें हिरण्यपुरवासी केशी नामक दैत्यसे भेंट हो गई, उसने उर्वशी तथा चित्रलेखाको रास्तेमें ही बन्दी बना लिया है ।

राजा—अपि ज्ञायते कतमेन दिग्विभागेन गतः स जाल्म इति ।

सहजन्या—पूर्वोत्तरेण । (पुव्वुत्तरेण)

राजा—तेन हि मुच्यतां विषादः । यतिष्ये वः सखीप्रत्यानयनाय ।

सर्वाः—सदृशं खलु सोमादेकान्तरस्य । (सरिसं खु सोमादो एक्कन्दरस्स)

राजा—क्व पुनर्भवत्यः प्रतिपालयिष्यन्ति ।

अप्सरसः—एतस्मिन्हेमकूटशिखरे । (इमस्सिं हेमकूडसिहरे)

राजा—सूत, ऐशानीं दिशं प्रति नोदयाश्वानाशुगमनाय ।

सहिता । अर्धपथे = पथोऽर्धमर्धपथस्तत्र । बन्दिग्राहम् = बन्दिनमिव गृहीत्वा । 'उपमाने कर्मणि च' इति णमुल् ।

कतमेन = केन । दिग्विभागेन = दिशावकाशेन । गतः = पलायितः । जाल्मः = असमीक्ष्यकारी ।

पूर्वोत्तरेण = पूर्वस्या उत्तरस्याश्च दिशोऽन्तरालं पूर्वोत्तरः, तेन ऐशान्या दिशेनि भावः ।

तेन = उर्वशीहर्तृदानवप्रयातदिगवकाशस्य ज्ञातत्वेन । विषादः = खेदः, मनसो भङ्गो वा । 'विषदश्चेतसो भङ्ग उपायाभावनाशयोः' इति प्रसिद्धिः । उपायसम्भावनायां तदभावसम्भविनो विषादस्यानुपयोगित्वमिति भावः । सदृशम् = उपयुक्तम् । सोमादेकान्तरस्य = सोमादेकमन्तरं व्यवधानं यस्य चन्द्रमस एकेन बुधेन व्यवहितस्य । 'ब्रह्मा, अत्रिः, सोमः, बुधः, पुरूरवाः' इति तद्वंशक्रममन्तर्निधायेत्थं प्रयोगः ।

प्रतिपालयिष्यन्ति = प्रतीक्षिष्यन्ते, उर्वशीप्रत्यावर्त्तनाय गतस्य मम प्रत्यागमनं प्रतीक्षमाणाभिर्भवतीभिः कुत्र सङ्गमः सम्भवीति भावः ।

हेमकूटशिखरे = हेमकूटाख्यपर्वतशृङ्गे ।

सूत = अश्वचालक । ऐशानीम् = पूर्वोत्तरमध्यवर्त्तिनीं दिशम् । नोदय = प्रेरय । आशुगमनाय = शीघ्रगत्यै ।

राजा—क्या यह पता है कि वह अभागा किधर गया है ?

सहजन्या—पूर्वोत्तर कोणमें ।

राजा—तब आप खेद न करे, मैं आपकी सखियोंको लौटा लानेका यत्न करूंगा ।

सभी—चन्द्रमाके पौत्रसे ऐसी ही आशा है ।

राजा—आप कहाँ हमारी प्रतीक्षा करेंगी ?

अप्सराएं—इस हेमकूट-शिखर पर ।

राजा—सारथि, ईशानकोणकी ओर घोड़ोंको हांको ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (इति यथोक्तं करोति)

राजा—(रथवेगं निरूपयन्) साधु साधु । अनेन रथवेगेन पूर्वप्रस्थितं वैनतेयमप्यासादयेयं किं पुनस्तमपकारिणं मघोनः । तथा हि ।

अग्रे यान्ति रथस्य रेणुवदमी चूर्णीभवन्तो घना-
श्चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु जनयत्यन्यामिवारावलीम् ।
चित्रन्यस्तमिवाचलं हयशिरस्यायामवच्चामरं
यष्ट्यग्रे च समं स्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात् ॥४॥

यथोक्तं करोति = अश्वानाशुतरगमनाय प्रेरयतीत्यर्थः ।

पूर्वप्रस्थितम् = पूर्वचलितम् । वैनतेयम् = विनताया अपत्यं पुमान् वैनतेयस्तं गरुडमित्यर्थः । आसादयेयम् = प्राप्नुयाम् । अपकारिणम् = अपकारकरम् , अपकारश्चोर्वशीहरणात्मकोऽत्र विवक्षितः । मघोनः = इन्द्रस्य ।

अग्रे यान्तीति । अमी पुरो दृश्यमानाः चूर्णीभवन्तः रथचक्राघातैः चुण्णाः घनाः मेघाः रेणुवत् रजांसीव रथस्य यानस्य अग्रे पुरतो यान्ति गच्छन्ति । रथवेगात् प्रसभं चलद्भिश्चक्रैः चुण्णा अत एव च रजोभावमापाद्यमाना मेघा रथस्याग्रतो धावन्ति, तदतिवेगाद्रथो गच्छतीति भावः । चक्रभ्रान्तिः रथाङ्गभ्रमणम् अरान्तरेषु अराणां नेम्यवष्टम्भकदण्डाकारचक्रावयवानाम् अन्तरेषु अन्तरावकाशेषु अन्याम् श्वेतराम् अरावलीम् अरपङ्क्तिम् जनयतीव प्रादुर्भावयतीव । रथस्यातिवेगवत्तया भ्रमता चक्रेण स्वान्तरालवर्त्यरावली तथा त्वरया भ्रम्यते यथा सा पुनरुत्पाद्य तत्र न्यस्यमानाऽन्यारपङ्क्तिरिव प्रतीयत इति तात्पर्यम् । 'अरः शीघ्रे च चक्राङ्गे' इति विश्वः । वेगानिलात् रथवेगोद्भूतवायुवशात् हयशिरसि अश्वशिरसि (भूषणार्थमवस्थापितम्) आयामवत् दैर्घ्ययुक्तम् चामरम् चित्रन्यस्तम् आलेख्यगतम् इव अचलम् निश्चलम् दृश्यत इति शेषः । अश्वशिरोदेशेऽवस्थापितमलङ्कारचामरं वेगवद्वायुकृताविरतधूननवशाच्चित्रलिखितमिव प्रतीयत इति हृदयम् । (वेगानिलात्) ध्वजपटः पताकास्थितं वसनम् यष्ट्यग्रे दण्डाग्रे प्रान्ते च पार्श्वदेशे च समम् एकदैव

सूत—जो आज्ञा महाराजकी । (आदेशपालन करता है)

राजा—(रथवेग देखकर) वाह ! वाह !! इस वेगसे तो आगे चले हुए गरुड़को पकड़ा जा सकता है, उस इन्द्रापराधीकी क्या बात है क्योंकि—

रथवेगसे मेघ चूर्ण होकर धूलकी तरह उड़ते हैं, चक्रकी तेजीसे अरोंके बीचमें दूसरी अरावली भी लगी सी दीख पड़ती है, घोड़ेके शिरपरका चमर चित्रलिखितकी तरह स्थिर है, और दण्डमें लगा ध्वजपट कभी बराबरमें और कभी हवाके झोंकेसे बगलमें आजाता है ॥ ४ ॥

(निष्क्रान्तो रथेन राजा सूतश्च)

रम्भा—हला गतो राजर्षिः । तद्वयमपि यथासंदिष्टं प्रदेशं संक्रमामहे । (हला गदो राएसी । ता अह्मोवि जथासंदिट्ठं पदेशं संकमामो)

शेषाः—तथा । (तह) (इति सर्वाः शैलावतरणं रूपयित्वा स्थिताः)

रम्भा—अपि नाम स राजर्षिरुद्धरेन्नो हृदयशल्यम् । (अवि णाम सो राएसी उद्धरे णो हिअअसल्लम्)

मेनका—हला मा ते संशयो भवतु । उपस्थितसंपरायो महेन्द्रोऽपि मर्त्यमलोकात्सबहुमानमानाय्य तमेव विजयसेनामुखे नियुङ्क्ते । (हला मा दे संसओ होदु । उवट्ठिदसंपराओ महिन्दो वि मज्झमलोआदो सबहुमाणं आणाविअ तं एव्व विअअसेणामुहे णिओजेदि)

स्थितः वर्त्तमानः प्रतीयत इति शेषः । वेगोद्धूतेन केतनेन तुल्यकालमेव दण्डाग्रे तत्पार्श्वदेशयोश्चावस्थीयत इति यावत् । एतेन सर्वेण रथस्यातिवेगता ध्वनिता, तया च पूर्वोक्तस्य वैनतेयमप्यासादयेयमित्यस्य समर्थनं कृतं भवतीति बोध्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् , तल्लक्षणं प्रागुक्तम् ॥ ४ ॥

राजर्षिः = राजा ऋषिरिवेत्युपमितसमासः । 'हला' इदं सखीसम्बोधनम् , तथा चामरः—'हण्डे हञ्जे हलाऽऽह्वाने नीचां चेटीं सखीं प्रति' इति । यथासन्दिष्टम् = यथाकथितम् हेमकूटशिखरम् । सङ्क्रमामहे = गच्छामः । तत्रैव राज्ञः प्रतिपालयितव्यत्वादिति भावः ।

उद्धरेत् = उत्पाटयेत् । हृदयशल्यम् = हृदये शल्यमिव दुःखकरं हृदयशल्यमुर्वशीबन्दिग्रहणरूपम् ।

उपस्थितसम्परायः = प्राप्तयुद्धावसरः । 'युद्धायत्योः सम्परायः' इत्यमरः । मध्यमलोकात् = मर्त्यलोकात् । सबहुमानम् = सादरम् । आनाय्य = आकार्य । तमेव =

(रथसे राजा तथा सूतका प्रस्थान)

रम्भा—सखी, राजा गये, तबतक हम भी संकेतित प्रदेशको चलें ।

शेष अप्सराएँ—ठीक है । (सभी पहाड़से उतरकर ठहरती हैं)

रम्भा—अगर महाराज हमारे कष्टको दूर कर देते ।

मेनका—सखी, तुम संदेह मत करो, युद्ध उपस्थित होनेपर इन्द्र भी मर्त्यलोकसे इन्हें बलाकर सेनापति बनाते हैं ।

रम्भा—सर्वथेह विजयी भवतु । (क्षणमात्रं स्थित्वा) हला समाश्वसित समाश्वसित । एष उच्चलितहरिणकेतनस्तस्य राजर्षेः सोमदत्तो रथो दृश्यते । न खलु एषोऽकृतार्थो निवर्तिष्यते । (सव्वहा इह विअई भोदु । हला समस्ससध समस्ससध । एसो उच्चलिदहरिणकेदणो तस्य राएसिणो सोमदत्तो रहो दीसदि । ण खु एसो अकिदत्थो णिवत्तिस्सदि)

(सर्वा उच्चक्षुषो विलोकयन्ति)

(ततः प्रविशति रथारूढो राजा सूतश्च चित्रलेखावलम्बिता भयनिमीलिताक्षी चोर्वशी)

चित्रलेखा—समाश्वसितु समाश्वसितु प्रियसखी । (समस्ससदु समस्ससदु पिअसही)

राजा—सुन्दरि ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

गतं भयं भीरु सुरारिसंभवं

पुरूरवसमेव । विजयसेनामुखे = जयसेनाप्राधान्ये । नियुङ्क्ते = नियोजयति । एतेनेन्द्रकृतसाहाय्यग्रहणगरिम्णा राजनि विश्वासातिशयो व्यञ्जितः ।

उच्चलितहरिणकेतनः = धूयमानहरिणध्वजः । सोमदत्तः = चन्द्रसमर्पितः । एषः = पुरूरवाः । अकृतार्थः = अकृतकार्यः । एतेन राज्ञः कृतार्थतया स्वस्य कार्यस्य सिद्धिरावेदिता ।

उच्चक्षुषः = ऊर्ध्वन्यस्तनयनाः ।

भयनिमीलिताक्षी = भीतिमुद्रितलोचना ।

गतं भयमिति । हे भीरु, भयशीले, सुरारिसंभवम् असुरगणजनितम् भयम् त्रासः गतम् निवृत्तम् । नास्ति मयि समुपस्थिते दानवैः करिष्यमाणस्य कस्यचिदस्या-

---

रम्भा—सब तरह जीत हो, (थोड़ी देर रुककर) धीरज धरो, वह हरिणयुक्त पताका वाला महाराजका सोमदत्त रथ दीख रहा है, वह बिना कार्य किये नहीं लौटेंगे ।

(सभी आंखें ऊंची करके देखती हैं)

(रथारूढ राजा, सूत, चित्रलेखा द्वारा आलम्बित तथा सहमी हुई उर्वशीका प्रवेश)

चित्रलेखा—होश करो, सखी ।

राजा—सुन्दरि, होश करो ।

राक्षसका भय अब नहीं रहा, इन्द्रका पराक्रम सर्वत्र रक्षक होता है । जिस

त्रिलोकरक्षी महिमा हि वज्रिणः ।
तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं
महोत्पलं प्रत्युषसीव पद्मिनी ॥ ५ ॥

चित्रलेखा—अहो कथमुच्छ्वसितमात्रसंभावितजीविताद्यापि संज्ञां न प्रतिपद्यते । (अम्महे कहं उस्ससिदमेत्तसंभाविदजीविदा अज्ज वि सण्णं ण पडिवज्जदि)

राजा—बलवदत्रभवती परित्रस्ता । तथा हि ।

मुञ्चति न तावदस्याः कम्पं कुसुमसमबन्धनं हृदयम् ।

हितस्याशङ्केति भावः । हि यस्मात् वज्रिणः पुरन्दरस्य महिमा सामर्थ्यम् त्रिलोकरक्षी त्रैलोक्यावनसमर्थः अस्तीति शेषः । इयमिन्द्रस्यैव महिमशालिता यत्तदीयेनानेन जनेन त्वमिह गोपाय्यसे इति यावत् । तत् तस्मात् भयस्य निवृत्तत्वात् आयतम् विशालम् एतत् चक्षुः नयनम् उन्मीलय उन्मेषय, पद्मिनी कमलिनी प्रत्युषसि प्रभातकल्पे काले महोत्पलम् इव । यथा प्रभाते कमलिनी महोत्पलं विकासयति तद्वत्त्वमात्मनो नेत्रमुन्मीलयेति तात्पर्यम् । वंशस्थविलं वृत्तम्, 'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ' इति च तल्लक्षणम् । पूर्णोपमाऽत्रालङ्कारः ॥ ५ ॥

अहो = आश्चर्ये । उच्छ्वसितम् श्वासक्रिया एव उच्छ्वसितमात्रम् , तेन संभावितमनुमितम् जीवितम् प्राणनम् यस्याः सा उच्छ्वसितमात्रसंभावितजीविता श्वासक्रियाऽनुमितप्राणवायुसद्भावा । संज्ञां न प्रतिपद्यते चैतन्यं नायाति । यद्यपि भयं निवृत्तमथापीयं न चेतयते, जीवताभावस्तु नाशङ्कनीयः श्वासस्य जीवनसमभियतस्य स्फुटमुपलब्धेरत एतदीयेयं विचेतनताऽऽश्चर्यपदमिति भावः ।

बलवत् = अत्यन्तम् । क्रियाविशेषणम् । अत्रभवती=आदरणीया उर्वशी । परित्रस्ता=भीता । अतश्च बलवद्भीताया भवतीनां सख्यश्चैतन्यस्य पुनरागमे विलम्बो नाश्चर्यकर इति भावः ।

मुञ्चतीति । अस्याः उर्वश्याः कुसुमेन पुष्पेण समम् सदृशम् बन्धनम् बन्धः यस्य

तरह पद्मिनी प्रातःकालमें कमल खिलाती है उस तरह अपनी आंखें खोलो ॥ ५ ॥

चित्रलेखा—उच्छ्वाससे इसके जीवनका ज्ञान होता है, किन्तु इसे होश क्यों नहीं हो रहा है ।

राजा—यह बहुत अधिक डर गई है, क्योंकि—

फूलोंके समान सुकुमार इसका हृदय अब तक काँपना नहीं छोड़ सका है,

पश्य हरिचन्दनेन स्तनमध्योच्छ्वासिना कथितम् ॥ ६ ॥

चित्रलेखा—सखि उर्वशि पर्यवस्थापयात्मानम् । अनप्सरेव प्रतिभासि मे । (हला उव्वसि पज्जवत्थावेहि अत्ताणं । अणच्छरा विअ पडिहासि मे)

(उर्वशी प्रत्यागच्छति)

तादृशम् कुसुमसमबन्धनम् पुष्पसुकुमारम् हृदयम् चेतः । परमार्थतो हृदयाधिष्ठेयं स्थानम् स्तनमध्ये कुचद्वयान्तरालावकाशे उच्छ्वासिना । कम्पमानेन हरिचन्दनेन दिव्यचन्दनानुलेपनेन कथितम् प्रकटं व्यञ्जितम् कम्पम् भयकृतं सञ्चारम् न तावत् मुञ्चति नाधुनापि जहाति (इति) पश्य विलोकय । अयमाशयः—अस्यास्तव सख्याः भयं सम्प्रत्यपि न निवृत्तं, यतोऽस्या हृदयं कम्पते स्तनान्तरालस्थितं हरिचन्दनञ्च तं कम्पं सूचयति स्वकम्पेनेति भावः । 'हरिचन्दनमस्त्री स्यात् त्रिदशानां महीरुहे । नपुंसके तु गोशीर्षे ज्योत्स्ना कुङ्कुमयोरपि' ॥ इति मेदिनी । केचित्तु 'पश्य हरिचन्दनेन' इत्यस्य स्थाने 'सिचयान्तेन कथञ्चित्' इति पाठं कल्पयन्ति । तत्र सिचयः वस्त्रम् , तस्य अन्तेन अञ्चलेन इत्यर्थः । 'वस्त्रं सिचयः पटः पोतः' इति हलायुधकोशः । तमिमं पाठं वस्त्रस्य स्तनद्वयावरकतया तन्मध्योत्कम्पित्वासम्भवेनापपाठमाहुः कतिपये । वस्तुतस्तु स एव पाठः श्रेयान् वस्त्रस्यातिसूक्ष्मत्वेन कम्पस्य सम्भवात् , स्तनयोः पटान्तरावृतत्वेनोत्तरीयस्य तन्मध्यावलम्बिताया एव भूयस्तया स्वाभाविकत्वात् , तत्कम्पस्यैव चोरःकम्पानुमापकतया विवक्षितत्वात् । लिप्यमानचन्दनकम्पस्य तु हृदयकम्पात्मकतयैव विभाव्यतया तस्य तदनुमापकत्वकल्पनाया अयुक्तत्वमिति विभावयन्तु रसिकाः । आर्याभेदो वृत्तम् ॥ ६ ॥

पर्यवस्थापय = स्थिरीकुरु । धैर्यं बधानेत्यर्थः । अनप्सरा इव अप्सरसो भिन्नेव । यद्यपि 'आपः सुमनसो वर्षा अप्सरः सिकता समाः, एते स्त्रियां बहुत्वे स्युरेकत्वेऽप्युत्तरत्रिकम्' इत्युक्तेरप्सरःशब्दस्यैकवचनान्तत्वे लब्धेऽपि सान्तत्वमेव सिद्ध्यति, तथापि 'ये ये सान्तास्ते तेऽजन्ताः' इति प्राचीनोक्तमाधारीकृत्यायं प्रयोगः । अत एव चोच्चैःश्रवेणेत्यपि प्रयुज्यमानं दृश्यते । प्रतिभासि=प्रतीयसे । धैर्यलोपस्य मानुष्यकधर्मस्याप्सरस्यसम्भवेन त्वदीयेयं भयद्रुतता तवाप्सरस्त्वं संशाययतीति भावः ।

प्रत्यागच्छति = चैतन्यं प्रतिपद्यते ।

इसका कांपना हृदय पर लगाये गये चन्दनके कांपनेसे स्पष्ट मालूम पड़ रहा है ॥

चित्रलेखा—सखी उर्वशी, अपनेको सम्हालो । तुम तो अप्सरा नहीं मालूम पड़ती हो ।

(उर्वशीको होश होता है)

राजा—(सहर्षम्) अयि प्रकृतिमाप्यते ते प्रियसखी । पश्य ।

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
र्नैशस्याचिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा ।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गङ्गा रोधःपतनकलुषा गृह्णतीव प्रसादम् ॥ ७ ॥

सहर्षम् = सानन्दम्, राज्ञो हर्षश्च स्वानुकम्पनीयललनाजनभीतिनिवृत्तिसूचक-तच्चैतन्यावलोकनजन्मा बोध्यः । प्रकृतिम्=पूर्वावस्थाम् भयोत्पत्तेः प्राक्तनीं स्वस्था-वस्थाम् । आपद्यते=प्राप्नोति ।

आविर्भूते इति । शशिनि चन्द्रमसि आविर्भूते प्रकटप्रकाशे तमसा निशाकृतेन तिमिरेण मुच्यमाना हीयमाना रात्रिः निशा इव । अत्र मुच्यमानेति वर्त्तमानार्थकशा-नचा तिमिरकर्त्तृकरात्रित्यागस्य जायमानत्वव्यञ्जकेन तत्प्रभावस्यांशतः सत्त्वमुक्तम् । नैशस्य रात्रिसम्बन्धिनः हुतभुजः वह्नेः छिन्नः नाशितः भूयिष्ठः बहुलः धूमः यस्याः सा छिन्नभूयिष्ठधूमा अस्तंगताधिकधूमा अर्चिः शिखा इव । रोधसः तटस्य पतनेन निपातेन कलुषा तटमृत्तिकाऽऽविला प्रसादम् स्वच्छताम् गृह्णती आगच्छन्ती गङ्गा इव इयम् वरतनुः सुन्दरी अन्तः हृदये मोहेन मूर्च्छया मुक्तकल्पा त्यक्तप्राया सती प्रसादम् गृह्णती लक्ष्यते ज्ञायते । यथा निशातमसि प्रसृते समुद्यता चन्द्रेण तमः क्रमशो निरस्यते, तद्वदियमपि भवतीनां वयस्या चेतनया प्रत्यापद्यमानया मोहे निवर्त्यमाने प्रसादमायान्तीव प्रत्यय इति भावः । निशि वह्निशिखा धूमव्याकुला यथा निवर्त्तमानेन धूमस्तोमेन प्रकटदीधितिर्भवति तद्वदपि । एवं यथा प्रकामनि-र्मलजला सुरधुनी तटस्य पतनेन कलुषजलतामापद्य क्रमशो रजसि लीने स्वच्छप्र-वाहा सम्पद्यते तद्वच्च । इयमुपमात्रयी तस्या उर्वश्याः स्वभावनिर्मलरूपतां भास्वर-प्रभतां मोहनरूपताञ्च ध्वनयति गङ्गाऽवालानिशभिरुपमानैः । मालोपमाऽत्रालङ्कारः, 'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते' इति तल्लक्षणात् । मन्दाक्रान्ता—वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरू चेत्' इति । भूयिष्ठपदे 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' इति बहुशब्दादिष्ठन्प्रत्ययः, बहुशब्दस्य भूरादेशः, 'इष्ठस्य यिट् च' इति यिडागमश्च ॥ ७ ॥

राजा—आपकी सखीको होश आ रहा है, देखिये ।

चन्द्रोदयोपरान्त तमोयुक्त शर्वरीके समान, धूमशिखासे विमुक्त सायंकालिक अग्निके समान, और तटपातसे कलुषजला गङ्गा जिस तरह क्रमशः प्रसन्नसलिला होती है उसके समान यह सुन्दरी बेहोशी दूर होनेसे प्रसन्न होती आ रही है ॥७॥

चित्रलेखा—सखि विश्रब्धा भव । पराभूताः खलु त्रिदशपरिपन्थिनो हताशाः । (सहि विस्सद्धा होहि । पराभूदा क्खु तिदसपरिपन्थिणो हदासा ।

उर्वशी—(चक्षुषी उन्मील्य) किं प्रभावदर्शिना महेन्द्रेण । (किं पहावदंसिणा महिन्देण)

चित्रलेखा—न महेन्द्रेण । महेन्द्रसदृशानुभावेनानेन राजर्षिणा पुरूरवसा । (ण महिन्देण । महिन्दसरिसाणुभावेण इमिणा राएसिणा पुरूरवसेण)

उर्वशी—(राजानमवलोक्य । आत्मगतम्) उपकृतं खलु दानवैः । (उवकिदं क्खु दाणवेहिं)

विश्रब्धा = सञ्जातप्रत्यया, भयस्य तत्स्थानस्य चापासितत्वेनेत्थमाश्वासनम् । त्रिदशपरिपन्थिनः = देवद्रुहः । तृतीया यौवनाख्या दशा येषां ते त्रिदशाः देवाः । 'श्रियं बिन्दति देवर्षे पञ्चविंशतिवर्षवत्' इति रामायणवाक्येन देवानां सदा यौवन एव वर्त्तमानत्वं समर्थ्यते । तेषां परिपन्थिनः = शत्रवः । परिदोषाख्यानं पन्थयितुं प्रचारयितुं शीलं येषां ते परिपन्थिनः । परिशब्दो दोषाख्याने—'दोषाख्याने निरसने पूजाव्याप्तयोश्च भूषणे' इति मेदिनी । हताशाः = नीचाः । पराभूताः = तिरस्कृताः, विद्राविताः, पलायितुं बाधिता इत्यर्थः ।

प्रभावदर्शिना = प्रभावेण दैव्या शक्तेर्बलेन द्रष्टुं व्यवहितमपि प्रत्यक्षीकर्त्तुं शीलमस्य तेन ।

महेन्द्रेण = शक्रेण । महेन्द्रसदृशानुभावेन = इन्द्रसमशक्तिना । 'अनुभावः प्रभावे स्यात्' इति विश्वः ।

आत्मगतम् = 'आश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्' इति लक्षितम् । उपकृतम् = उपकारः कृतः । दानवा यदि न मामद्रविष्यन्नस्य राजर्षेर्दर्शनस्यावसरोऽभविष्यदत इयमुत्पीडना दानवकृता ममोपकार एवेति भावः । अत्रोर्वश्या राजविषयकोऽभिलाषो गम्यते, सा चेयमभिलाषस्य प्रथमावस्था, एवम्—'उर्वशी निर्वर्ण्यात्मगतम्' इत्यादिना राज्ञोऽभिलाषस्य प्रथमावस्था । दश हि शृङ्गारस्य दशाः, तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्पः । निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः । उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा

चित्रलेखा—सखी, विश्वास करो, अभागे दानव खदेड़ दिये गये ।

उर्वशी—(देखकर) क्या प्रभावदर्शी महेन्द्रके द्वारा ?

चित्रलेखा—महेन्द्रके द्वारा नहीं, महेन्द्रके सदृश प्रभावी राजा पुरूरवाके द्वारा ।

उर्वशी—(राजाको देखकर । स्वगत) दानवोंने मेरा उपकार ही किया ।

राजा—(प्रकृतिस्थामुर्वशीं निर्वर्ण्य । आत्मगतम्) स्थाने खलु नारायणमृषिं विलोभयन्त्यस्तदूरुसंभवामिमां दृष्ट्वा व्रीडिताः सर्वा अप्सरस इति । अथवा नेयं तपस्विनः सृष्टिर्भवितुमर्हति ।

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तप्रभः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।

दशैव स्युः' । इति । अयञ्चोभयोरभिलाषोऽस्मिन्नाटके बीजम् । तदुक्तं दशरूपके—'बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः । अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्त्तिताः । स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्य नेकधा' ॥

स्थाने = युक्तम् । विलोभयन्त्यः = रूपेणाकृष्य तपसश्च्यावयन्त्यः । तदूरुसम्भवाम् = नारायणोरुदेशमुन्मथ्य लब्धजन्मानम् । इमाम् = उर्वशीम् । व्रीडिताः = सञ्जातलज्जाः । पुरा किल हिमाचले तपश्चरतो नारायणस्य नामऋषेः प्रलोभनार्थं गता अप्सरसस्तं स्वतपोविशेषनिरतं चञ्चलयितुं नाक्षमन्त । पश्चात्तासां रूपमदं धर्षयितुं स्वप्रभावं प्रकटय्य ताः शिक्षयितुं च भगवता नारायणमुनिनाऽऽत्मन ऊरुदेशं प्रमथ्य काचिदप्रतिमरूपसम्पत्सम्पन्ना कन्यका प्रादुर्भाविता ताभ्य उपहृता च । असामान्यरूपसम्पन्नां तां कन्यकां विलोक्य यः क्षणेन स्वशरीरैकदेशमुन्मथ्य कन्यारत्नमीदृशमुत्पादयितुं क्षमः किन्तस्यास्माभिः कर्त्तव्यमिति लज्जितास्ताः स्वर्गं प्रतिनिवृत्य सर्वमपि वृत्तान्तं महेन्द्राय निवेदयामासुः । ऊरुदेशादुद्भूतत्वादेवास्या उर्वशीति संज्ञेति पौराणिकी कथाऽत्राकलनीया ।

अस्याः सर्गविधाविति । अस्याः उर्वश्याः सर्गः निर्माणम् स एव विधिः तत्र निर्माणकर्मणि कान्तप्रभः रमणीयदीधितिः चन्द्रः प्रजापतिः स्रष्टाऽभूत् नु किम् आसीत् किम् ? नुपदं वितर्के । कथमन्यथेदृशमस्याः सौन्दर्यं भवेदिति भावः । अथवा शृङ्गार एव एको रसो यस्मात् तादृशः मदनः कामदेवः स्वयम् (प्रजापतिरभून्नु किम्) अनेनोर्वश्याः समधिकशृङ्गारसमुद्दीपकताऽऽवेद्यते । पुष्पाकरः पुष्पोद्भवप्रसिद्धश्चैत्राभिधो मासो वसन्तः अस्याः प्रजापतिरभून्नु किम् ? कथमन्यथाऽस्या अङ्गानि कोमलताऽतिशयशालीनि सम्भवेयुः । ननु सति नारायणमुनौ

राजा—(होशमें आई उर्वशीको देखकर, स्वगत) नारायणमुनिको लुभाने गई हुई अप्सरायें उनके ऊरुसे उत्पन्न इस उर्वशीको देखकर ठीक ही लज्जासे मर गई थी । अथवा-यह किसी तपस्वीकी सृष्टि नहीं हो सकती है ।

इसकी सृष्टिमें चन्द्रमा ब्रह्मा बने हों या शृङ्गारके अवतार मदन अथवा वसन्त-

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥ ८ ॥

उर्वशी—हला स सखीजनः कुत्र खल्विदानीं भवेत् । (हला सो सहीजणो कहिं क्खु दाणिं भवे)

मुख्यस्रष्टरि किमेभिर्वितर्कैरित्याकाङ्क्षायामाह—वेदाभ्यासजड इति । विषयेभ्यः भोग्येभ्यः शब्दस्पर्शरूपादिभ्यः व्यावृत्तं निवृत्तं कौतूहलं रागोत्कर्त्वं यस्य स तादृशः, वेदाभ्यासेन सर्वदा वेदतात्पर्यपर्यालोचनव्यापृतत्वेन जडः विषयान्तरेषु मूर्खः पुराणः जीर्णः मुनिर्मौनशीलस्तपस्वी नारायणः इदम् लावण्यादिगुणैर्मनोहरं रूपम् निर्मातुं कथन्नु प्रभवेत् शक्नुयात् ? अत्र मुनौ पुराण इत्युक्त्या सौकुमार्यविनिवृत्तहृदयता विषयव्यावृत्तकौतूहल इति च रूपावान्तरभेदभूतत्तद्वयवसुश्लिष्टत्ववाणीगत्यादिविशेषकृतरामणीयकचिन्ताशून्यता चोक्ता । नहि गुणानभिज्ञो गुणवन्तं निर्मातुं प्रभवतीत्यभिमानेनेत्थमुक्तम् । अत्र नारायणमुनौ निर्माणसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिरिति साहित्यदर्पणः । अत्रान्यस्य निर्माणकर्तृत्वे दृढनिश्चयाभावादेव परार्धेन प्रजापतेर्निर्माणकर्तृत्वव्यावृत्तिरपि सन्दिग्धैवेति शुद्धसन्देहालङ्कारोऽत्रेति काव्यप्रकाशः । तेन च शुद्धसन्देहातिशयोक्त्योरेकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करोऽत्रालङ्कारः । 'अत्र मुनिरित्यस्य ब्रह्मेत्यर्थो न तपस्वी नारायणः, नारायणस्योत्पादकत्वेऽपि निर्मातृत्वाभावात् प्रकृते तु मुनिनिष्ठनिर्मातृत्वव्यवच्छेदस्यैव विवक्षितत्वात् । अत एव प्रजापतिपदस्वारस्यमपि' इत्यालङ्कारिकाः । तच्चिन्त्यम्, भगवतो नारायणस्य सर्वशक्तिमत्त्वात्तन्निष्ठनिर्मातृत्वस्यैव प्रकरणप्राप्तत्वाच्च । शार्दूलविक्रीडितंवृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' ॥ ८ ॥

अत्र सूचितस्य राजाभिलाषरूपबीजस्योपन्यासादुपक्षेपो नाम मुखसन्ध्यङ्गमुक्तम्, 'काव्यार्थस्य समुद्भेद उपक्षेप इति स्मृतः' इति च तल्लक्षणम् ।

कुत्रेदानीं भवेत् ? इति प्रश्नबीजं तु तासामपि दानवहरणाद्युपद्रवपतितत्वाशङ्कैव । अभयदायीत्युत्तरमपि हेतुगर्भं विशेषणम्, राज्ञोऽभयदानशीलतया सखीनामप्यभयमनेन दत्तं स्यादेवेति हृदयम् ।

मास । जिनको विषयमें किसी प्रकारका कौतूहल नहीं रह गया हो, जो वेद पढ़कर जड़ हो गया हो, वह बूढ़ा ऋषि इस मनोहर छविकी सृष्टि भला किस प्रकार कर सका होगा ? ॥ ८ ॥

उर्वशी—सखी, और सखियाँ इस समय कहाँ होंगी ? ।

चित्रलेखा—अभयदायी महाराजो जानाति । (अभअदाई महाराओ आणादि)

राजा—(उर्वशीमवलोकयन्) महति विषादे वर्तते । पश्यतु भवती ।

यदृच्छया त्वं सकृदप्यवन्ध्ययोः
पथि स्थिता सुन्दरि यस्य नेत्रयोः ।
त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत्-
सखीजनस्ते किमुतार्द्रसौहृदः ॥ ९ ॥

उर्वशी—(अपवार्य) अभिजातं खल्वस्य वचनम् । अथवा चन्द्रा-

यदृच्छयेति । सुन्दरि, अनवद्याङ्गि, यदृच्छया दैववशेन सकृदपि एकवारमपि यस्य जनस्य अवन्ध्ययोः सर्वातिशायिसौन्दर्यात् त्वां विलोक्य लब्धसाफल्ययोः नेत्रयोः चक्षुषोः पथि वर्त्मनि त्वं स्थिता आगता सोऽपि त्वया विना त्वद्विरहेण समुत्सुकः बद्धोत्कण्ठः भवेत् स्यात् आर्द्रसौहृदः निरन्तरसहवासोपचितरसस्नेहः ते सखीजनः (समुत्सुकः भवेदिति) किमुत किं वक्तव्यमिति । यः कदाचिदेकदाऽपि भाग्योदयवशोपजातेन त्वद्विलोकनेन स्वचक्षुषोः साफल्यं प्राप्तवान् सोऽपि तावदवसरोत्पादितप्रीतिप्रभावेण त्वद्विरहे पर्युत्सुको जायेत, यस्ते सखीजनश्चिरसहवासोपजातप्रीतिगाढस्वबन्धस्तस्य त्वद्वियोगे पर्युत्सुकत्वं किं वक्तव्यमिति भावः । वंशस्थविलं वृत्तम्, लक्षणं पूर्वमेवोक्तम् ॥ ९ ॥

अत्र 'त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत्' इति सामान्योक्त्याऽहमपि त्वया विना पर्युत्सुको भविष्यामीति तदर्थमागमन औत्सुक्यं सूचयता आरम्भो नाम कार्यस्य प्रथमाऽवस्थोक्ता, तेन चात्र बीजारम्भयोः समन्वयान्मुखसन्धिरिति बोध्यम्, तदुक्तं दशरूपके—'अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः । आरम्भयत्नप्राप्त्याशा नियताप्तिफलागमाः ॥ अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः । यथासङ्ख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः' ॥ इति ॥

अभिजातम् = हृदयग्राहि । तथात्वं च तद्वचसः श्रुतिप्रियतया बोध्यम् । किम-

---

चित्रलेखा—अभयदाता महाराज जानें ।

राजा—(उर्वशीको देखकर) आपकी सखियाँ बहुत उदास हैं, देखिये—

आपको एकबार अकस्मात देखकर जिसने अपनी आँखोंको सफल किया है वह भी आपके विरहमें विकल हो उठेगा, उन सखियोंकी क्या बात है, उनकी तो आपके साथ गाढ़ी प्रीति ही है ॥ ९ ॥

उर्वशी—(छिपाकर) इसके वचन तो बहुत भले हैं । अथवा चन्द्रमासे

दमृतमिति किमत्राश्चर्यम् । (प्रकाशम्) अत एवैनं प्रेक्षितुं त्वरते मे हृदयम् । (अहिजादं खु से वअणं । अह वा चन्दादो अभिअंत्ति किं एध्य अच्छरीअं । अदो एव्व णं पेक्खिदुं तुवरदि मे हिअअं)

राजा—(हस्तेन दर्शयन्)

एताः सुतनु मुखं ते सख्यः पश्यन्ति हेमकूटगताः ।
प्रत्यागतप्रसादं चन्द्रमिवोपप्लवान्मुक्तम् ॥ १० ॥

चित्रलेखा—सखि पश्य । (हला पेक्ख)

उर्वशी—(राजानं सस्पृहं पश्यन्ती) समदुःखः पिबतीव मां नयनाभ्याम् । (समदुक्खो पिबइव्व मं णयणेहिं)

आश्चर्यम् = स्वाभाविकमेवेदमित्यर्थः, प्रकाशम् = स्पष्टम् सर्वश्राव्यमित्यर्थः, सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादिति साहित्यदर्पणः । एनम् = राजानम् , त्वरते = उत्कण्ठते ।

एता इति । सुतनु, हे रम्यसर्वावयवे, उपप्लवात् उपरागकृतावमर्शात् मुक्तम् मुक्तिं प्राप्तवन्तम् (अत एव) प्रत्यागतप्रसादम् अधिगतप्रकाशनैर्मल्यम् चन्द्रम् विधुमिव एताः उपवीक्ष्यमाणाः हेमकूटगताः हेमकूटशिखरनिषण्णाः ते तव सख्यः प्रत्यागतप्रसादम् मूर्च्छापगमात्पुनरपि प्रसन्नं तव मुखं पश्यन्ति विलोकयन्ति । उपमालङ्कारः । यथोपरागोन्मुक्तोऽत एव प्ररूढप्रकाशश्च शशी जननयनैः सोत्कण्ठं पीयते तद्वदिहाक्रन्दे समुपस्थिते मूर्च्छापगमात्परतः प्रत्यापन्नस्वाभाविकरामणीयकं मुखं स्निग्धाभिस्तव सखीभिरादरातिशयेनालोक्यत इति भावः । आर्याभेदो वृत्तम् । 'उपराग एवात्रोपप्लव'स्तदन्तर एव चन्द्रे प्रभानैर्मल्योपलब्धेः ॥ १० ॥

समदुःखः = सहानुभूतिपूर्णहृदयतया दुःखमिवानुभवन्नित्यर्थः । पिबति = सादरमीक्षते । इयमात्मनो मनोभावं चित्रलेखां प्रति प्रकाशयितुमिच्छोरुर्वश्या उक्तिः । सा चोक्तिः सखीराज्ञोः समानभावेनान्वेतीति विदग्धता विदग्धाया नायिकायाः ।

अमृतकी वृष्टि हो इसमें आश्चर्य क्या ? (प्रकट) इसीलिये इनको देखनेके लिये मेरा हृदय छटपटा रहा है ।

राजा—(हाथसे दिखाकर) सुन्दरि, हेमकूटपरसे आपकी सखियाँ ग्रहमुक्त चन्द्रमण्डलके समान मूर्च्छासे मुक्त आपके मुंहकी ओर ताक रही हैं ॥ १० ॥

चित्रलेखा—सखी, देखो ।

उर्वशी—(राजाको सस्पृह देखती हुई) ये हमारे दुःखसे दुःखी हैं, और मुझे सस्नेह देख रहे हैं ।

चित्रलेखा—(साकूतम्) अयि कः । (अइ को)

उर्वशी—ननु सखीजनः । (णं सहिअणो)

रम्भा—(सहर्षम्) एष चित्रलेखाद्वितीयां प्रियसखीमुर्वशीं गृहीत्वा विशाखासमीपगत इव भगवांश्चन्द्र उपस्थितो राजर्षिः । (एसो चित्तलेहादुदिअं पिअसहीं उव्वसीं गेण्हिअ विवाहासमीवगदो विअ भअवं चन्दो उवट्ठिदो राएसी)

मेनका—(निर्वर्ण्य) द्वे अपि नः प्रिये उपनते । इयं प्रत्यानीता प्रियसखी अयं चापरिक्षतशरीरो राजर्षिः । (दुवे वि णो प्पिआणि उवणदाणि । इअं पच्चाणीदा पिअसही अअं च अपरिक्खदसरीरो राएसी)

सहजन्या—सखि सुष्ठु भणसि । दुर्जयाः खलु दानवाः । (सहि सुट्ठु भणासि । दुज्जआ खु दाणवा)

साकूतम् = अभिप्रायेण सह, अभिप्रायश्चात्र तदभिप्रायावबोधसूचकचेष्टाविशेषवत्त्वम् ।

चित्रलेखाद्वितीयाम् = चित्रलेखासहिताम् । विशाखा = नक्षत्रभेदः । उर्वशीसहायस्य राजर्षेरत्रोपमानं विशाखायुतश्चन्द्रस्तेनोपमेयस्य शोभातिशयो व्यञ्जयितुमिष्टः, कविसमयो हि विशाखायोगेन चन्द्रमसः समधिकशोभाशालितां समर्थयति, तथा चास्यैव शाकुन्तले—'किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्त्तेते' इति ।

प्रत्यानीता = परावर्त्तिता चैतन्यं गमिता वा । अपरिक्षतशरीरः=अनुपहतगात्रः ।

दुर्जयाः = दुःखेन जेतुं शक्याः । अतस्तस्य तज्जयेऽपि क्वचिदप्यक्षतशरीरत्वं परमप्रमोदावहं न इति भावः ।

चित्रलेखा—(व्यङ्ग्यपूर्वक) यह कौन ?

उर्वशी—हमारी सखियाँ ।

रम्भा—(सहर्ष) चित्रलेखा और उर्वशीको साथ लिये महाराज आगये, मालूम पड़ता है जैसे विशाखासे युक्त चन्द्रमा हों ।

मेनका—(देखकर) हमारे भाग्यसे दोनों अच्छा ही हुआ, हमारी सखी भी लौट आयी, और महाराजपर कोई आंच नहीं आई ।

सहजन्या—सखी, ठीक कहती हो, दानव बड़े खूंखार होते हैं ।

राजा—सूत, इदं तच्छैलशिखरम् । अवतार्यतां रथः ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (इति तथा करोति)

राजा—(चक्रोद्घातं रूपयित्वा । आत्मगतम्) हन्त ! दत्तफलो मे विषमावतारः ।

यदयं रथसंक्षोभादंसेनांसो रथोपमश्रोण्याः ।
स्पृष्टः सरोमविक्रियमङ्कुरितं मनसिजेनेव ॥ ११ ॥

सूत = रथवाह । अवतार्यताम् = नीचैरवरोप्यताम् ।

तथा करोति = रथमवतारयति ।

चक्रोद्घातम् = चक्रस्य रथाङ्गस्य उद्घातम् संक्षोभम् । रूपयित्वा = अवधार्य ।

दत्तफलः = फलप्रदः । तत्फल चात्रोर्वश्यंसेनांसदेशस्यावमर्शनम् । विषमावतारः–निम्नोन्नतभूमावववरोपणम् ।

यदयमिति । यद् यस्मात् कारणात् अयम् स्वसौभाग्यगर्वितः मम अंसः भुजशिरः रथसंक्षोभात् स्यन्दनोपघातात् रथोपमश्रोण्याः चक्रनितम्बायाः तस्याः अंसेन स्कन्धदेशेन सरोमविक्रियम् रोम्णां विक्रिया पुलकितत्वं तया सहितं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् सरोमाञ्चोदयमित्यर्थः स्पृष्टः । तस्याश्चक्रोपमपृथुवर्त्तुलश्रोण्या अंसदेशेन मदंसदंशस्पर्श एवैतद्विषमावतारस्य फलमतो न मम विषमावतारो विफल इति भावः । रोमविक्रियामुत्प्रेक्षते—अङ्कुरितमिति । मनसिजेन कामेन अङ्कुरितमिव स्फुटितमिव । अयमाशयः—एतदंसेन मदंसस्पर्शाद्यो मम रोमाञ्चोदयस्स कामाङ्कुरीभाव एवेति । अयं हि रोमाञ्चोद्गमः सात्त्विकभावस्तदुक्तं वात्स्यायनेन—'कन्या तु प्रथमसमागमे स्विन्नाङ्गुलिः स्विन्नमुखी च भवति । पुरुषस्तु रोमाञ्चितो भवति । एभिरनयोर्भावं परीक्षेत' । अत्र स्वेदरोमाञ्चाभिधानं सात्त्विकभावोपलक्षणमात्रम् , न तु नियमो विवक्षितः, एभिरिति बहुवचननिर्देशात् । सात्त्विकभावाश्च भरतोक्ताः—'स्तम्भः प्रलयरोमाञ्चौ स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू । अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ स्तम्भोऽस्मिन्निष्क्रियाङ्गता । प्रलयो नष्टसंज्ञत्वं शेषाः सुव्यक्तलक्षणाः' इति ॥११॥

राजा—सारथि, यही वह शिखर है, रथ उतारलो ।

सूत—जो आज्ञा (रथ उतारता है)

राजा—(रथका हिलना देखकर, स्वगत) मुझे इस विषम भूमिमें उतरनेका फल मिल गया ।

इस चक्रनितम्बाके कंधेसे हमारा कन्धा छूगया, उससे हमारे रोंगटे खड़े हो आये, मानो हमारे कामके अङ्कुर उग आये हों ॥ ११ ॥

उर्वशी—(सव्रीडम्) सखि किमपि परतोऽपसर । (हला किं वि परदो ओसर)

चित्रलेखा—नाहं शक्ता । (णाहं सक्का)

रम्भा—सख्यः एत प्रियकारिणं संभावयामो राजर्षिम् । (सर्वा उपसर्पन्ति) (हला एध पिअआरिणं संभावेम्ह राएसिं)

राजा—सूत, स्थापय तावद्रथम् ।

यावत्पुनरियं सुभ्रूरुत्सुकाभिः समुत्सुका ।
सखीभिर्याति संपर्कं लताभिः श्रीरिवार्तवी ॥ १२ ॥

(सूतस्तथा करोति)

सव्रीडम् = व्रीडा लज्जा तया सहितम्, लज्जा चात्र राजांसेन स्वांसदेशस्य स्पृष्टतया जनिता । नाहं शक्ता = नाहं क्षमा, परतोऽपसर्त्तुमिति शेषः, तथा कथनं च सख्या अभिप्रायं ज्ञातवत्याश्चित्रलेखाया उर्वशीकर्त्तृकराजाङ्गस्पर्शस्य मतत्वं गमयति ।

एत = आगच्छत । प्रियकारिणम् = प्रियसखीविपत्प्रतिकरणेनोपकृतवन्तम् । सम्भावयामः = सत्कुर्मः । स्थापय = निवृत्तवेगं कुरु ।

यावदिति । यावत् पुनः यावत्पर्यन्तम् इयम् समुत्सुका सञ्जातोत्कण्ठा शोभनौ भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रूः सुन्दरी उत्सुकाभिः उत्कण्ठिताभिः सखीभिः आर्त्तवी ऋतुभवा वासन्तिकीत्यर्थः श्रीः शोभा लताभिः वल्लरीभिरिव सम्पर्कं सङ्गमं याति लभते, तावद्रथं स्थापयेति पूर्वोक्तेनान्वयः । अत्र वसन्तसम्भवश्रीलतयोर्यादृशमकृत्रिमं सौहार्दं परस्परानुरञ्जकत्वं च तादृशं तत्तासामित्युपमाव्यङ्ग्यम् ॥ १२ ॥

उर्वशी—(लज्जासे) सखी, जरा उधर हट ।

चित्रलेखा—मैं असमर्थ हूँ ।

रम्भा—सखी, आओ, अपने उपकारी महाराजका स्वागत करें ।

(सभी समीप जाती हैं)

राजा—सारथि, रथको रोको ।

जबतक यह उत्कण्ठिता सुन्दरी अपनी सखियोंके साथ होले, जैसे लताओंके साथ वसन्त शोभा देती है ॥ १२ ॥

(सूत रथको रोकता है)

अप्सरसः—दिष्ट्या महाराजो विजयेन वर्धते । (दिट्ठिआ महाराओ विजएण वड्ढदि)

राजा—भवत्यश्च सखीसमागमेन ।

उर्वशी—(चित्रलेखादत्तहस्ता रथादवतीर्य) सख्यः एत पीडितां मां परिष्वजध्वम् । न खलु ममासीदाशा भूयोऽपि सखीजनं द्रक्ष्यामीति । (हला एध पीडिदं मं परिस्सजध । ण क्खु मे आसी आसा भूओ वि सहीअणं दक्खिस्सं त्ति)

(सख्यस्त्वरिताः परिष्वजन्ते)

रम्भा—सर्वथा महाराजः कल्पशतानि पृथिवीं पालयन्भवतु । (सव्वहा महाराओ कप्पसदाइं पुहविं पालअन्तो होदु).

सूतः—आयुष्मन् पूर्वस्यां दिशि महता रथवेगेनोपदर्शितः शब्दः ।

दिष्ट्या–इदमानन्दार्थकम् , 'दिष्ट्या समुपजोषं चेत्यानन्दे' इत्यमरः ।

सखीसमागमेन = विपद्ग्रस्तसखीपुनरागमेन । वर्धन्त इति बहुवचनेन विपरिणमय्य पूर्वोक्तक्रिययाऽन्वयः ।

चित्रलेखादत्तहस्ता = चित्रलेखावलम्बितकरा । पीडिताम् = दानवोपद्रवकदर्थिताम् । परिष्वजध्वम् = आलिङ्गत । आलिङ्गनकारणञ्चात्रानन्दातिरेकस्स च मुक्त्या जनितः ।

कल्पशतानि = शतसङ्ख्यककल्पपर्यन्तम् । अत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया ।

पूर्वस्यां दिशि = पूर्वदिग्विभागे । शब्द उपदर्शितः = श्रुतो पातितः, एतेन तस्या

अप्सरार्थे—भाग्यवश महाराजकी विजय हुई ।

राजा—आप लोगोंके मिलनेसे और भाग्यशाली हुआ ।

उर्वशी—(चित्रलेखाका हाथ पकड़े रथसे उतरकर) सखियों, आओ, मुझ अभागीको गले लगाओ, मुझे तो ऐसी आशा नहीं थी कि फिर तुम सखियोंको देख सकूंगी ।

(सखियाँ गले लगती हैं)

रम्भा—महाराज सौ कल्प तक पृथ्वीका पालन करते रहें ।

सूत—महाराज, पूर्व दिशाकी ओर रथवेगकी आवाज हो रही है ।

अयं च गगनात्कोऽपि तप्तचामीकराङ्गदः ।
अवरोहति शैलाग्रं तडित्वानिव तोयदः ॥ १३ ॥

(पश्यन्त्यप्सरसः)

सर्वाः—अहो चित्ररथः । (अम्मो चित्तरहो)

(ततः प्रविशति चित्ररथः)

चित्ररथः—(राजानं दृष्ट्वा । सबहुमानम्) दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान् ।

राजा—अये गन्धर्वराजः । (रथादवतीर्य) स्वागतं प्रियसुहृदे ।

(परस्परं हस्तौ स्पृशतः)

दिशः कश्चिदायातीति कल्प्यते, आगच्छँश्च महानुभावो देव एव भविष्यति, यतो हि सा दिग्देवानां स्थानम्, तदुक्तं भुवनकोशे—सद्रत्नकाञ्चनमयं शिखरत्रयं च मेरौ मुरारिकपुरारिपुराणि तेषु । तेषामधः शतमखज्वलनान्तकानां रक्षोऽम्बुपानिलक्षाशीशपुराणि चाष्टौ ।

अयमिति । गगनात् आकाशात् तप्तचामीकराङ्गदः भासुरसुवर्णनिर्मितबाहुभूषणः अत एव तडित्वान् विद्युल्लतावलयितः तोयदः मेघः इव कोऽपि अयम् शैलाग्रम् पर्वतशृङ्गम् अवरोहति आगच्छति । 'चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने' इत्यमरः ॥

महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन=इन्द्रोपक्रियासमर्थेन । विक्रममहिम्ना = पराक्रमातिशयेन ।

प्रियसुहृदे = प्रियमित्राय, अत्र 'चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः' इति चतुर्थी ।

हस्तौ स्पृशतः = हस्तग्रहो हि मित्रसङ्गमसमयानुष्ठेयः समुदाचारः । तथा

आकाशसे कोई स्वर्णकेयूरधारी पर्वतकी चोटीपर इसतरह उतर रहा है, जैसे बिजलीवाला मेघ पहाड़पर उतर रहा हो ॥ १३ ॥

(अप्सरायें देखती हैं)

सभी—अहा !! चित्ररथ !

(चित्ररथका प्रवेश)

चित्ररथ—(राजाको देखकर, आदरसे) महेन्द्रके उपकारमें लगनेवाले अपने पराक्रमसे आप विजयी होते हैं ।

राजा—अहा !! गन्धर्वराज ! (रथसे उतरकर) स्वागत प्रियबन्धु !!

(दोनों परस्पर हाथ मिलाते हैं)

चित्ररथः—वयस्य केशिना हृतामुर्वशीं नारदादुपश्रुत्य प्रत्याहरणार्थमस्याः शतक्रतुना गन्धर्वसेना समादिष्टा । ततो वयमन्तरा चारणेभ्यस्त्वदीयं जयोदाहरणं श्रुत्वा त्वामिहस्थमुपागताः । स भवानिमां पुरस्कृत्य सहास्माभिर्मघवन्तं द्रष्टुमर्हति । महत्खलु तत्रभवतो मघोनः प्रियमनुष्ठितं भवता । पश्य ।

पुरा नारायणेनेयमतिसृष्टा मरुत्वते ।
दैत्यहस्तादपाच्छिद्य सुहृदा संप्रति त्वया ॥ १४ ॥

चोक्तं भागवते—'भगवांस्तत्र बन्धूनां सर्वेषां मानमादधे । प्रह्वोऽभिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणैः' इति प्र० स्क० अ० ११ । 'समुपेत्याथ गोपाला हास्यहस्तग्रहादिभिः । विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छुः पर्युपागताः' इति द० स्क० अ० ६५ ।

केशिना = तदाख्यदैत्येन । हृताम् = चोरिताम् । प्रत्याहरणार्थम् = पुनःप्रत्यावर्त्तनार्थम् । शतक्रतुना = शतं क्रतवो यज्ञा यस्यासौ शतक्रतुरिन्द्रस्तेन । अश्वमेधशतानुष्ठानादिन्द्रः शतक्रतुरित्युच्यते । समादिष्टा = आज्ञप्ता । अन्तरा = मध्ये । चारणेभ्यः = स्तुतिपाठकेभ्यः कुशीलवाख्येभ्यः । 'चारणास्तु कुशीलवाः' इति कोशः । जयोदाहरणम् = जयख्यापकं प्रबन्धम् । तदुक्तं प्रतापरुद्रेण—'येन केनापि तालेन गद्यपद्यसमन्वितम् । जयस्युपक्रमं मालिन्यादिप्रासविचित्रकम् ॥ तदुदाहरणं नाम विभक्त्यष्टाङ्गसंयुतम्' इति । रघुवंशेऽप्यनेन कविना जयोदाहरणपदं प्रयुक्तम् , यथा—'जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किन्नरान्' इति । केचित्तु जयोदाहरणं यशः इत्याहुः, 'यशो जयोदाहरणम्' इति च तेषां समर्थको हैमकोशः । इमाम् = उर्वशीम् । पुरस्कृत्य = अग्रेकृत्वा । मघवन्तम् = इन्द्रम् । तत्रभवतः = पूज्यस्य । मघोनः=इन्द्रस्य ।

पुरा नारायणेनेति । इयम् उर्वशी पुरा पूर्वस्मिन् समये नारायणेन तदाख्येन तपस्विना मरुत्वते इन्द्राय अतिसृष्टा दत्ता । सम्प्रति सुहृदा मित्रेण त्वया दैत्यहस्तात् दानवहस्तात् अपाच्छिद्य बलादादाय अतिसृष्टा मरुत्वतेति शेषः । नारायणस्य तप-

---

चित्ररथ—मित्र, केशीने उर्वशीका हरण किया है यह बात नारदसे सुनकर इन्द्रने उसे बचानेके लिये गन्धर्व सेना भेजी पर बीचमें ही हमने आपकी कीर्त्ति सुनी, और यहाँ चले आये । अब आप इसको साथ लेकर हमलोगोंके साथ इन्द्रसे मिलें । आपने उनका बड़ा उपकार किया है । देखिये—

यह उर्वशी एकबार नारायण ऋषिके द्वारा इन्द्रको मिली और आज राक्षसोंसे छीनकर आपने इन्द्रको पुनः दी है ॥ १४ ॥

राजा—मा मैवम् ।

ननु वज्रिण एव वीर्यमेत-
द्विजयन्ते द्विषदो यदस्य पक्ष्याः ।
वसुधाधरकन्दराद्विसर्पी
प्रतिशब्दोऽपि हरेर्भिनत्ति नागान् ॥ १५ ॥

अर्थया भीत इन्द्रोऽप्सरसस्तं तपसश्च्यावयितुमादिष्टवान्, तासां प्रयासैरविचालितधैर्यश्च नारायणः स्वोरुदेशादुर्वशीमुत्पाद्य ताभ्य इन्द्रायोपहर्त्तुं प्रायच्छदिति पौराणिकीवार्त्तां मनसिकृत्यायं श्लोको रचितः । सम्प्रति चेयमुर्वशी केशिना दैत्येन ह्रियमाणा त्वया रक्षितेति द्वितीयमिदमुर्वशीकर्मकं शक्रसम्प्रदानकं दानमिति बोध्यम् ॥

मा मैवम् = एवं मा भाषिष्ठा इत्यर्थः ।

ननु वज्रिण इति । अस्य महेन्द्रस्य पक्ष्याः सपक्षा अनुगन्तारः यत् द्विषतः शत्रून् विजयन्ते निगृह्णन्ति एतत् वज्रिणः महेन्द्रस्य एव वीर्यम् पराक्रमः ननु निश्चितम् । इन्द्रसपक्षा यदरीनभिभवन्ति तदिन्द्रपराक्रमस्यैव विजृम्भितमित्यर्थः । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन समर्थयति—वसुधेति । वसुधाधरस्य पर्वतस्य कन्दरः दरी तस्माद्विसर्पति यस्तच्छीलः पर्वतकन्दरोत्थः प्रतिशब्दः प्रतिध्वनिरपि नागान् गजान् भिनत्ति दारयति । पर्वतगुहाप्रतिध्वनितं सिंहशब्दमपि निशम्य गजा विद्रवन्ति तत्र यथा सिंह एव कारणं न पर्वतकन्दरस्तद्वदिन्द्रपक्षगतैर्यदरयो जीयन्ते तत्रेन्द्रप्रभाव एव हेतुर्न तत्पक्षगतमादृशजनबाहुबलमिति राज्ञस्तात्पर्यम् । अत्रात्मनो महेन्द्रानुयायित्वनिवेदनेन राज्ञो विनयातिशयो द्योत्यते । तेन चोदात्तालङ्कारध्वनिः । शाकुन्तलेऽपीदृशः श्लोको दृश्यते—'सिद्ध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः सम्भावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम् । किंत्वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत्' ॥ दृष्टान्तोऽत्रालङ्कारः । उपजातिश्छन्दः, तल्लक्षणं यथा—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः, उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ । अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः । 'पक्ष्याः' इत्यत्र दिगादिभ्यो यत् । ननुपदमत्रावधारणे, तथा च विश्वः—'ननु प्रश्नेऽप्यनुनयेऽनुज्ञानेऽप्यवधारणे' । 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः ॥ १५ ॥

राजा—नहीं नहीं,

यह तो इन्द्रकी ही महिमा है कि उनके आदमी शत्रुओंपर विजय प्राप्त करते हैं । पर्वत कन्दरामें फैलनेवाली सिंहरवकी ध्वनि भी हाथियोंको पराभूत करती है ॥१५॥

चित्ररथः—युक्तमेतत् । अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः ।

राजा—सखे, नायमवसरो मम शतक्रतुं द्रष्टुम् । अतस्त्वमेवात्रभवतीं प्रभोरन्तिकं प्रापय ।

चित्ररथः—यथा भवान्मन्यते । इत इतो भवत्यः ।

(अप्सरसः प्रस्थिताः)

उर्वशी—(जनान्तिकम्) सखि चित्रलेखे उपकारिणमपि राजर्षिं न शक्नोम्यामन्त्रयितुम् । तत्त्वं मे मुखं भव । (हला चित्तलेहे उवआरिणं पि राएसिं ण सक्कुणोमि आमन्तेदुं । ता तुमं मे मुहं होहि)

अनुत्सेकः = गर्वराहित्यम् । विक्रमालङ्कारः = पराक्रमस्य भूषणम् , सति पराक्रमे यदि न गर्वस्तदा प्रशंसनीयः पराक्रमः, पराक्रमरहितस्तु सर्वोऽपि गर्वरहित इति भावः । अत्र स्वयं पराक्रमयुतोऽपि यत्स्वजयं भवानिन्द्रानुभावसाध्यमभिधत्ते स भवतो विनयो भवदीयं पराक्रमं भूषयतीति भावः ।

अवसरः = समयः । शतक्रतुम् = इन्द्रम् । द्रष्टुम् = वीक्षितुम् । नाहमधुना शक्रसमीपं गन्तुमवसरं लभ इत्यर्थः । अत्रभवतीम् = उर्वशीम् । प्रभोः = इन्द्रस्य । अन्तिकम् = समीपम् । नय = प्रापय ।

मन्यते=इच्छति । अहमेव भवदनुरोधेनेमा अप्सरसः शक्रसमीपं प्रापयामीत्यर्थः ।

जनान्तिकम् = 'त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् । अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्' । आमन्त्रयितुम् = आप्रष्टुम् , उचितस्त्वस्याः प्रश्नोऽत्र प्रस्थानावसरेऽस्योपकारित्वादिति भावः, मुखं भव = मया वक्तव्यं त्वं भावय, मम लज्जापराभूतायाः सामयिकं वक्तव्यं राज्ञे निवेदयेति भावः ।

चित्ररथ—ठीक है, नम्रता तो पराक्रमका भूषण ही होता है ।

राजा—मित्र, यह अवसर नहीं है कि मैं इन्द्रसे मिलूं । आप ही इन्हें इन्द्रके यहाँ पहुँचा दें ।

चित्ररथ—जैसा आप कहें । आप लोग इधर चलें ।

(अप्सरायें चल देती हैं)

उर्वशी—(छिपाकर) क्या उपकारी महाराजको हमें आमन्त्रित नहीं करना चाहिये ? तुम हमारी ओरसे उन्हें आमन्त्रित कर दे ।

चित्रलेखा—(राजानमुपेत्य) महाराज, उर्वशी विज्ञापयति महाराजेनाभ्यनुज्ञातेच्छामि प्रियसखीमिव महाराजस्य कीर्तिं सुरलोकं नेतुमिति । (महाराअ उव्वसी विण्णवेदि-महाराएण अम्भणुण्णादा इच्छामि पिअसहिं विअ महाराअस्स किंत्तिं सुरलोअं णेदुं त्ति)

राजा—गम्यतां पुनर्दर्शनाय ।

(सर्वाः सगन्धर्वा आकाशोत्पतनं रूपयन्ति)

उर्वशी—(उत्पतनभङ्गं रूपयित्वा) अहो लताविटप एकावली वैजयन्तिका मे लग्ना । (सव्याजं परिवृत्य । राजानं पश्यन्ती) चित्रलेखे, मोचय तावदेनाम् । (अम्मो लदाविडवे एआवली वैअअन्तिआ मे लग्गा । चित्तलेहे मोआवेहि दाव णं)

चित्रलेखा—(सस्मितम्) दृढं खलु लग्ना । दुर्मोचनीयेव मम प्रति-

अभ्यनुज्ञाता=अनुमता। सुरलोके महाराजस्य मदुद्धारप्रभवां कीर्त्तिं प्रचारयिष्यामीति तात्पर्यम्, उत्पतनभङ्गम् = उत्पतनस्खलितम् । रूपयित्वा = निरूप्य । कृत्रिमं स्खलनमभिनीयेत्याशयः, तथाकरणं च स्वचेतश्चौरं राजानं विलोकयितुमवसरमासादयितुमिति बोध्यम् ।

लताविटपे = लताशाखायाम् । एकावली = एकसूत्रा मौक्तिकमाला । वैजयन्तिका = आपादलम्बिनी माला । लग्ना = आसक्ता । मोचय = विश्लथय । एनाम्= लताविटपासक्तामेकावलीम् । अत्रोर्वश्याः सव्याजविलम्बनेन चित्तासङ्गाभिधा द्वितीया स्मरावस्था सूचिता । तथा चोक्तं रतिविलासेऽनुरागेङ्गितमधिकृत्य—'विलम्बन्तु पथि व्याजात्परावृत्यापि दर्शनम्' । दृढं खलु लग्ना = सुदृढमासक्ता अलग्ना·

चित्रलेखा—महाराज, उर्वशी कहती है कि यदि महाराजकी आज्ञा हो तो अपनी सखीकी तरह महाराजकी कीर्त्तिको सुरलोक ले जाऊं ।

राजा—आप जायें, फिर मिलेंगे ।

[सब अप्सरायें तथा गन्धर्व उड़ते हैं]

उर्वशी—(उड़नेमें रुकावटका अनुभव करके) अरे, इन झाड़ियोंमें हमारी एकावली फसगई है । (बहानेसे मुड़कर, राजाको देखती हुई) चित्रलेखे, जरा इसे छुड़ा तो दे ।

चित्रलेखा—(मुसकिराकर) यह तो बड़ी जोरोंसे फंसगई है, इसका छूटना

भाति । भवतु, यतिष्ये तावत् । (दिढं क्खु लग्गा । दुम्माआ विअ मे पडिहादि । होदु जदिस्सं दाव)

उर्वशी—(स्मितं कृत्वा) सखि, स्मर तावदेतदात्मनो वचनम् । (सहि, सुमरेहि दाव एदं अत्तणो वअणं)

चित्रलेखा—(मोचनं नाटयति)

राजा—(स्वगतम्)

प्रियमाचरितं लते त्वया मे गमनेऽस्याः क्षणविघ्नमाचरन्त्या ।
यदियं पुनरप्यपाङ्गनेत्रा परिवृत्तार्धमुखी मयाऽद्य दृष्टा ॥ १६ ॥

मपि मुक्तामालां लग्नामुद्गाह्य तां मोचयितुमनुरुन्धत्या उर्वश्या व्याजमनुमाय तदभिज्ञहृदयायाश्चित्रलेखायाः परिहासोक्तिरियम् । यतिष्ये = प्रयासं करिष्यामि । एतेन त्वदभिप्रायो मया विदित इति व्यञ्जितम् ।

एतदात्मनो वचनम् = सहायताकरणप्रतिज्ञारूपम् । एतेनात्र प्रणयप्रसङ्गे त्वया मत्साहायकं कर्त्तुं प्रतिजानत्या सदा सावधानया भाव्यमित्याशयः ।

प्रियमिति । लते, वल्लरि, अस्याः उर्वश्याः गमने सुरलोकप्रयाणे क्षणविघ्नम् किञ्चित्कालव्यापकं प्रतिबन्धमम् आचरन्त्या विदधानया त्वया मम प्रियम् इष्टम् आचरितम् कृतम् , यद्यतस्त्वदाचरितप्रतिबन्धजनितविलम्बवशतः इयम् अपाङ्गनेत्रा अपाङ्गप्रेरितलोचना परिवृत्तार्धमुखी वक्रीकृतग्रीवतयाऽर्धेन मुखेन मदभिमुखी पुनरपि मयाऽद्य एनां विलम्ब्येतदीयपरिवृत्तार्धमुखावलोकनावसरप्रदानं लतया ममोपकृतमिति भावः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् । अत्र राज्ञो दृढानुरागो ध्वन्यते । तेनात्र बहुलीभूतबीजस्य निश्चयापत्तिरूपतया परितो हृदये न्यसनात्परिन्यासो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् । अत्रैव च गम्यमानसुखोदयस्य स्फुरणात् प्राप्तिर्नाम सन्ध्यङ्गमप्युपक्षिप्तम् ॥ १६ ॥

कठिन है, अच्छा, कोशिश करूंगी ।

उर्वशी—(मुसकिराकर) सखी, अपनी इस बातको याद रखना ।

चित्रलेखा—(छुड़ाती है)

राजा—(स्वगत) अरी लता, तुमने इसके जानेमें विघ्न उत्पन्न करके हमारा प्रिय किया है, क्योंकि इस अर्धनयनी उर्वशीको, जो आधामुंह घुमाये हुए हैं, फिर देखनेका अवसर दिया ॥ १६ ॥

सूतः—आयुष्मन् ।

अदः सुरेन्द्रस्य कृतापराधा-
न्प्रक्षिप्य दैत्याँल्लवणाम्बुराशौ ।
वायव्यमस्त्रं शरधिं पुनस्ते
महोरगः श्वभ्रमिव प्रविष्टम् ॥ १७ ॥

राजा—तेन ह्युपश्लेषय रथं यावदारोहामि ।

(सूतस्तथेति रथमुपश्लेषयति । राजा नाट्येन रथमारोहति । उर्वशी सनिःश्वासं राजानमवलोकयन्ती सह सखीभिर्निष्क्रान्ता चित्ररथश्च)

राजा—(उर्वशीमार्गोन्मुखः) अहो नु खलु दुर्लभाभिनिवेशी मदनः ।

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती ।

अद इति । अदः इदम् वायव्यम् वायुदेवताकम् इदम् ते तव अस्त्रम् सुरेन्द्रस्य देवनायकस्य कृतापराधान् अपराधिनः दैत्यान् केशिप्रमुखान् दानवान् प्रातिस्विकरूपेण केशिनं तदनुयायिनश्चान्यान् राक्षसानित्यर्थः, लवणाम्बुराशौ क्षारसमुद्रे प्रतिक्षिप्य विनिपात्य पुनः भूयः ते तव शरधिम् निषङ्गम् महोरगः महासर्पः श्वभ्रम् बिलम् इव प्रविष्टम् प्राविशत् । यथा कश्चन सर्पः किमपि लक्ष्यं संदश्य भूयः स्वं बिलं प्रविशति तद्वत्त्वदीयमदो वायव्यमस्त्रं केशिप्रमुखान्दानवाँल्लवणाम्बुराशौ विनिपात्य त्वदीयमिषुधिं प्रविष्टम् । इदं पश्येति पूर्वेणान्वयः । उपजातिश्छन्दः ॥

उपश्लेषय = समीपमानय । दुर्लभाभिनिवेशी = असम्भवविषयकाग्रहकारी ।

एषा मन इति । एषा सुराङ्गना उर्वशी पितुर्नारायणाख्यस्य विष्णोः मध्यमम् पदम् आकाशम् उत्पतन्ती उद्गच्छन्ती मे मम पुरूरवसः शरीरात् प्रसभम् हठात्

सूत—महाराज, इन्द्रके अपराधी इन दैत्योंको लवण-समुद्रमें डुबाकर आपका यह वायव्य अस्त्र आपके तरकसमें पैठ रहा है, जैसे सांप बिलमें पैठ रहा हो ॥ १७ ॥

राजा—रथ समीप लाओ, चढ़ें ।

[सारथि रथ समीप लाता है राजा रथपर चढ़ते हैं, उर्वशी निःश्वास लेकर राजाको देखती हुई सखियोंके साथ जाती है, चित्ररथ भी जाते हैं]

राजा—(उर्वशीके मार्गकी ओर देखकर) अहो, कन्दर्प दुर्लभ वस्तुके प्रति भी अभिलाषा उत्पन्न करता है ।

आकाशकी ओर जाती हुई यह अप्सरा हमारी देहसे मनको खींच रही है

सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी ॥ १८ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति प्रथमोऽङ्कः ।

मनः कर्षति उद्धृत्य अपहरति । आकाशदेशमुत्पतन्तीयमुर्वशी मम शरीरान्मनः प्रसभं कर्षतीत्यर्थः । अत्रोपमामाह—हंसानां राजा राजहंसः राजदन्तादित्वात्पूर्वनिपातः । तस्य राजहंसस्य स्त्री राजहंसी खण्डिताग्रात् लूनप्राग्भागात् मृणालात् विसात् सूत्रम् विसतन्तुमिव अत्र खण्डिताग्रादिति विसतन्तुविशेषणेन तदुपमेयस्य राज्ञो हृदयस्य मदनशरविद्धत्वं व्यञ्जितम् । तेन च चित्तासङ्गनामा द्वितीया कामदशाऽऽवेदिता । 'मनः कर्षति' इत्यनेन राजोत्कण्ठासहकृतं देव्यास्तत्परिज्ञानं चेत्याद्यग्रिमाङ्कवस्तुबीजसूचनादङ्कावतारो नामार्थोपक्षेपकोऽयम् । तल्लक्षणं यथा—'अङ्कावसाने यत्रैव भाविनोऽङ्कस्य सूच्यते । वस्तुबीजमुपोद्घातैः सोऽङ्कावतार इष्यते' ॥ अत्र केषाञ्चित्सन्ध्यङ्गानामनुक्तत्वेऽपि न कापि क्षतिः, तदुक्तम्—'न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैर्नाटकं न दुष्यति । यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः' ॥ इति । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ १८ ॥

निष्क्रान्ताः सर्वे = रङ्गमञ्चस्थिताः सकला जना गताः । बीजार्थं युक्तियुक्तं कृत्वा पात्राणां निष्क्रमणं भवति, यदाह—'बीजार्थं युक्तियुक्तं च कृत्वा कार्यं यथारसम् । निष्क्रामं तत्र कुर्वीत सर्वेषां रङ्गवर्त्तिनाम्' ॥ इति ॥

प्रथमोऽङ्कः—अङ्कलक्षणं यथाऽऽदिभरते—'अङ्क इति रूढिशब्दो भावैश्च रसैश्च रोहयत्यर्थान् । नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद्भवेदङ्कः' ॥ 'यत्रार्थस्य समाप्तिर्यत्र च बीजस्य भवति संहारः । किञ्चिदवलग्नबिन्दुः सोऽङ्क इति सदावगन्तव्यः ॥' 'ये नायका निगदितास्तेषां प्रत्यङ्गचरितसंयुक्तः । नानावस्थाऽन्तरितः कार्यस्त्वङ्को यथार्थरसः' ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते विक्रमोर्वशीय-
'प्रकाशे' प्रथमोऽङ्क 'प्रकाशः' ।

जैसे अग्रभाग तोड़कर कमलनालसे हंसी सूत खींचती है ॥ १८ ॥

(सबका निर्गमन)

प्रथम अङ्क समाप्त

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विदूषकः)

विदूषकः—ही ही भोः निमन्त्रणिकः परमान्नेनेव राजरहस्येन स्फुटन्न शक्नोम्याकीर्णे आत्मनो जिह्वां रक्षितुम्। तद्यावत्तत्रभवान्वयस्यः कार्यासनादुत्तिष्ठति तावदेतस्मिन्विरलजनसंपाते विमानपरिच्छन्दपरिसरे स्थास्यामि। (ही ही भो णिमन्तणिओ परमण्णेण विअ राअरहस्सेण फुट्टमाणो ण सक्कुणोमि आइण्णे अत्तणो जीहं रक्खिदुं। ता जाव तत्तभवं वअस्सो कज्जासणादो उट्ठेदि ताव इमस्सिं विरलजणसंवादे विमाणपडिच्छन्दपरिसरे चिट्ठिस्सं) (परिक्रम्य तत्र स्थितः)

कथाशिल्पी कविरिदानीमङ्कान्तरमारभमाणो भाविनमर्थं सूचयितुमर्थोपक्षेपकं प्रवेशकं प्रथमं प्रस्तौति—तत इति

विदूषकः—तल्लक्षणं यथा—'विकृताङ्गवचोवेशैर्हास्यकारी विदूषकः'। साहित्यदर्पणकारोऽप्याह—'कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेशभाषाद्यैः। हास्यरतिः कलहकरो विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः'। विदूषकस्य पाठ्यं च प्राकृतम्, तदुक्तम्—'विदूषकविटादीनां पाठ्यं तु प्राकृतं भवेत्' इति। 'हीही' इति विदूषकहर्षसूचको निपातः।

निमन्त्रणिकः = भोजनायामन्त्रितो ब्राह्मणादिः। परमान्नेन = पायसेन। राजरहस्येन = राजसंबन्धिगोपनीयवृत्तान्तेन। स्फुटन् = विदीर्यमाणोदरः। आकीर्णे = जनसङ्कुले। रक्षितुम्=नियन्त्रितां स्थापयितुम्। यथा निमन्त्रणिको ब्राह्मणः पायसभृतोदरो जनाकीर्णे स्थाने संयताङ्गतयाऽवस्थातुं न पारयति किन्तु क्वचन विविक्ते निभृतप्रसारितदेहः सञ्चरस्थातुमीहते तद्वदहमपि राजरहस्येन भृतोदरोऽत्र जनसम्मर्दे जिह्वां तत्कथनप्रवृत्तां न शक्नोमि निवारयितुमित्याशयः। तत्रभवान् = पूज्यः। वयस्यः = सखा, स चेह राजा। कार्यासनात् = व्यवहारासनात्, यत्रोपविश्य राजकार्यं सम्पादयति तत्कार्यासनम्। विरलजनसम्पाते = अनतिजनाकीर्णे। विमानपरिच्छन्दपरिसरे=विमानपरिच्छन्दनामकप्रासादपर्यन्तभुवि। 'पर्यन्तभूः परिसरः' इत्यमरः।

(विदूषकका प्रवेश)

विदूषक—ही ही !! निमन्त्रित जनका पेट जिस तरह पायससे भरा रहता है उसी तरह राजरहस्यसे भरा हूँ, मैं लोगोंके बीच अपनी जीभको नहीं संभाल सकता। इसलिए जब तक राजा कचहरीसे उठते हैं तब तक इस जनशून्य विमानछन्द नामक प्रासाद प्रदेशमें ही रहूँगा। (घूमकर वहाँ बैठता है)

(ततः प्रविशति चेटी)

चेटी—आज्ञप्तास्मि देव्या काशीराजपुत्र्या यथा—हञ्जे निपुणिके यतः प्रभृति भगवतः सूर्यस्योपस्थानं कृत्वा प्रतिनिवृत्त आर्यपुत्रस्तत आरभ्य शून्यहृदय इव लक्ष्यते । तत्तस्य प्रियवयस्यादार्यमाणवकाज्जानीहि तावदस्योत्कण्ठाकारणमिति । तत्कथं खलु मया स ब्रह्मबन्धुरतिसंधेयः । अथवा विरलतृणाग्रलग्नमिवावश्यायसलिलं चिरं न तस्मिन्राजरहस्यं तिष्ठति ।

देव्या = अग्रमहिषी या कृताभिषेकाऽपि भवति तया । 'देवी कृताभिषेकायाम्' इति हेमचन्द्रः । 'हञ्जे' इदं देव्या कृतं चेटीसम्बोधनम् , 'हञ्जे हञ्जे हलाह्वाने नीचां चेटीं सखीं प्रति' इत्यमरः । सूर्यस्योपस्थानं कृत्वा=सूर्यमाराध्य । शून्यहृदयः= कस्यापि विषयस्य चिन्तया व्याक्षिप्तमानसः । माणवक इति विदूषकस्य नाम । तस्य राज्ञः प्रियवयस्यतया तद्रहस्यवेदित्वं सम्भवतीति ततस्तदौदासीन्यजिज्ञासा युक्तेति बोध्यम् । उत्कण्ठा = उत्कलिका कामादिजन्या पीडा तस्याः कारणम् , अत्रोत्कण्ठास्वरूपं तदनुभावाश्च भावप्रकाशिकायाम्—'सर्वेन्द्रियसुखास्वादो यत्रास्ते हि मनः स्त्रियाम् । तत्प्राप्तीच्छां समङ्कल्पामुत्कण्ठां कवयो विदुः' ॥ 'अन्तःसंभोगसङ्कल्पतत्तदाशावलोकनम् । अङ्गम्लानिर्मनोरक्तिर्मनोरथविचिन्तनम् ॥ अधिजानु भुजालम्बि कपोलतलमानसम् । प्रसन्नमुखरागश्च स्वेदोष्मा गद्गदा च वाक् ॥ उत्कण्ठानुभवाभावाः कथ्यन्ते भावकोविदैः' । इति । ब्रह्मबन्धुः=ब्राह्मणाधमः, ब्रह्म ब्राह्मणजातिर्बन्धुरस्येति विग्रहेण केवलं जात्यैव ब्राह्मण इत्यर्थः, 'ब्रह्मबन्धुरधिक्षेपे निर्देशे च द्विजन्मनाम्' इत्यमरः । अतिसन्धेयः = वञ्चनीयः । वञ्चयित्वा रहस्यं प्रष्टव्य इत्याशयः ।

विरलतृणाग्रलग्नम् = पृथक्पृथगवस्थिततृणशिरोदेशावस्थितम् , अवश्यायसलिलम् = नीहारजलम् । हिमबिन्दुरित्यर्थः । 'अवश्यायो हिमे दर्पे सततार्जनकर्मणि' इति विश्वलोचनः । राजरहस्यं तिष्ठति = राजसम्बन्धि गोप्यवृत्तं गुप्तं

(चेटीका प्रवेश)

चेटी—काशीराजपुत्री देवीकी आज्ञा है कि सखी निपुणिका,–'जबसे आर्यपुत्र सूर्योपस्थानसे लौटे हैं तबसे शून्यहृदय मालूम पड़ते हैं, इसलिये उनके प्रियमित्र आर्य माणवकसे उनकी उत्कण्ठाके कारणका पता लगाओ' । अतः किस प्रकार उस ब्राह्मणको ठगें ? अथवा—अकेला तृणके ऊपरी भागपर जिस प्रकार ओसकी बूंद देर तक नहीं ठहरती है उसी तरह देरतक राजरहस्य उसके पास नहीं ठहर सकेगा ।

यावदेनमन्विष्यामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) एष खल्वालिखितो वानर इव किमपि तूष्णींभूत आर्यमाणवकस्तिष्ठति यावदेनमुपसर्पामि । (उपसृत्य) आर्य वन्दे । (आणत्तम्हि देवीए कासिराअपुत्तीए जधा-हञ्जे णिउणिए जदो पहुदि भअवदो सुज्जस्स उवत्थाणं करिअ पडिणिवुत्तो अज्जउत्तो तदो आरहिअ सुण्णहिअओ विअ लक्खीअदि । ता तस्स पिअवअस्सादो अज्जमाणवआदो जाणाहि दाव से उक्कण्ठाकालणं त्ति । ता कहं खु मए सो बम्हबन्धु अदिसंधेओ । अह वा विरलतणग्गलग्गं विअ अवस्साअसलिलं चिरं ण तस्सिं राअरहस्सं चिट्ठदि । जाव णं अण्णेसामि । एसो क्खु आलिहिदो वाणरो विअ किंपि तुण्हिंभूदो अज्जमाणवओ चिट्ठदि । जाव णं उवसप्पामि । अज्ज वन्दामि)

विदूषकः—स्वस्ति भवत्यै । (आत्मगतम्) इमां दुष्टचेटिकां दृष्ट्वा तद्राजरहस्यं हृदयं भित्त्वा निष्क्रामतीव । (प्रकाशम्) निपुणिके संगीतव्यापारमुज्झित्वा क्व प्रस्थितासि । (सत्थि भोदीए । इमं दुट्ठचेडिअं पेक्खिअ तं राअरहस्सं हिअअं भिन्दिअ णिक्कमदि विअ । णिउणिए संगीदवावारं उज्झिअ कहिं पत्थिदा सि)

तिष्ठतीत्याशयः । यथा विरलतृणाग्रलग्नं हिमं चिरं नावतिष्ठते तद्धृदयमपि रहस्यं रक्षितुं न शक्त इति भावः । एतेन वञ्चनाप्रयासस्य वैयर्थ्यं व्यञ्जितम् । 'विरल' इति तृणविशेषणं हिमजलस्यास्थायित्वं द्योतयितुं घने हि तृणपुञ्जे कदाचित्तज्जलं स्थिरं स्यादपीति हृदयम् । आलिखितः = चित्रितः । किमपि = कुतोऽपि हेतोः । तूष्णींभूतः = मूकीभूयावस्थितः ।

भवत्यै = निपुणिकायै, 'नमः स्वस्ति'—इत्यादिना चतुर्थी । निष्क्रामतीव = बहिर्भवतीव । इमां चेटीं विलोक्य राजरहस्यं ममोदरं विपाट्य बहिर्गन्तुमिवेच्छतीति तात्पर्यम् ।

सङ्गीतव्यापारम् = सङ्गीतविषयकं व्यवसायम् । उज्झित्वा = विहाय । प्रस्थिता=

तब तक उसे ढूंढ निकालूं । (घूमकर तथा देखकर) यही तो चित्रित वानरकी तरह चुपचाप आर्य माणवक बैठा है । इसके समीप तो चलूं । (समीप जाकर) आर्य प्रणाम करती हूं ।

विदूषक—कल्याण हो (स्वगत) इस दुष्ट चेटीके देखनेसे वह राजरहस्य कलेजा फाड़कर निकलना चाह रहा है । (प्रकट) निपुणिका, गाना बजाना छोड़कर किधर चली हो ।

निपुणिका—देव्या वचनेनार्यमेव द्रष्टुम् । (देवीए वअणेण अज्जं एव्व पेक्खिदुं)

विदूषकः—किं तत्रभवत्याज्ञापयति । (किं तत्तहोदी आणवेदि)

निपुणिका—देवी भणति सदाप्यार्यो मयि पक्षपाती न मामनुचितवेदनादुःखितामुपेक्षत इति । (देवी भणादि सदावि अज्जो मइ पक्खवादी ण मं अणुइदवेअणादुक्खिदं उवेक्खदित्ति)

विदूषकः—(सवितर्कम्) किं वा प्रियवयस्येन तत्रभवत्याः प्रतिकूलमाचरितम् । (किं वा पिअवअस्सेण तत्तभोदीए पडिऊलं आचरिदं)

निपुणिका—आर्य यन्निमित्तं भर्तोत्कण्ठितस्तस्याः स्त्रिया नामधेयेन भर्त्रा देव्यालपिता । (अज्ज जंणिमित्तं भट्टा उक्कण्ठिदो ताए इत्थिआए णामधेएण भट्टिणा देवी आलविदा)

चलिता । आर्यम् = भवन्तम् । भवता सह मिलित्वा किमपि निवेदयितुमित्यर्थः ।

तत्रभवती = पूज्यादेवी ।

आर्यः = भवान् । मयि = मद्विषये । पक्षपाती = अनुकूलः । अनुचितवेदना = अयुक्तं दुःखम् , तया दुःखिताम् । दुःखस्यास्यायुक्तत्वं च दक्षिणस्योदात्तस्य च राज्ञो वनितान्तरासक्तिकृतम् । यद्वाऽनुचितस्य श्रोतुमयुक्तस्य पत्युः प्रियान्तरानुरागवृत्तस्य वेदना ज्ञानं तया दुःखितां सञ्जातखेदामित्यर्थः । उपेक्षितुम् = न सम्भावयितुम् । सदानुकूलस्य भवतो मम दुःखिताया उपेक्षणं नोपयुक्तमिति भावः ।

प्रियवयस्येन = राज्ञा । प्रतिकूलम् = विप्रियम् । आचरितम् = कृतम् ।

यन्निमित्तम्=यस्या वनितायाः कृते । भर्त्ता=राजा । उत्कण्ठितः=उत्सुकः, सङ्गन्तुं व्यग्र इत्यर्थः । नामधेयेन=नाम्ना, 'भागरूपनामभ्यो धेयः' इति स्वार्थिको धेयप्रत्ययः । आलपिता = सम्बोधिता । गोत्रस्खलने देवीमुर्वशीति नाम्नाऽभिहितवानित्यर्थः ।

निपुणिका—महारानीकी आज्ञासे आपसेही मिलने चली हूँ ।

विदूषक—देवीकी क्या आज्ञा है ?

निपुणिका—देवीने कहा है कि आर्य माणवक सदासे हमारे पक्षपाती रहे हैं, वे कभी हमारी बेवजह तकलीफ की उपेक्षा नहीं करते ।

विदूषक—(सोच करके) प्रिय वयस्यने क्या उनके प्रतिकूल किया है ?

निपुणिका—आर्य, राजा जिस स्त्रीके लिये उत्कण्ठित है, उन्होंने उसीके नामसे देवीको पुकारा है ।

विदूषकः—(स्वगतम्) कथं स्वयमेव तत्रभवता रहस्यभेदः कृतः। किमिदानीमहं जिह्वायन्त्रणेन दुःखमनुभवामि। (प्रकाशम्) किमामन्त्रिता तत्रभवत्युर्वशीति। तस्या अप्सरसो दर्शनेनोन्मादितस्तत्रभवान् केवलं तत्रभवतीं मामपि विनोदविमुखो दृढं पीडयति। (कहं सअं एव्व तत्तभवदा रहस्सभेदो किदो। किं दाणिं अहं जीहाजन्तणेण दुक्खं अणुहवामि। किं आमन्तिदा तत्तहोदी उव्वसित्ति। ताए अच्छराए दंसणेण उम्मादिदो तत्तभवं ण केवलं तत्तभोदिं मंपि विणोदविमुहो दिढं पीडेदि)

निपुणिका—(आत्मगतम्) कृतं मया भेदनं भर्तू रहस्यदुर्गस्य। (प्रकाशम्) आर्य किं तावद्देव्यै निवेदयामि (किदं मए भेअणं भट्टिणो रहस्सदुग्गस्स। अज्ज किं दाव देवीए णिवेदेमि)

विदूषकः—निपुणिके, विज्ञापय तत्रभवतीम्। यते तावन्मृगतृष्णिकाया

रहस्यभेदः = गोपनीयार्थप्रकाशनम्। किम् = किमर्थम्। इदानीम् = रहस्यस्य राज्ञा स्वयं बहुलीकृतत्वे। जिह्वायन्त्रणेन = रहस्यप्रकटनार्थं व्यग्रायाः स्वरसनाया निग्रहेण। दुःखमनुभवामि = खिद्ये। तत्रभवती = देवी। देवीमुर्वशीनाम्ना सम्बोधितवान् किमिति तत्प्रश्नो रहस्यं प्रकाशयति। उन्मादितः = मत्तः, उन्मादावस्थां गमित इत्यर्थः। तदुक्तं दर्पणे—'चित्तसम्मोह उन्मादः कामशोकभयादिभिः' इति। विनोदविमुखः = विहारविरक्तः। राज्ञो विहारविरागो न केवलं देवीं किन्तु मामपि पीडयतीत्यर्थः।

रहस्यदुर्गस्य = रहस्यमेव दुर्गं तस्य। दुरवगमं भर्तृरहस्यं प्रकाशितमिति मन्ये दुर्गभेद इव महत्कार्यं कृतमिति सन्तोषोक्तिश्चेद्व्याः।

यते = प्रयासं करोमि। तावत्=प्रथमम्। मृगतृष्णिकायाः = मृगमरीचिकायाः,

विदूषक—(स्वगत) उन्होंने खुद भेद खोल दिया। फिर मैं क्यों जिह्वा नियन्त्रणका कष्ट भोगूं।

(प्रकट) क्या कहा—उर्वशी! उसके दर्शनके बादसे राजा केवल उन्हें नहीं पीड़ा देते हैं, विनोदमें भाग न लेकर मुझे भी बहुत कष्ट दे रहे हैं।

निपुणिका—(स्वगत) मैंने महाराजके रहस्यका भेद पालिया। (प्रकट) मैं देवीसे क्या कहूंगी?

विदूषक—निपुणिके, देवीसे कहना—मैं प्रियवयस्यको मृगतृष्णासे रोकूंगा,

निवर्तयितुं वयस्यम् । ततो देव्या मुखं द्रक्ष्यामीति । (णिउणिए विण्णवेहि तत्तभोदिं । जदामि दाव मिअतिण्हिआदो णिवत्तेदुं वअस्सं । तदो देवीए मुहं पेक्खिस्संति)

निपुणिका—यदार्य आज्ञापयति । (जं अज्जो आणवेदि) (इति निष्क्रान्ता)

(नेपथ्ये वैतालिकः)

जयतु जयतु देवः ।

आ लोकान्तात्प्रतिहततमोवृत्तिरासां प्रजानां
तुल्योद्योगस्तव दिनकृतश्चाधिकारो मतो नः ।

अत्र तत्तुल्यतया दुर्लभदेवाङ्गनानुरक्तेरिति तात्पर्यम् । निवर्त्तयितुम् = पराङ्मुखीकर्त्तुम् । मुखं द्रक्ष्यामि = साक्षात् करिष्यामि ।

वैतालिकः = विविधेन तालेन चरतीति वैतालिकः । 'चरति' इति ठक् । विविधस्तालः प्रयोजनमस्येति वा विग्रहे 'प्रयोजनमस्य' इति ठक् । वैतालिको हि राजभवने समयविधेयादि गीतद्वारा सूचयति ।

जयतु = विजयशाली भवतु ।

आलोकान्तादिति । आलोकान्तात् संसारस्यान्तमभिव्याप्य आसाम् प्रजानाम् प्रकृतीनाम् प्रतिहततमोवृत्तिः निरस्तान्धकारप्रभावः निराकृतमानसिकतामसगुणश्च । राजा सूर्यश्चेति द्वावपि जगद्व्यापि तमो जगद्व्यापिजनमानसिकतामसगुणं च निराकुरुतः । यद्वा आलोकान्ताद् दर्शनमात्रात् आसां प्रजानां प्रतिहततमोवृत्तिः समापितग्लानिः, राज्ञोऽतिधर्मशीलत्वाद्दिनकरस्य च देवतात्मकत्वात्पावकत्वं बोध्यम् तथाहि स्मर्यते—'अग्निश्चित्कपिला सत्री राजा भिक्षुर्महोदधिः । दृष्टमात्राः पुनन्त्येते तस्मात्पश्येत्सदा बुधः' ॥ तव दिनकृतश्चाधिकारो नियोगः तुल्योद्योगः समानव्यापारः नः अस्माकम् मतः । एष ज्योतिषामधिपतिः सूर्यः क्षणं कियन्तं कालं

फिर देवीके दर्शन करूंगा ।

निपुणिका—जैसा आप कहें । (जाती है)

(नेपथ्यमें वैतालिक)

महाराजकी जय हो ! जय हो !!

सूर्य भगवान् जगत्का तम दूर करते हैं, आप भी जगत्का दुःख दूर करते हैं,

तिष्ठत्येष क्षणमधिपतिर्ज्योतिषां व्योममध्ये
षष्ठे भागे त्वमपि दिवसस्यात्मनश्छन्दवर्ती ॥ १ ॥

विदूषकः—(कर्णं दत्त्वा) एष कार्यासनादुत्थित इत एवागच्छति वयस्यः । यावदस्य पार्श्ववर्ती भवामि । (एसो कज्जासणादो उट्ठिदो इदो एव्व आअच्छदि वअस्सो । जाव से पासवत्ती होमि) (इति निष्क्रान्तः)

यावत् व्योममध्ये आकाशदेशे तिष्ठति विश्राम्यति । त्वमपि दिवसस्य दिनस्य षष्ठे भागे अष्टधा विभज्यमानस्य दिनस्य षष्ठेंऽशे आत्मनः स्वस्य छन्दवर्त्ती स्वाधीनस्तिष्ठसीति शेषः । यथा सूर्यो दर्शनमात्रेण जगद्व्यापि तमोऽपनुदति, तथैव त्वमपि जगद्विनयसे, यथा वा सूर्यः पुनाति तथैव त्वमपि पुनासि, त्वमपि केवलं दिनस्य षष्ठे भागेऽव्याहतगतिकतया वर्त्तसे तद्वत्सूर्योऽपि केवलं मध्याह्न एव व्योममध्यं समाश्रित्य तिष्ठति तन्मन्ये तव सूर्यस्य च तुल्यो व्यापार इत्यर्थः । राज्ञो हि समयो नियतविधिः केवलं दिनस्य षष्ठे भागे कामचारस्तदभिप्रायेणैवायं ग्रन्थः । अत्रेयं व्यवस्था—राज्ञा दिवसमष्टधा विभज्य तत्र प्रथमेऽग्निहोत्रब्राह्मणतर्पणादि कार्यम्, अनन्तरं व्यवहारसभा प्रवेष्टव्या, यथोक्तं मनुना—'उत्थाय चरमे यामे कृतशौचः समाहितः । हुताग्निर्ब्राह्मणाँश्चार्च्य प्रविशेत्स सभां शुभाम् ॥ दिवसस्याष्टमं भागं मुक्त्वा भागत्रयं तु यत् । स कालो व्यवहाराणां शास्त्रदृष्टः परः स्मृतः' ॥ व्यवहारदर्शनानन्तरं स्नानभोजनादि कर्त्तव्यम्, यदाह—'व्यवहारांस्ततो दृष्ट्वा स्नात्वा भुञ्जीत कामतः । भुक्तवान् विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह । विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत्' ॥ नीतिकृतोऽप्याहुः—'षष्ठे स्वैरविहारो मन्त्रो वा । सोऽस्यैतावान् विहारकालो यस्य तिस्रस्त्रिपादोत्तरा नाडिकाः' । इति । मन्दाक्रान्ताच्छन्दः, लक्षणं प्रागुक्तम् ॥ १ ॥

कार्यासनात् = व्यवहारपीठात् । वयस्यः = सखा राजेति यावत् । पार्श्ववर्त्ती = समीपगतः ।

इस तरह आपका और सूर्यका काम बराबर है । आकाशमध्यमें पहुँचनेपर कुछ क्षणोंके लिये सूर्यको विश्राम मिलता है, और आपको भी दिनके षष्ठ भागमें स्वाधीनता प्राप्त होती है ॥ १ ॥

विदूषक—(सुनकर) महाराज, राज्यासनसे उतरकर इधर ही आ रहे हैं, तब तक इनके साथ होलूं । (जाता है)

प्रवेशकः ।

(ततः प्रविशत्युत्कण्ठितो राजा विदूषकश्च)

राजा—

आ दर्शनात्प्रविष्टा सा मे सुरलोकसुन्दरी हृदयम् ।
बाणेन मकरकेतोः कृतमार्गमवन्ध्यपातेन ॥ २ ॥

प्रवेशकः = वक्तव्यस्य बहुत्वेन सर्वेषां वक्तव्यानां तत्तत्पात्रद्वारा प्रतिपादने रसभङ्गप्रसङ्गेनाधमपात्रोक्त्या प्रवेशकः क्रियते । यदाहुः—'यस्तु प्रयोगबाहुल्याद्-ङ्केऽर्थो न समाप्यते । बहुवृत्तान्तोऽल्पकथैः स विधेयः प्रवेशकैः ॥ अङ्कानामन्त-रालेषु संक्षिप्तार्थप्रयोजनैः । भृत्यवर्गे कथाबद्धो विज्ञेयोऽयं प्रवेशकः' ॥ प्रवेशके बाहुल्याच्छौरसेनी प्रयोक्तव्या, यथाह भरतः—'हीनाभ्यामेव पात्राभ्यामङ्कादौ यः प्रयुज्यते । प्रवेशकः स विज्ञेयः शौरसेन्यादिभाषया' । इति । उत्कण्ठितः = उर्वशी-विरहवेदनाविधुर इत्यर्थः ।

आदर्शनादिति । सा = प्रसिद्धसौन्दर्या सुरलोकसुन्दरी देवाङ्गना अवन्ध्यपातेन सफलपतनेन मकरकेतोः कामदेवस्य बाणेन शरेण कृतमार्गम् विहितप्रवेशद्वारम् मे मम हृदयम् चित्तम् आदर्शनात् दर्शनकालमारभ्य प्रविष्टा प्रवेशं कृतवती । यतः कालात्तामहमवालोकयं तत एवाभ्यानिन्द्यसुन्दरी सा देवललना कामस्य बाणेन भिन्नमतएव च कृतप्रवेशपथं मम हृदयं प्रविश्य स्थितास्तीति राज्ञः स्मृतिः ॥ २ ॥

इत आरभ्य बिन्दुप्रयत्नयोः समन्वयरूपः प्रतिमुखसन्धिः, तल्लक्षणं यथा—'फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः । लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत्' ॥ स चोद्भेदोऽत्रोर्वशीपुरूरवसोः समागमहेतोरनुरागबीजस्य पूर्वाङ्कोपक्षिप्तस्य चित्रलेखाविदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किञ्चिल्लक्ष्यस्य देव्या च चेटीद्वारा किञ्चिदु-न्नीयमानत्वाद् बोध्यः । बिन्दुप्रयत्नयोर्लक्षणे यथाऽदिभरतै—'प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणम् । यावत्समाप्तिं बन्धस्य स बिन्दुरिति संज्ञितः ॥ अपश्यतः फल-प्राप्तिं यो व्यापारः फलं प्रति । परं चौत्सुक्यगमनं प्रयत्नः स प्रकीर्त्तितः' ॥ इति । यथाऽत्रोर्वश्यादिगमनेन विच्छेदे सति 'आदर्शनात्प्रविष्टा' इति स्मृतिबिन्दुः । तथा—'राजा—तदुपायश्चिन्त्यतां येन सफलप्रार्थनो भवेयम्' इति प्रयत्न इति ॥

[प्रवेशक]

[उत्कण्ठित अवस्थामें राजा तथा विदूषकका प्रवेश]

राजा—कन्दर्पके अव्यर्थ बाणने हमारे हृदयमें उस देवाङ्गनाके प्रवेशका मार्ग बनादिया जिससे वह सुन्दरी दर्शन मात्रसे हमारे हृदयमें पैठ गई है ॥ २ ॥

विदूषकः—(आत्मगतम्) संपीडिता खलु तावत्तपस्विनी काशीराजपुत्री । (संपीडिदा खु दाव तवस्सिणी कासीराअउत्ती)

राजा—अपि रक्ष्यते रहस्यनिक्षेपः ।

विदूषकः—(सविषादम् । आत्मगतम्) हा धिक् हा धिक् अभिसंहितोऽस्मि दुष्टदास्या । अन्यथा न खलु वयस्य एवं पृच्छेत् । (हध्धी हध्धी अहिसंधिदोम्हि दुट्ठदासीए । अण्णधा ण खु वअस्सो एव्वं पुच्छदि)

राजा—(साशङ्कम्) किं भवांस्तूष्णीमास्ते ।

विदूषकः—एवं मया नियन्त्रिता जिह्वा यद्भवतोऽपि सहसा प्रतिवचनं न ददामि । (एव्वं मए णिअन्तिदा जीहा जं भवदोवि सहसा पडिवअणं ण देमि)

सम्पीडिता = समुपजातदुःखा, यतोऽधुनाऽपि राजा तां सुरललनां स्मरत्यतो युक्तं तस्या देव्या दुःखमिति विदूषकस्याशयः । तपस्विनी = वराकी, एतच्चानुकम्पनीयताद्योतनाय । दृश्यते चेदृशः प्रयोगो नैषधीयेऽपि—यथा-'नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी' ।

रहस्यनिक्षेपः = गोप्यवृत्तरूपो न्यासः । मया तुभ्यं यद्रहस्यमुक्तं तत्त्वया गोप्यते ? ईदृशप्रश्नेन विदूषकद्वारा रहस्यगोपनस्य दुष्करतां व्यनक्ति, तेन तस्य चाञ्चल्यं ध्वनितम् ॥

अभिसंहितः = प्रतारितः । चेटी मां प्रतार्य रहस्यं विज्ञाय च तद्बहुलीकृतवतीति विदूषकस्य चिन्ता, सा च प्रतारणा राज्ञस्तादृशेन प्रश्नेन संभाविता ।

साशङ्कम् = सभयम्, आशङ्का चात्र विदूषकस्य मौनेन । आशङ्काविषयश्च रहस्यभेदो बोध्यः । तूष्णीम् = मौनः ।

नियन्त्रिता = संयता, योऽहं भवतः प्रश्नेऽपि जिह्वां न व्यापारयामि सोऽहं रहस्यमन्यस्मै कथं निवेदयेयमिति विदूषकस्याशयः ।

विदूषक—(स्वगत) गई बेचारी काशीराजपुत्री ।

राजा—रहस्य छिपाये तो हो ?

विदूषक—(खेदपूर्वक, स्वगत) उस दुष्ट चेटीने ठग लिया । नहीं तो महाराज इस तरह क्यों पूछ रहे हैं ?

राजा—(आशङ्कित होकर) अजी, चुप्पी क्यों साधली ?

विदूषक—मैंने तो इस तरह जिह्वा नियन्त्रित करली है कि आपको भी जल्दी उत्तर नहीं देता हूँ ।

राजा—युक्तम् । अथ केदानीमात्मानं विनोदयेयम् ।

विदूषकः—महानसं गच्छावः । (महाणसं गच्छम्ह)

राजा—किं तत्र ।

विदूषकः—तत्र पञ्चविधस्याभ्यवहारस्योपनतसंभारस्य योजनां प्रेक्षमाणाभ्यां शक्यमुत्कण्ठा विनोदयितुम् । (तहिं पञ्चविहस्स अब्भवहारस्स उवणदसंभारस्स जोअणं पेक्खमाणेहिं सक्कं उक्कण्ठा विणोदेदुं)

युक्तम् = उचितम् । अत्र परिहासोऽन्तर्निहितः । विनोदयेयम् = खेदं विस्मर्तुं किमपि व्यापारान्तरमाश्रित्य प्रसादयेयमित्यर्थः, स व्यापारो हि चिन्तया मुच्यते, तथा च मेघे = 'सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः' इति ।

महानसम् = पाकस्थानम् । औदरिकस्य विदूषकस्य कृते पाकालय एव परमं विनोदस्थानमिति तथोक्तिः ।

किन्तत्र = किं तत्र विनोदावहमिति राज्ञ आशयः ।

पञ्चविधस्य = पञ्चप्रकारकस्य, ते च प्रकाराः—भक्ष्य-भोज्य-लेह्य-चोष्य-पेयरूपाः । अभ्यवहारस्य = भोजनस्य । उपनतसंभारस्य = उपस्थितसामग्रीकस्य । योजनाम् = संविधानम्, उपकरणद्रव्यैः संयोजनरूपम् । प्रेक्षमाणाभ्याम् = पश्यद्भ्याम् । शक्यम् = युज्यते । उत्कण्ठा = औत्सुक्यम् । भोजननिर्माणप्रणालीं पश्यद्भ्यां मनसो विनोदनं महानसे शक्यक्रियमिति भावः । 'शक्यं च श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम्' इति महाभाष्यप्रयोगादुत्कण्ठा विनोदयितुं शक्यमित्यत्र शक्यमित्यनेनोत्कण्ठापदस्य भिन्नलिङ्गकस्यापि सामानाधिकरण्यं साधु । तथा च वामनसूत्रम्—'शक्यमितिरूपं विलिङ्गवचनस्यापि कर्माभिधायां सामान्योपक्रमात्' इति । शकेः कर्मसामान्ये लिङ्गसर्वनामनपुंसकयुक्ते कृत्यप्रत्ययः । ततः पदार्थान्तरसम्बन्धादुपजायमानमपि स्त्रीत्वं बहिरङ्गत्वादन्तरङ्गसंस्कारं न बाधते इति शक्यं क्षुदित्युक्तम् । यदा तु पूर्वमेव विशेषविवक्षा, तदा शक्या क्षुदिति भवत्येव । यदा तु प्रतिघातस्यैव क्षुत्कर्म, शकेस्तु प्रतिघातस्तदा क्षुधं प्रतिहन्तुं शक्यमिति पूर्वोक्तभाष्यटीकायां कैयटः । एतेनात्रस्थः सर्वोऽपि संशयः समाहितो वेदितव्यः ।

राजा—ठीक है । अब इस समय दिल कहाँ बहलाया जाय ।

विदूषक—पाकालयकी ओर चलें ।

राजा—क्या है वहाँ ?

विदूषक—वहाँ नाना प्रकारके भोजनकी तैयारी देखकर दिल बहलाया जा सकता है ।

राजा—(सस्मितम्) तत्रेप्सितसंनिधानाद्भवान्रंस्यते । मया खलु दुर्लभप्रार्थनः कथमात्मा विनोदयितव्यः ।

विदूषकः—ननु भवांस्तत्रभवत्या उर्वश्या दर्शनपथं गतः ! । (णं भवं तत्तहोदीए उव्वसीए दंसणपहं गदो !)

राजा—ततः किम् ? ।

विदूषकः—न खलु सा दुर्लभेति समर्थये । (ण क्खु सा दुल्लहेत्ति समत्थेमि)

राजा—पक्षपातोऽयमवधार्यताम् ।

विदूषकः—एतावन्मन्त्रयमाणेन भवता वर्धितं मम कौतूहलम् । किं

ईप्सितस्य = अभीष्टस्य । भोजनप्रियस्य भवतो महानसं विनोदनस्थानमुपयुक्तमिति भावः । रंस्यते = प्रसादं यास्यति । दुर्लभप्रार्थनः = दुर्लभाभीष्टजनः । विनोदयितव्यः = प्रसादनीयः । यस्य यदभीष्टं स तदासादनेनैव प्रसीदत्यतो ममात्मा तत्र भोजनसामग्रीं दृष्ट्वा न कमपि परितोषं प्राप्स्यतीत्यलं तत्र मया गत्वेति राज्ञस्तात्पर्यम् ॥

दर्शनपथम् = दृग्गोचरताम् । यदि सा भवन्तं चक्षुषा वीक्षितवती तदा साऽप्यनुपमसौन्दर्यशालिनि त्वयि बद्धभावा भवेदेवैवं च नास्ति काठिन्यं संगमे परस्परानुरक्तयोर्युवयोरित्यस्य ग्रन्थस्याशयः ।

ततः किम् ? = सा वीक्षितवती मामेतावता किमायातमिति राज्ञः प्रश्नः । यथा त्वं तां साधारणयुवतीं मां च विशिष्यमाणसौन्दर्यं सम्भाव्य तर्कयसि न तथा वस्तुस्थितिरिति तात्पर्यम् ।

पक्षपातः = आत्मीयजनगुणाधिक्यविषय आग्रहः, वस्तुतस्तु सैव परमसुन्दरी मां तुच्छं प्रतीत्य नापि कामयेत, तद्दुर्लभा सेति भावः ।

मन्त्रयमाणेन = कथयता । कौतूहलम् = औत्सुक्यम् । त्वत्तोऽप्यधिकसौन्दर्या

राजा—(हंसकर) अपनी मनमानी चीजको समीपमें देखकर वहाँ तुम्हारा दिल बहलेगा, हमारा क्या उपाय होगा, हमारी प्रार्थित चीज तो वहाँ दुर्लभ ही है ।

विदूषक—क्या उर्वशीने आपको देखा है ?

राजा—इससे क्या ?

विदूषक—तब मैं उसे दुर्लभ नहीं समझता हूँ ।

राजा—आप इसे अपना हमारे प्रति पक्षपात समझें ।

विदूषक—इतना कहकर आपने हमारा कुतूहल बढा दिया क्या उर्वशी भी

तत्रभवत्युर्वश्यहमिव विरूपतयाऽद्वितीया रूपेण । (एत्तिअं मन्तअन्तेण भवदा वड्ढिदं मे कोदूहलं । किं तत्तभोदी उव्वसी अहं विअ विरूवदाए अदुदिआ रूवेण)

राजा—माणवक, प्रत्यवयवमशक्यवर्णनां तामवेहि । समासतः श्रूयताम् ।

विदूषकः—अवहितोऽस्मि । (अवहिदो म्हि)

राजा—

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः ।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ॥ ३ ॥

सेति त्वदुक्त्या तद्दर्शनविषया मदिच्छाऽतिभूमिं गतेति भावः । विरूपतया = रूपवैशिष्ट्येन, तच्च द्वेधा सर्वोत्तमतया सर्वाधमतया च । तत्रायं विदूषकस्वाभाव्येन विकृताङ्गतया सर्वाधमः स्यात् । तदियं तस्योपहासोक्तिः ।

प्रत्यवयवम् = अवयवशः, मुखं, पाणी, पादौ, इत्यादीनवयवानाश्रित्य तद्वर्णनं नितान्तकठिनम्, तत्सौन्दर्योपमानदौर्लभ्यादिति भावः । अशक्यवर्णनाम् = वर्णयितुमशक्याम् । समासतः = संक्षेपेण ।

अवहितः = दत्तावधानः ।

आभरणस्येति । सखे, मित्र विदूषक, तस्याः उर्वश्याः वपुः शरीरम् आभरणस्य मुक्ताहारादेः आभरणम् अलङ्कारकम् । अन्यासां युवतीनां शरीरशोभा मुक्ताहारादिभिरतिशयवती सम्पाद्यतेऽस्याः पुनः शरीरशोभाऽलङ्काराणामेव श्रियमुत्कर्षयतीति विचित्रमस्या वपुषः सौन्दर्यमिति भावः । अथ च तस्याः वपुः प्रसाधनविधेः कुङ्कुमचन्दनादिना शरीरशोभासम्पादनात्मनः कर्मणः प्रसाधनविशेषः किमप्युत्कृष्टं प्रसाधनम् । प्रसाधनेन न तदीयशरीरश्रीः समधिकीक्रियते किन्तु तच्छरीरसम्बन्धद्वारा स्वस्मिन्नेव विशेष आधीयत इति भावः । किञ्च तस्या वपुः उपमानस्य समधिकसौन्दर्यशालितया सुन्दरतया विवर्णयिषितस्य वस्तुनो निदर्शन-

---

हमारी ही तरह विरूपतामें बेजोड़ है ?

राजा—माणवक, उसके अवयवोंका अलग २ वर्णन असंभव है । संक्षेपमें सुन लो—

विदूषक—सावधान हूं ।

राजा—आभरणोंका आभरण, सजावटकी सजावट, और उपमानोंका उपमान उसकी देह है, वह ऐसी विलक्षण सुन्दरी है ॥ ३ ॥

विदूषकः—अतः खल भवता दिव्यरसाभिलाषिणा चातकव्रतं गृहीतम् । (अदो खु भवदा दिव्वरसाहिलासिणा चादअव्वदं गहिदं)

राजा—विविक्तादृते नान्यदुत्सुकस्य शरणमस्ति । तद्भवान्प्रमदवनमार्गमादेशयतु ।

विदूषकः—(आत्मगतम्) का गतिः । (प्रकाशम्) इत इतो भवान् । (परिक्रम्य) एतेन प्रमदवननोदितेनेव प्रत्युद्गतो भवानागन्तुको दक्षिण-

---

त्वेन सर्वसम्मतस्य चन्द्रादेः अपि प्रत्युपमानम् । अत्र वपुः पदं स्वावयवमुखादिपरम् । उपमानं ह्युपमेयापेक्षयाऽधिकगुणं मन्यते, तस्या मुखाद्यपेक्षया हीनगुणाश्चन्द्रादय—स्तदुपमानत्वा—च्च्यवमाना—स्तान्येवोपमानीकृत्योपमेयतां प्रतिपद्यन्त इति तात्पर्यम् । प्रतीपमत्रालङ्कारः । आर्याभेदो वृत्तम् ॥ ३ ॥

अतः = तस्या अतिशयवत्सौन्दर्यात् । दिव्यरसाभिलाषिणा = दिव्याङ्गनानुरागप्रणयिना । चातकपक्षे दिव्यरसो मेघजलं तदभिलाषिणा । चातकव्रतम् = चातकवदन्यनिवृत्तत्वम् । यथा चातको मेघवारि मुक्त्वा नान्यत्किमपि जलं पिपासति तथा भवानपि तदनुध्यानरतो नान्यत्र कुत्रापि रमत इति तात्पर्यम् । 'रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः । शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे' । इति विश्वः । 'दार्वाघाटोऽथ शारङ्गः स्तोककश्चातकः समाः' । इत्यमरः ॥

विविक्तात्=विजनात् । 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः । उत्सुकस्य=उत्कण्ठाव्याकुलितस्य । शरणम्=रक्षकम् । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । प्रमदवनमार्गम्=प्रमदवनस्य प्रमदाभिः सह यत्र राजा क्रीडति तादृशस्य राजविलासकाननस्य, मार्गम् = पन्थानम् । 'स्यात्तदेव प्रमदवनमन्तःपुरोचितम्' इत्यमरः । आदेशयतु = प्रदर्शयतु ।

का गतिः = क उपायः । राजाभिलषितं प्रमदवनमार्गादेशनं तदधीनेन मया कर्त्तव्यमेवेति भावः । 'वयस्यं मृगतृष्णिकाया निवर्त्तयितुं प्रयतिष्ये' इति देव्यै दत्तवचसो विदूषकस्य राजवचनपालनमनिच्छयाऽपि कर्त्तव्यतामापन्नमिति निर्विण्णस्येवेयमुक्तिः । प्रमदवननोदितेन = प्रमदवनप्रेरितेन । प्रत्युद्गतः = प्रत्युद्गमनं विधाय

विदूषक—आप इसीसे दिव्यरसकी कामनामें चातक बने हुए हैं ।

राजा—उत्कण्ठित जनके लिये एकान्तके सिवा अन्य स्थान अच्छा नहीं होता, अतः प्रमदवनका मार्ग बताओ ।

विदूषक—(स्वगत) क्या उपाय है ? (प्रकाश) इधर चलिये इधर । (चलकर) यह दक्षिण वायु आपकी अगवानी कर रही है, मानो प्रमदवनने

मारुतेन । (का गदी । इदो इदो भवं । एदेण पमदवणनोदिदेण विअ पच्चुग्गदो भवं आअन्तुओ दक्खिणमारुदेण)

राजा—(विलोक्य) उपपन्नमिदं विशेषणमस्य वायोः । अयं हि—

निषिञ्चन्माधवीमेतां लतां कौन्दीं च नर्तयन् ।
स्नेहदाक्षिण्ययोर्योगात्कामीव प्रतिभाति मे ॥ ४ ॥

सत्कृतः । आगन्तुकः = अतिथिर्नवागतः । दक्षिणमारुतेन = दक्षिणदिशाया आगच्छता वायुना । यथा कश्चन गृही कमप्यायान्तमतिथिं सत्कर्तुं स्वयं प्रत्युद्गच्छति स्वजनं वा तं प्रत्युद्गन्तुं प्रेरयति, तथैवैतत्प्रमदवनं भवन्तं नवागन्तुकं प्रत्युद्गमनेन संभावयितुं दक्षिणवातं प्रेरयति, स च दक्षिणवातो भवन्तं प्रत्युद्गच्छति, तदनेन प्रमदवनेन कृतस्वागतो भवानिति भावः । दक्षिणमारुतेनेत्यत्र दक्षिणपदमुभयार्थं दक्षिणदिगागतत्वं स्त्रीजनचित्तानुवर्त्तित्वं चाह । राज्ञा च द्वितीय एवार्थोऽवधारितस्तदेतदग्रेतनेन राजवचसा स्फुटीभविष्यति ।

उपपन्नम् = युक्तम् । इदं विशेषणम् = 'दक्षिण' पदममर्प्यम् । दक्षिणत्वविशेषणमुपपन्नमस्य वायोरिति समर्थयितुं वायुकृतं बहुस्त्रीचित्तानुवर्त्तित्वं स्फुटीकरिष्यत्यग्रिमेण श्लोकेन ।

निषिञ्चन् माधवीमिति । एताम् पुरतो वर्त्तमानाम् माधवीम् वासन्तीम् लताम् निषिञ्चन् मधुनः रेतसश्च निषेकेण मधुशालिनीम् प्रसवायापेक्षितस्याधानस्य पात्रं च सम्पादयन् कौन्दीम् माध्यपुष्पसम्बन्धिनीम् लताञ्च नर्त्तयन् स्वसम्बन्धेन लास्यं लम्भयन् (अयं वायुः पुमान्) स्नेहदाक्षिण्ययोः माधव्यां स्नेहस्य कौन्द्यान्तश्चित्तानुवर्त्तनस्वरूपस्य दाक्षिण्यस्य च योगात् सम्बन्धात् कामी कामुक इव मे प्रतिभाति प्रतिभासते । 'वासन्ती माधवी लता' 'माध्यः कुन्दः कुरण्टकः' इत्युभयत्र हारावली । स्नेहपदमत्र श्लेषेण मदप्रसेकं प्रेमप्रकाशं चाह । यथा कश्चन कामी काञ्चन युवतिं स्त्रियं रमयन् परस्यां प्रौढायां दाक्षिण्यवशादनान्तरमपि बाह्यं भावं प्रकटय्य तच्चित्तमनुवर्त्तमानो भवति तद्वदयं वायुर्माधवीं मधुना पूरयन् भ्रमरपीतरसां कौन्दीं च केवलं लास्येनानुवर्त्तत इति भावः । 'दाक्षिण्यं चेष्टया वाचा

इसे इस कार्यके लिये कहा है ।

राजा—(देखकर) यह वायु यथार्थमें दक्षिण है, यह—

माधवीलताको पुष्परससे पूर्ण भी कर रहा है और कुन्दलताको नचा भी रहा है, इस तरह प्रेम तथा चतुरताके प्रयोगसे यह कामी सा लग रहा है ॥ ४ ॥

विदूषकः—ईदृश एव तवाभिनिवेशो भवतु । (परिक्रामितकेन) एतत्प्रमदवनद्वारम् । प्रविशतु भवान् । (ईरिसो एव्व दे अहिणिवेसो होदु । एदं पमदवणदुवारं । पविसदु भवं)

राजा—प्रविशाग्रतः ।

(उभौ प्रविशतः)

राजा—(अग्रतो विलोक्य) वयस्य न मया साधु समर्थितमापत्प्रतीकारः किल प्रमदवनोद्यानप्रवेश इति ।

परचित्तानुवर्त्तनम्' इति साहित्यदर्पणः । माधव्यां कनिष्ठनायिकाव्यवहारस्य कौन्द्यां च ज्येष्ठनायिकाव्यवहारस्यात्र स्फुटोपलब्धिः । निषेकार्थोऽत्र निषिञ्चतिः प्रयुक्तः स्फुटं गर्भाधानं गमयन् कामक्रीडायां पर्यवस्यतीति बोध्यम् । निषेकपदस्य गर्भाधानार्थत्वे मनुरपि प्रमाणम्–'निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः' इति ॥४॥

ईदृशः=यादृशो वायोर्व्यवहारस्तादृश इत्यर्थः । अभिनिवेशः=चित्तासङ्गः । यथायं वायुर्नवां माधवीं रमयन्नपि कौन्दीं नर्त्तयित्वा गूढापरागतामवलम्बते तद्वत्त्वमपि क्वचिदप्सरस्यनुरज्यन्नपि राज्ञ्यां दाक्षिण्यं मा हासीरिति वक्तव्यहृदयम् । परिक्रामितकेन=परावृत्येत्याशयः । तथाकरणं च गन्तव्यप्रमदवनद्वारस्य प्राप्तत्वेन ।

अग्रतः=प्रथमम्, यथा त्वमधुनावधि मदग्रेसरः सन्नायातस्तथैवाधुना प्रवेशावसरेऽपि व्यवहर, नास्ति प्रयोजनं शालीन्यवशेन मामग्रे कृत्वा स्वयं पश्चादवस्थानस्येति राज्ञः सौहार्द्द्योतिनीयमुक्तिः ।

समर्थितम्=चिन्तितम् । साधु=उपयुक्तम् । आपत्प्रतीकारः=मनस्तापदूरीकरणोपायः । उद्यानम्=उपवनम् । प्रमदवनोद्यानं प्रविष्टस्य मम मनस्तापस्तत्रत्येन विनोदेन शाम्येदिति मया चिन्तयित्वाऽत्रागतं परमत्र तूष्णीपनसामग्री प्रस्तुता, तन्मम तथा चिन्तनमनुपयुक्तं प्रतीयत इति भावः ।

विदूषक—आपकी भी ऐसी ही बुद्धि हो । (चलकर) यह रहा प्रमदवनका द्वार, भीतर चलिये ।

राजा—पहले तुम चलो ।

(दोनोंका प्रवेश)

राजा—(आगे देखकर) मैंने आपत्तिका प्रतिकार ठीक नहीं सोचा । प्रमदवनोद्यानमें आना ठीक नहीं हुआ ।

विविक्षुर्यदहं तूर्णमुद्यानं तापशान्तये ।
स्रोतसेवोह्यमानस्य प्रतीपतरणं हि तत् ॥ ५ ॥

विदूषकः--कथमिव । (कहं विअ)

राजा--

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारं
प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति ।
किमुत मलयवातोन्मूलितापाण्डुपत्रै-
रुपवनसहकारैर्दीशतेष्वङ्कुरेषु ॥ ६ ॥

विविक्षुरिति । अहम् तापशान्तये मनःखेदनिवारणाय तूर्णम् झटिति यत् उद्यानम् प्रमदवनम् विलासकाननम् विविक्षुः प्रवेष्टुकामः अस्मि तत् मम शान्तये प्रमदवनप्रवेशः स्रोतसा धारया उह्यमानस्य नीयमानस्य प्रतीपतरणम् प्रतिकूलप्लवनम् इव । यथा धारया नीयमानः कोऽपि प्रबलयाऽपि स्वत्राणेच्छया प्रतिकूलं तरन् न तटमासादयेत्तद्वदहमपि सन्तापशान्तये प्रमदवनमागतोऽत्रोद्दीपककुसुमसमृद्ध्युपलब्ध्या समधिकां वेदनामेवानुभवामि न शान्तिमिति भावः । उपमाऽत्रालङ्कारः ॥ ५ ॥

कथमिव = तापशान्तये भवतः प्रमदवनोद्यानप्रवेशः स्रोतसि प्रतीपतरणमिवेति भवदुक्तिः कथं सङ्गच्छत इति प्रश्नः ।

इदमिति । असुलभम् सुखेन लब्धुमशक्यम् यद् वस्तु पदार्थः उर्वशीरूपः तस्य प्रार्थना प्राप्त्यभिलाषः ततः दुर्निवारम् वारयितुमशक्यम् इदम् मे मम मनः (कर्म) पञ्चबाणः कामः प्रथमम् पूर्वम् अपि क्षिणोति कृशतां नयति । उर्वशीरूपदुर्लभपदार्थप्रार्थनालुब्धमिदं मम मनः कामः पूर्वत एव संतापयतीत्यर्थः । मलयवातेन मलयपर्वतागतवायुना दक्षिणानिलेनेत्यर्थः । उन्मूलितानि निरवशेषं पातितानि आपाण्डुपत्राणि पुराणदलानि येषाम् तैः उपवनसहकारैः उद्यानाम्रतरुभिः अङ्कुरेषु किस-

---

सन्तापशान्तिके विचारसे इस उद्यानमें आना ठीक वैसा ही हुआ जैसे कोई तरङ्गमें बहता हुआ व्यक्ति तरङ्गाभिमुख तैरे ॥ ५ ॥

विदूषक—किस तरह ?

राजा—दुर्लभवस्तुकी कामना करनेवाले हमारे हृदयको काम पहले भी सताता था, यहाँके सहकारवृक्षके पुराने पत्ते जब मलयवातसे उड़ने लगेंगे, तब न जाने उसकी क्या हालत होगी ? ॥ ६ ॥

विदूषकः—अलं परिदेवितेन । अचिरेण तवेष्टसंपादयिताऽनङ्ग एव सुखदो भविष्यति । (अलं परिदेविदेण । अइरेण दे इच्छिअसंपादइत्तओ अणङ्गो एव्व सुहदो भविस्सदि)

राजा—प्रतिगृहीतं ब्राह्मणवचनम् ।

(परिक्रामतः)

विदूषकः—पश्यतु भवान् वसन्तावतारसूचकमभिरामत्वं प्रमदवनस्य । (पेक्खदु भवं वसन्तोदारसूअअं अहिरामत्तणं पमदवणस्स)

राजा—ननु प्रतिपदमेवावलोकयामि । अत्र हि

लयेषु दर्शितेषु प्रकटितेषु किमुत किं वक्तव्यम् ? यस्य मम मनोऽलभ्यलाभप्रार्थिनः पूर्वमपीतः कामपीडा नाल्पा किमु वक्तव्यमधुना वसन्तावतारे पाण्डुपत्रपातेन धृतनवीनपल्लवानामाम्रतरूणां शोभया तस्य मनसो दशाया विषय इत्याशयः । 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभः' इत्यमरः । मालिनीवृत्तम् 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणात् ॥ ६ ॥

परिदेवितेन = विलपितेन । किमपि फलं नास्य भवतः परिदेवितस्येत्याशयः । इष्टसम्पादयिता = मनोरथपूर्त्तिकरः । योऽधुना तव व्यथकः कामः स एव त्वया प्रार्थ्यमानाया अप्यप्सरसः सन्तापकरः सन् भवता योजनां सङ्घटयेदित्यर्थः ।

प्रतिगृहीतम् = सत्यत्वेन ब्राह्मणवचनमङ्गीकृतम् । प्रतिपूर्वकस्य ग्रहेर्यद्यपि 'प्रतिग्रहः स्वीकरणे सैन्यपृष्ठे पतद्ग्रहे । योग्येभ्यो विधिवद्देये तद्ग्रहे च ग्रहान्तरे' इति मेदिनीकोशस्मरणादनेकार्थत्वं तथाप्यत्र स्वीकारमात्रमर्थः, यथा रघुवंशे—'अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः' इति ।

वसन्तावतारसूचकम् = वसन्ताख्यस्यर्त्तोरवतारः समागमनं तस्य सूचकम् पिशुनम् । प्रमदवनस्य = प्रमदोद्यानस्य । प्रमदोद्यानस्याभिरामत्वं वसन्तावतारं सूचयतीत्यर्थः ।

प्रतिपदम् = पदेपदे इत्यर्थः । अवलोकयामि = पश्यामि । अत्र = वसन्तावतारे ।

विदूषक—विलाप व्यर्थ है । कन्दर्प ही तुम्हारे अभीष्टका सम्पादन करके तुम्हारे लिये सुखका दाता होगा ॥ ६ ॥

राजा—ब्राह्मणकी बात सिर आंखोंपर ।

[दोनों चलते हैं]

विदूषक—देखें महाराज, वसन्तागमनसे यह प्रमदवन कितना रम्य हो रहा है ।

राजा—पद पदपर देख रहा हूँ, यहाँ—स्त्रियोंके नखकी तरह रक्तवर्ण

अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरवकं श्यामं द्वयोर्भागयो-
र्बालाशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति ।
ईषद्बद्धरजःकणाग्रकपिशा चूते नवा मञ्जरी
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीः स्थिता ॥७॥

विदूषकः—एष मणिशिलापट्टकसनाथोऽतिमुक्तलतामण्डपो भ्रमरसंघट्टपतितैः कुसुमैः स्वयमिव कृतोपचारो भवन्तं प्रतीच्छति । तदनुगृह्यतां तावदेषः । (एसो मणिसिलापट्टअसणाहो अदिमुत्तलदामण्डवो भमरसंघट्टपडिदेहिं कुसुमेहिं सअं विअ किदोवआरो भवन्तं पडिच्छदि । ता अणुगेण्हीअदु दाव एसो)

अग्रे स्त्रीति । अग्रे पुरोदेशे स्त्रीनखपाटलम् वनितानखवच्छ्वेतरक्तम् द्वयोर्भागयोः श्यामम् कृष्णच्छवि कुरवकम् तदाख्यया प्रसिद्धं पुष्पम् , वर्त्तत इति शेषः । उपोढः उपचितः यः रागः रक्तिमा तेन सुभगम् रमणीयम् बालाशोकम् बालाशोकपुष्पम् भेदोन्मुखम् विकासाय सन्नद्धम् तिष्ठति ईषद्बद्धाः किञ्चित्संबद्धाः ये रजसः कणास्तैरग्रे कपिशा कृष्णपीता नवा मञ्जरी चूते आम्रतरौ तिष्ठति । इत्थम् सखे, मधुश्रीः वसन्तलक्ष्मीः मुग्धत्वस्य बाल्यस्य यौवनस्य च मध्येऽन्तरे स्थिता वर्त्तत इति शेषः । आद्यपादद्वयेन मधुश्रियो बाल्यावस्था, तृतीयेन च यौवनम् । वसन्तावतारक्रमश्चानेनैव कविनाऽन्यत्रोक्तः—'कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्' इति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ७ ॥

मणिशिलापट्टकसनाथः = स्फटिकनिर्मितासनपट्टिकायुक्तः । अतिमुक्तलता = माधवीलता । 'अतिमुक्तः पुण्ड्रकः स्याद्वासन्ती माधवी लता' इति त्रिकाण्डी । भ्रमरसङ्घट्टपतितैः = षट्पदसम्पर्कविगलितैः । कृतोपचारः = समाहृतस्वागतसंभारः । प्रतीच्छति = संभावयति । शाकुन्तलेऽप्यस्य कवेरीदृश्युक्तिर्दृश्यते—'मणिशिलापट्टकसनाथो माधवीमण्डपः·····स्वागतेनेव नौ प्रतीच्छति' । इति । एषः = माधवीमण्डपः । अनुगृह्यताम् = अनुकम्प्यताम् । अत्रोपवेशनमेव तदनुग्रहः ॥

पाटल है जिसके दोनों हिस्से काले हैं, अतिसुन्दर बालाशोक खिलने खिलनेपर है, आममें मञ्जरी लग रही है जिसे पराग पीली बना रहे हैं, इस तरह यह वासन्ती शोभा बाल्य और यौवनके बीचसे गुजर रही है ॥ ७ ॥

विदूषक—यह माधवीलतामण्डप आपका स्वागत करता है, भौंरे इधर उधर दौड़कर फूल गिरा रहे हैं, आसनार्थ मणिशिला रखी हुई है । कुछ देर इसे सनाथ करें ।

राजा—यथा रोचते भवते ।

(परिक्रम्योपविष्टौ)

विदूषकः—इह सुखासीनो भवान् ललितलताविलोभ्यमाननयन उर्वशीगतामुत्कण्ठां विनोदयतु । (इह सुहासीणो भवं ललिदलदाविलोहीअमाणणअणो उव्वसीगदं उक्कण्ठं विणोदेदु)

राजा—(निःश्वस्य)

मम कुसुमितास्वपि सखे नोपवनलतासु नम्रविटपासु ।
चक्षुर्बध्नाति धृतिं तद्रूपालोकदुर्ललितम् ॥ ८ ॥

यथा रोचते भवते = त्वदभिमतस्यात्रोपवेशनेनैतदनुग्रहणस्य पक्षे ममापि न विरोध इति भावः ।

सुखासीनः = सानन्दमुपविष्टः । ललिताः रमणीयाः लताः वल्ल्यः ताभिः विलोभ्यमाने आकृष्यमाणे नयने लोचने यस्य तादृशः, रमणीयमाधवीलताकृष्यमाणदृष्टिरित्यर्थः । उर्वशीगताम् = उर्वशीविषयाम् । उत्कण्ठाम् = दर्शनेच्छाम् । विनोदयतु = शमयतु । मनोज्ञवेशा ललना इव पुष्पगुच्छादिमण्डिता नयनहारिणीरिमा लताः पश्यतस्तवोत्कण्ठा शाम्येत्सदृशदर्शनस्योत्कण्ठानिवर्त्तकतया स्वीकृतत्वादिति भावः ।

ममेति । सखे, प्रियमित्र विदूषक, कुसुमितासु सञ्जातपुष्पासु नम्राः अवनताः विटपाः शाखाः यासाम् तासु उपवनलतासु उद्यानवल्लरीषु अपि तद्रूपालोकदुर्ललितम् तस्याः उर्वश्याः रूपं तस्यालोको दर्शनं तत्र दुर्ललितम् दुराग्रहि तद्रूपैकदर्शनाभिनिवेशीत्यर्थः मम चक्षुः धृतिम् प्रीतिम् न बध्नाति नादधाति । यद्यपि एतदुद्यानलताः कुसुमिता नतशाखाश्चेति युज्यतेऽत्र स्त्रीसादृश्याच्चक्षुषोऽनुरागः परं

राजा—जैसी तुम्हारी इच्छा ।

(चलकर बैठते हैं)

विदूषक—आप यहाँ आरामसे बैठें, आपकी उर्वशीविषयक उत्कण्ठा कुछ अंशोंमें यहाँ शान्त होगी जब आप यहाँ लताओंको देखेंगे ।

राजा—(निश्वास छोड़कर) शाखासे झुकी तथा फूलोंसे लदी इन उपवनलताओंपर भी हमारी आँखें नहीं रुकनी चाहतीं हैं, इन्होंने उर्वशीको जो देखा उससे इनकी कामना बहुत बढ़ गई है ॥ ८ ॥

तदुपायश्चिन्त्यतां यथा सफलप्रार्थनो भवेयम् ।

विदूषकः—(विहस्य) भो अहल्याकामुकस्य महेन्द्रस्य वैद्य उर्वशीपर्युत्सुकस्य भवतोऽहमपि द्वावत्रोन्मत्तौ । (भो अहल्लाकामुअस्स महिन्दस्स वेज्जो उव्वसीपज्जुच्छुअस्स भवदो अहंवि दुवे एत्थ उम्मत्तआ)

राजा—मा मैवम् । अतिस्नेहः खलु कार्यदर्शी ।

विदूषकः—एष चिन्तयामि । मा पुनस्त्वं परिदेवितेन मम समाधि

मम चक्षुषस्तु कथैवान्या तद्ध्युर्वशीरूपमात्रावलोकनाग्रहितयाऽत्र नाश्रयति प्रीतिमिति किमाचरामि परवशोऽहमिति भावः । कुसुमितत्वं लतायाः स्त्रियाश्चाकर्षकत्वे हेतुः नतशाखात्वमपि स्त्रियां नम्रतापर्यवसायीति बोध्यम् । आर्याभेदो वृत्तम् ॥ ८ ॥

सफलप्रार्थनः = सिद्धाभिलाषः । तादृशमुपायं कुरु येनोर्वशीदर्शनेन मनस्तापं शमयेयमलमत्रोद्याने मनोविनोदस्याशया, 'पिपासुता शान्तिमुपैति वारिजा न जातु दुग्धान्मधुनोऽधिकादपि' इत्यस्य न्यायस्य सदा ध्यातव्यत्वादिति भावः ।

अहल्या = पुराणप्रसिद्धा गौतमपत्नी, तस्याः कामुकः अभिलषिता जारः । तस्येन्द्रस्येत्यर्थः । वैद्यः सहायकश्चन्द्रः । पुरा चन्द्रोऽहल्याकामुकत्वेन पारदार्याय व्यवस्यतः शक्रस्य साहाय्ये प्रवृत्तो गौतमाश्रमसविधे गत्वाऽसमय एव रुतं चकार, तद्रुतश्रवणोपजातप्रातःकालोपनिपातभ्रमश्च गौतमो नदीतीरं प्रतस्थेऽत्रान्तरे लब्धावसरः शक्रो गौतमरूपमाश्रित्याहल्याशयनं भेज इत्यादिरत्र पौराणिकी कथा हृदयम् । उर्वशीपर्युत्सुकस्य उर्वशीप्राप्तये नितान्तमुत्ताभ्यतः । अयमाशयः—अहल्याजारस्य शक्रस्य साहायकं कुर्वाणश्चन्द्रो यथा विदितरहस्यस्य गौतमस्य कोपस्य पात्रं जातस्तथाऽहमपि तवात्रोर्वशीप्रणयप्रसङ्गे सहायत्वेन गण्यमानो देव्याः कोपस्य भाजनं जायेय, अतो द्वयोरप्यावयोः समैवोन्मत्ततेति ।

अतिस्नेहः=प्ररूढः प्रणयः । कार्यदर्शी=कर्त्तव्यावभासकरः । स्नेहस्यूतं हि हृदयमन्यस्य कार्यं चेतसा साधयितुमिच्छति, जानामि च तवाकृत्रिममात्मन्यनुरागमतोऽत्र त्वां व्यापारयामि, तन्माऽनिष्टशङ्कया विरंसीरिति भावः ।

चिन्तयामि = भावयामि, उपायमिति शेषः । परिदेवितेन = विलापेन, समा-

---

विदूषक—(हंसकर) अजी, अहल्याके प्रार्थी महेन्द्रके लिये अश्विनीकुमार और उर्वशीकामुक आपके लिये मैं दोनों पगले सावित हो रहे हैं ।

राजा—नहीं नहीं, ऐसी बात नहीं, अतिस्नेह कोई न कोई मार्ग खोज लेता है ।

विदूषक—सोचता हूँ । आप विलापकरके समाधिमें विघ्न मत उत्पन्न करें ।

भिन्धि । (इति चिन्तां नाटयति) (एसो चिन्तेमि । मा उण तुमं परिदेविदेण मम समाधिं भिन्धि ।

राजा—(निमित्तं सूचयित्वा । आत्मगतम् ।)

न सुलभा सकलेन्दुमुखी च सा किमपि चेदमनङ्गविचेष्टितम् ।
अभिमुखीष्विव काङ्क्षितसिद्धिषु व्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः ॥ ९ ॥

(जाताशस्तिष्ठति)

धिम् = चेतस एकतानताम् । भिन्धि = विघटय । ध्यानमाधायोपविश्य कमप्यर्थं चिन्तयतस्तद्ध्यानभङ्गस्तत्समाधिभङ्ग इत्याख्यायते ।

निमित्तम् = शुभसूचकशकुनादि । तच्चात्र दक्षिणबाहुस्पन्दनादि संभवति । 'निमित्तं हेतुलक्ष्मणोः' इत्यमरः ।

न सुलभेति । कलाभिः द्युतिभिः सहितः सकलः पूर्णो य इन्दुः चन्द्रस्तद्वन्मुखम् यस्याः सा सकलेन्दुमुखी पूर्णचन्द्रवदना सा उर्वशी सुलभा अप्रयाससमासादनीया न च नास्तीति । किमपि कुतोऽप्यविभाव्यमानात् कारणात् इदम् अनपलपनीयस्वरूपम् अनङ्गविचेष्टितम् कामचेष्टा दक्षिणाक्षिस्फुरणादि च भवतीति शेषः । चकारद्वयोपादानमुभयोर्विरोधगमकम् । मनः मम चित्तम् काङ्क्षितसिद्धिषु मनोरथपूर्त्तिषु अभिमुखीषु उदयप्रवणीभूतासु इव एकपदे सपदि निर्वृतिम् व्रजति सुखमनुभवति । उर्वश्या अनायासलभ्यत्वाभावस्य सुप्रतीतत्वेऽपि दक्षिणाक्षिस्फुरणादि यज्जायते तदविभाव्यकारणकमेव । नैतावदेव, किन्त्वधुना मम मनः सिद्धावासन्नायामिव प्रसीदति तदवश्यमहं तद्दर्शनाधिगमसौभाग्यवान् भवेयमिति ममाशंसेति भावः । 'तत्क्षणैकपदे तुल्ये सद्यः सपदि च स्मृतम्' इति हलायुधः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम्, 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति तल्लक्षणात् । अत्र जाताशस्तिष्ठतीत्यनेन नायिकासंभोगविषयिणी स्पृहा प्रदर्शिता, तेन च विलासो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तं भवति ॥ ९ ॥

(चिन्ताका स्वाङ्ग भरता है)

राजा—(शकुन विचारकर, स्वगत)

यद्यपि पूर्णचन्द्रमुखी उर्वशी सुलभ नहीं है, फिर भी कन्दर्प इस तरहकी चेष्टा कर रहा है, मेरी मनोदशा ऐसी हो रही है जैसे हमारे मनोरथ सिद्ध होनेपर आगया होवे ॥ ९ ॥

(आशावान् सा दिखाई पड़ता है)

(ततः प्रविशत्याकाशयानेनोर्वशी चित्रलेखा च)

चित्रलेखा—हला, क्वानिर्दिष्टकारणं गम्यते । (हला, कहिं अणिद्दिट्ठकालणं गच्छीअदि)

उर्वशी—सखि तदा हेमकूटशिखरे लताविटपेन क्षणविघ्निताकाशगमनां मामुपहस्य किमिदानीं पृच्छसि । (सहि तदा हेमऊडसिहरे लदाविडवेण खणविग्घिदाआसगमणं मं ओहसिअ किं दाणिं पुच्छसि)

चित्रलेखा—किं तस्य राजर्षेः पुरूरवसः सकाशं प्रस्थिताऽसि । (किं तस्स राएसिणो पुरूरवस्स सआसं पत्थिदासि)

उर्वशी—अयं ममापहस्तितलज्जो व्यवसायः । (अअं मे अवहत्थिदलज्जो ववसाओ ।)

आकाशयानेन यानं गमनं मार्गो वा, 'करणाधिकरणयोश्च' इति ल्युट् ।

अनिर्दिष्टकारणम् = अनिरूपितहेतुकम् , अनिर्दिष्टं कारणं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथेति विग्रहः ।

तदा = तस्मिन् समये यदा वयमपह्रियमाणा आस्म रक्षिता राज्ञा, प्रथमाविर्भूततत्स्नेहा चाहं तमालोकितुं व्याजमन्वैषयं तस्मिन् काले इत्यर्थः । लताविटपेन = लतागुल्मेन, लताया विटपो न भवति तदङ्गान्येव तद्विटपाः । क्षणविघ्नितागमनाम् = कियत्कालप्रतिबद्धनभोगतिम् । अयमाशयः–यदाहं लताविटपेनालम्बितवसनामात्मानं प्रदर्श्य स्वीये वियत्सञ्चारे विघ्नमिव प्रकाश्य व्यलम्बिषि तद्दर्शनलोभेन, तदवध्येव त्वमवैषि मम मनोगतामत्र राजनि प्रीतिमिति सम्प्रति 'क्वानिर्दिष्टकारणं गम्यते इति तावकीनः प्रश्नो नितान्तनिरर्थक इति ।

सकाशम् = समीपम् । प्रस्थितासि = चलितासि ।

अपहस्तितलज्जः = अगणितलज्जः, व्यवसायः = अध्यवसितम् । अत्र सङ्कल्पत्रपा-

---

(आकाशमार्गसे उर्वशी और चित्रलेखाका प्रवेश)

चित्रलेखा—सखी, विना किसी कारणके कहाँ जा रही हो ?

उर्वशी—सखी, हेमकूट शिखरपर लतागुल्ममें उलझ जानेसे गमन विघ्न हो गया था तब तुमने उपहास किया, फिर अब क्या पूछती हो ?

चित्रलेखा—क्या उसी राजर्षि पुरूरवाके यहाँ चली हो ?

उर्वशी—मेरा वही यह निर्लज्ज उद्योग है ।

चित्रलेखा—कः पुनः सख्या पुरतः प्रेषितः । (को उण सहीए पुढमं पेसिदो)

उर्वशी—हृदयम् । (हिअअं)

चित्रलेखा—स्वयमेव साधु संप्रधार्यतां तावत् । (सअं एव्व साहु संपधारीअदु दाव)

उर्वशी—मदनः खलु मां नियोजयति । किमत्र संप्रधार्यते । (मअणो खु मं णिओएदि । किं एत्थ संपधारीअदि)

नाशाद्यवस्थाः सूचिताः । दशरूपके नायिका अष्टविधा उक्ताः 'तासामष्टाववस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः' इति, तास्वियं विरहोत्कण्ठिताऽभिसारिका च तदुक्तं तत्रैव–'कामार्त्ताऽभिसरेत् कान्तं सारयेद्वाऽभिसारिका' । मदनराजीयेऽप्युक्तम् ,— 'मदेन मदनेनापि प्रेरिता शिथिलत्रपा । योत्सुकाऽभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाऽभिसारिका' । ये तु नायकयोरन्योन्यसङ्केतात्पूर्वं नाभिसारं युक्तमुत्प्रेक्षन्ते, तेषां मते त्विय विरहोत्कण्ठितैव नाभिसारिकेति बोध्यम् ।

पुरतः = अग्रे । एवं हीदृशीनां स्वयं प्रियतममभिसरन्तीनां नायिकानां समयो यत्ताः स्वगमनात् पूर्वं सङ्केतादिसूचनार्थं कमपि प्रियतमपार्श्वे प्रेषयन्ति, तदभिसन्धायैवायं प्रश्न इति बोध्यम् । हृदयम् = स्वीयं मनः, अस्य पूर्वं प्रेषित इत्यनेनान्वयः । तथा च लिङ्गं विपरिणमय्य प्रेषितमिति करणीयम् । मनसि दूतभावेन प्रेषितत्वेनोच्यमाने तद्गतमनस्कताप्रतीत्या कर्त्तव्याविवेकस्य क्षन्तव्यताऽर्थापतिता भवति ।

साधु = सम्यक् । सम्प्रधार्यताम् = अत्र कार्ये औचित्यानौचित्ये विविच्येताम् । अयमाशयः–राज्ञे मनः समर्प्य स्वयमभिसरन्त्यास्तवेयं साहसिकता युक्ताऽयुक्ता वेति विचारो जनान्तराशक्यकर्त्तव्यभावः तदादिकारणभूतस्य मनोऽर्पणस्य कमप्यनापृच्छ्यैव कृतत्वादिति ।

मदनः = कन्दर्पः । नियोजयति = प्रवर्त्तयति । स्वाधीनप्रवृत्तिर्हि कस्मिंश्चन कार्ये करिष्यमाणे कस्यापि सम्मत्या निर्णयति, परवतः पुनरन्यैव स्थितिः, विचारवत्परतन्त्रस्य कदाचित्स्यादपि विवेचनावसरलाभः, मदनस्योन्मादकतया प्रसिद्धस्य वशे स्थितानां तु का कथा तथाविधस्थितिलाभस्येति तात्पर्यम् । अत्र धैर्यं नाम सत्त्वजो भावः स्त्रीणामलङ्कार उक्तः ।

चित्रलेखा—तुमने आगे किसे भेजा है ?

उर्वशी—हृदयको ।

चित्रलेखा—स्वयं भलीभांति सोच लो ।

उर्वशी—कन्दर्प मुझे प्रेरित कर रहा है, यहाँ क्या सोचा जाय ।

चित्रलेखा—अतः परं नास्ति ममोत्तरम् । (अदो वरं णत्थि मे उत्तरं)

उर्वशी—तेन ह्यादेशय मार्गं येन गच्छन्त्या अन्तरायो न भवेत् । (तेण हि आदेसेहि मग्गं जेण गच्छन्तीए अन्तराओ ण भवे)

चित्रलेखा—सखि विश्रब्धा भव । ननु भगवता देवगुरुणा अपराजितां नाम शिखाबन्धनविद्यामुपदिशता त्रिदशप्रतिपक्षस्यालङ्घनीये कृते स्वः । (सहि विस्सद्धा होहि । णं भअवदा देवगुरुणा अवराइदं णाम सिहाबन्धणविज्जं उवदिसन्तेण तिदसपडिवक्खस्स अलङ्घणिज्जा कदम्ह)

उत्तरम = वक्तव्यम् । मदनपरवशया त्वया कृतस्य कार्यस्यौचित्यविवेचनं सर्वथा निरर्थकं दुरर्थकञ्च, तदत्र त्वदभीष्टानुवर्त्तनमेव मम कर्त्तव्यं न वाक्योवाक्यविधिना त्वन्मनःखेदोत्पादनमिति भावः ।

आदेशय = प्रदर्शय । अन्तरायः = विघ्नः, स चात्र परदर्शनादिजन्मा बोध्यः, 'विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः' इत्यमरः ।

विश्रब्धा = विश्वासवती । भगवता = पूज्येन । देवगुरुणा = बृहस्पतिना । अपराजितेति शिखाबन्धनविद्याविशेषस्य नाम । तथा च वृद्धवामकेश्वरतन्त्रे—श्रीशङ्कर उवाच राज्यं देयं शिरो देयं भार्या देया महेश्वरि । शिखाबधिनी विद्यैषा न देयेत्यागमा जगुः' ॥ मन्दवारेऽसुराशायां गतां मुञ्जां समुद्धरेत् । वामहस्तेन दिग्वासा मनुमेनं समुच्चरन् ॥ नमः सिद्धेश्वरि मातस्ततः पितृवनं गतः । सूक्ष्मं मुञ्जगुणं कृत्वा चितावह्नौ च धूपयेत् ॥ उद्बन्धनमृता नारी नेत्रकेशैस्तथैव च । असितोतोरपरया लब्धया स्वतियुक्तितः । कृष्णाशोकोत्तराशाखाद्विकनीडोद्भवाङ्कुरैः । एतैश्च धूपितां रज्जुं प्लावयेद्रजसि स्त्रियाः । चाण्डालिन्यास्ततो रज्जुं मन्त्रेणानेन मन्त्रयेत् ॥ 'ओ नमः सर्वजनमनश्चक्षुस्तिरस्करणं कुरु कुरु स्वाहा । तया निजशिखां बद्ध्वा चैनमेव मनुं पठन् । क्षणाददृश्यतां याति देवानामपि साधकः ॥ पुनः कौशिकधूमेन दृश्यो भवति मानवः । योगोऽयमन्यथा न स्यान्निसत्यं शङ्करोदितम् ॥ इति वृद्धवामकेश्वरतन्त्रोक्ता अपराजिताशिखाबन्धनी विद्या समाप्ता ॥ त्रिदशप्रतिपक्षस्य = देवविरोधिनः दैत्य-

---

चित्रलेखा—इसपर मुझे कुछ नहीं कहना है ।

उर्वशी—तब कुछ ऐसा मार्ग बताओ जिसके अनुसार चलनेपर विघ्नका सामना न करना पड़े ।

चित्रलेखा—सखी, विश्वास रखो । बृहस्पति द्वारा उपदिष्ट अपराजिता नाम शिखाबन्धनीविद्याके प्रभावसे देवविरोधियोंके लिये हम अदृश्य हो गई हैं ।

उर्वशी—अहो ! विस्मृतं मम हृदयम् । (अहो ! विसुमरिदं मे हिअअं)

(सिद्धमार्गमवगाह्य)

चित्रलेखा— सखि, एतद्भगवत्या भागीरथ्या यमुनासंगमविशेषपावनेषु सलिलेष्ववलोकयत इव आत्मानं प्रतिष्ठानस्य शिखाभरणभूतं राजर्षेर्भवनमुपगते स्वः । (सहि एदं भअवदीए भाईरहीए जमुणासंगमविसेसपावणेसु सलिलेसु अवलोअन्तस्स विअ अत्ताणअं पइट्ठाणस्स सिहाभरणभूदं राएसिणो भवणं उवगद म्ह)

समूहस्य । अलङ्घनीये = अप्रधृष्यस्य, अनतिक्रमणीयस्येत्यर्थः, शिखाबन्धनीनामकविद्यायाः प्रभावेण कस्यापि गोचरतां न यास्यावस्तदलं तच्छङ्कया, कामं विहितामित्याशयः ॥

विस्मृतम् = विसस्मार, अत्र कर्त्तरि क्तश्चिन्तनीयः ।

सिद्धमार्गम् = सिद्धाख्यदेवयोनिविशेषसञ्चरणपथम् । अयं च मार्गो भूमितलान्नातिविप्रकृष्ट इति । कथनस्वरसः, तथा सति राजभवनदर्शनस्य सम्भवात् । सिद्धस्थानस्य भूमितलान्नातिविप्रकृष्टत्वे 'उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते सानूनि यस्यातपवन्ति सिद्धाः' इति कुमारसम्भववर्णनाऽप्यनुकूला ।

एतत् = अग्रे दृश्यमानम् । भगवत्याः = पूज्यायाः । भागीरथ्याः = गङ्गायाः । अस्य सलिलेष्वित्यनेनान्वयः । यमुनासङ्गमविशेषपावनेषु = कालिन्दीपयसा मिलितत्वेन सातिशयपवित्रताकरेषु । प्रतिष्ठानस्य नगरस्य । भागीरथ्या यमुनासङ्गमविशेषपावनेषु सलिलेषु आत्मानं विलोकयत इव प्रतिष्ठानस्य शिखाऽऽभरणभूतं राजर्षेर्भवनमुपगते स्व इत्यन्वयः । यमुनया सङ्गताया भागीरथ्याः पयसि प्रतिबिम्बितो नगरविशेषस्यालङ्कारभूतं नृपभवनं प्राप्ते स्व इत्यर्थः । आत्मानमवलोकयत इत्यनेन नगरस्य तटवर्त्तित्वं जलस्य नैर्मल्यं च व्यज्यते । शिखाभरणभूतमिति राजभवनस्य हृदयावर्जकत्वद्योति । यमुनासङ्गतगङ्गाजलस्य सविशेषपावनत्वे श्रुतिः—'सितासिते सरितौ यत्र सङ्गते तत्राप्लुतासो वियदुत्पतन्ति' इति । 'ये वै तन्वा विसृजन्ति धीरास्ते वैजना अमृतत्वं भजन्ते, इति च । स्मृतिरप्याह—

उर्वशी—मैं यह भूल रही थी ।

[सिद्धमार्गमें आकर]

चित्रलेखा— यही तो प्रतिष्ठानका अलङ्कार राजर्षि पुरूरवाका भवन है जो गङ्गा-यमुना सङ्गमके पवित्र जलराशिमें अपनेको निरख रहा है ।

उर्वशी—(विलोक्य) ननु वक्तव्यं स्थानान्तरगतः स्वर्ग इति । (विचार्य) हला क नु खलु स आपन्नानुकम्पी भवेत् । (णं वत्तव्वं ठाणन्तरगदो सग्गोत्ति । हला कहिं णु खु सो आवण्णाणुकम्पी भवे)

चित्रलेखा—एतस्मिन्नन्दनवनैकदेश इव प्रमदवनेऽवतीर्य ज्ञास्यावः । (एदस्सिं णन्दणवणेक्कदेसे विअ पमदवणे ओदरिअ जाणिस्सामो)

(उभे अवतरतः)

चित्रलेखा—(राजानं दृष्ट्वा । सहर्षम्) सखि एष खलु प्रथमोदित इव भगवांश्चन्द्रः कौमुदीमिव त्वां प्रतीच्छति । (हला एसो खु पढमोदिदो विअ भअवं चन्दो कौमुदिं विअ तुमं पडिच्छदि)

'या गतिर्योगयुक्तस्य तत्त्वज्ञस्य मनीषिणः । सा गतिस्त्यजतः प्राणान् गङ्गायमुनसङ्गमे' । इति ॥ गङ्गायमुनासङ्गमे स्वमवलोकयतः प्रतिष्ठानस्येत्यनेन 'झूसी' नामकं साम्प्रतिकं नगरमेव तदा पुरूरवसो नगरमासीदिति कथयन्ति लोकाः ।

विलोक्य = दृष्ट्वा, नगरमिति योजनीयम् । स्थानान्तरगतः = अन्यत्र स्थापितः । आपन्नानुकम्पी = विपन्नोपकर्त्ता, एतेन विपन्नां त्वां प्रति कृतपूर्वस्योपकारस्य स्मरणं, सम्प्रति कामपीडितायास्तस्याः स्वीकारेणापदस्तस्या उद्धरणं च सम्भवीति च व्यञ्जितम् । अत्र परिसर्पो नाम सन्ध्यङ्गम्, 'इष्टनष्टानुसरणं परिसर्पश्च कथ्यते' इति च तल्लक्षणम् । इष्टस्याभिलषितस्य पुरूरवसो नष्टस्यादर्शनं गतस्यानुसरणमन्वेषणम् ।

नन्दनवनैकदेशे = नन्दनवनं महेन्द्रोद्यानं तस्यैकत्र भागे । प्रमदवने = अन्तःपुरिकासञ्चरणोपयोगिनि राजोद्याने । अवतीर्य = वियतोऽधोदेशमुपसद्य धरणीमासाद्येत्यर्थः ।

प्रथमोदितः = प्रथममुदितः नवोदय इत्यर्थः । कौमुदीम् = चन्द्रज्योत्स्नाम् ।

उर्वशी—(देखकर) इसे तो स्थानान्तरगत स्वर्ग ही कहना चाहिये । (सोचकर) आपत्तिमग्नोंके उद्धारक वह कहाँ होंगे ?

चित्रलेखा—नन्दनवनके एकदेशतुल्य इस प्रमदवनमें उतरकर जान पायेंगी ।

(दोनों उतरती हैं)

चित्रलेखा—(राजाको देखकर, सहर्ष) यह प्रथमोदित चन्द्रकौमुदीकी तरह महाराज तुम्हारी प्रतीक्षामें हैं ।

उर्वशी—(विलोक्य) सखि इदानीं प्रथमदर्शनात्सविशेषं प्रियदर्शनो महाराजः प्रतिभाति । (हला दाणिं पुढमदंसणादो सविसेसं पिअदंसणो महाराओ पडिहादि)

चित्रलेखा—युज्यते । तदेहि । उपसर्पावः । (जुज्जदि । ता एहि । उवसप्पम्ह)

उर्वशी—तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना पार्श्वगताऽस्य भूत्वा श्रोष्यामि तावत् । पार्श्वपरिवर्तिना वयस्येन सह विजने किमपि मन्त्रयमाणस्तिष्ठति । (तिरक्खरिणीपडिच्छण्णा पासगदा से भविअ सुणिस्सं दाव । पासपडिवत्तिणा वअस्सेण सह विअणे किंपि मन्तअन्तो चिट्ठदि)

चित्रलेखा—यथा ते रोचते । (जह दे रोअदि) (यथोक्तमनुतिष्ठतः)

यथाऽचिरोदितश्चन्द्रः स्वप्रकाशाय कौमुदीं प्रतीच्छति तथैवायमिह प्रमदवने त्वां प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति, त्वयैवोपलब्धयाऽस्यापि प्रकाशस्थानीयस्य हृदयानन्दस्य संभवित्वादिति भावः ।

प्रथमदर्शनात् = सर्वप्रथमसाक्षात्कारापेक्षया । सविशेषम् = समधिकम् । प्रियदर्शनः = सुन्दरावलोकः । युज्यते = युक्तम्, आद्यदर्शनं यादृशं रूपं राज्ञस्तादृशमेवाधुनापि रूपं परं सम्प्रति स्निग्धया दृशा पश्यन्त्यास्तव दृष्टौ स समधिकं प्रियदर्शनः प्रतीयतेव, नैतद्युक्तमित्याशयः ।

तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना = तिरस्करिण्या अन्तर्धानविद्यया प्रतिच्छन्ना अन्तर्हिता । तिरस्करिणीनामान्तर्धानविद्या यस्याः प्रयोगादगोचरता संहाराच्च गोचरता जायते ।

यथोक्तमनुतिष्ठतः = तिरस्करिणीप्रयोगाददृश्ये भूत्वोपसर्पत इत्यर्थः ।

उर्वशी—(देखकर) सखी, प्रथमदर्शनकी अपेक्षा आज महाराज और सुन्दर दीख पड़ते हैं ।

चित्रलेखा—ठीक है । आओ, समीप चलें ।

उर्वशी—तिरस्करिणीमें छिपी हुई महाराजके पास जाकर सुनूं तबतक । मित्रके साथ एकान्तमें कुछ बातें कर रहे हैं ।

चित्रलेखा—जैसी तुम्हारी इच्छा । (यथोक्त आचरण करती है)

विदूषकः—भोः चिन्तितो मया दुर्लभप्रणयिनीसमागमोपायः । (भो चिन्तिदो मए दुल्लहप्पणइणीसमाअमोवाओ)

राजा—(तूष्णीमास्ते)

उर्वशी—का नु खल्वेषा स्त्री अनेन प्रार्थ्यमानाऽऽत्मानं विकत्थते । (का णु क्खु एसा इत्थिआ इमिणा पत्थिअमाणा अत्ताणअं विकत्थेदि)

चित्रलेखा—किं पुनर्मानुष्यं विडम्ब्यते । (किं उण माणुस्सअं विडम्बीअदि)

उर्वशी—बिभेमि सहसा प्रभावाद्विज्ञातुम् । (भयामि सहसा पहवादो विण्णादुं)

विदूषकः—ननु भणामि चिन्तित उपाय इति । (णं भणामि चिन्तिदो उवाओ त्ति)

दुर्लभप्रणयिनीसमागमोपायः = दुर्लभा सुखेन लब्धुमशक्या या प्रणयोऽस्या अस्तीति प्रणयिनी प्रेयसी तस्याः समागमः सङ्गमस्तस्योपायः पन्थाः । येनोपायेन दुर्लभा प्रेयसी शक्यसमागमा जायते तमुपायमहं चिन्तया ध्यानाध्वनीनं कृतवत्य-स्मीत्याशयः ।

तूष्णीमास्ते = न किमपि वक्ति, एतेन राज्ञस्तदुपायेऽविश्वासोऽन्यमनस्कता वा व्यज्यते ।

अनेन = राज्ञा । प्रार्थ्यमाना = काम्यमाना । आत्मानं विकत्थते = स्वं श्लाघते, दर्पेणानेन प्रार्थनायां कृतायामपि स्वस्मिन्बहुमानेनास्य प्रणयं नाभिनन्दतीत्याशयः ।

मानुष्यम् = मानवत्वम् । विडम्ब्यते = अनुक्रियते । अयमाशयः—का नायि-काऽस्य राज्ञो मनोगता प्रार्थितदुर्लभा चेति वस्तु दिव्या त्वं प्रभावाज्ज्ञातुं समर्था सत्यपि किमिति मानुषीवाज्ञानेन पर्याकुला भवसीति ।

प्रभावाद्विज्ञातुम् = किमपि निमित्तान्तरमनुपलभ्य केवलं प्रभावमहिम्ना स्ववि-षयामेवास्य प्रार्थनां प्रत्येतुं बिभेमि, राजचित्तस्य नितान्तचञ्चलत्वादिति भावः ।

विदूषक—अजी, मैंने दुर्लभ प्रेयसीके समागमका उपाय सोच निकाला ।

(राजा चुप रहते हैं)

उर्वशी—कौन ऐसी स्त्री है जिसे यह चाहते हैं और वह बन रही है ।

चित्रलेखा—क्या मनुष्योंकी नकल करी है ?

उर्वशी—हठात् प्रभावद्वारा जाननेमें भय हो रहा है ।

विदूषक—अजी, मैं कह रहा था मैंने उपाय सोच निकाला ।

राजा—तेन हि कथ्यताम् ।

विदूषकः—स्वप्नसमागमकारिणीं निद्रां सेवतां भवान् । अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिमालिख्यावलोकयंस्तिष्ठतु । (सिविणसमाअमआरिण णिद्दं सेवदु भवं । अहवा तत्तभोदीए उव्वसीए पडिकिदिं आलिहिअ ओलोअन्तो चिट्ठ)

उर्वशी—(सहर्षम्) हीनसत्त्व हृदय समाश्वसिहि समाश्वसिहि । (हीणसत्त हिअअ समस्सस समस्सस)

राजा—उभयमप्यनुपपन्नम् ।

हृदयमिषुभिः कामस्यान्तः सशल्यमिदं सदा
कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम् ।

स्वप्नसमागमकारिणीम् = स्वप्ने समागमः स्वप्नसमागमस्तं करोतीति ताम् । सेवताम् = आश्रयतु, निद्रां लब्ध्वा प्रियतमां साक्षात्करोतु, निद्रायाः प्रभावेण व्यवहितस्याप्यर्थस्य संभवति सङ्गमः 'अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम्' इति हर्षोक्तिरपि साक्षित्वमत्रार्थे करोति ॥ अथवा-पक्षान्तरे । प्रतिकृतिम् = चित्रम् । आलिख्य = निर्माय । चित्रस्य शिलादिषु धातुरागादिभिर्निर्माण एवालिखतेः प्रयोगः, तथा च मेघे—'त्वामालिख्य प्रणयकुपिताम्' इति ।

हीनसत्त्व = अधम, अनुदार । एतच्च हृदयस्य शङ्कितत्वादुक्तम् ।

उभयम् = द्वयम्, स्वप्ने साक्षात्करणम्, चित्रगतायास्तस्या आलोकनं वा, तदिदं द्वयमपि नोपपन्नम्, अन्तःसन्तापेन स्वप्नसाधनीभूताया निद्राया अलभ्यत्वात्, नयनबाष्पोदयेन चित्रनिर्माणस्याशक्यत्वाच्च, तदिदमुपपादयिष्यति श्लोकेनाग्रिमेण ।

हृदयमिति । सखे, इदम् हृदयम् ममेदं मानसम् कामस्य मदनस्य इषुभिः बाणैः सदा सर्वकालम् सशल्यम् सव्रणम् सवेदनमित्यर्थः (एवं स्थितौ) स्वप्ने समागमकारिणीम् स्वप्नदशायाम् संगमस्य साधनीभूताम् निद्राम् कथमुपलभे

राजा—तब कहो ।

विदूषक—स्वप्नमें मिला देनेवाली निद्राकी उपासना करें अथवा उर्वशीकी छवि अङ्कितकर उसे देखा करें ।

उर्वशी—(सहर्ष) कमजोर हृदय, अब तो धीरज धर ।

राजा—दोनोंमेंसे एक भी ठीक नहीं है,

कन्दर्पके बाणोंने हृदयको इस तरह वेध दिया है कि स्वप्नसमागमकारिणी

न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य तां
मम नयनयोरुद्बाष्पत्वं सखे न भविष्यति ॥ १० ॥

चित्रलेखा—सखि श्रुतं त्वया । (सहि सुदं तुए)

उर्वशी—श्रुतम् । न पुनः पर्याप्तं हृदयस्य । (सुदं । ण उण पज्जत्तं हिअअस्स)

विदूषकः—एतावान्मम मतिविभवः । (एत्तिओ मे मदिविहवो)

राजा—(सनिःश्वासम्)

समासादयामि । सवेदने हृदयेऽस्वास्थ्यवशान्निद्राया दुरापत्वादिति भावः । न च आलेख्ये चित्रे अपि ताम् सुवदनाम् सुमुखीम् ताम् प्रियाम् उर्वशीम् । असमाप्य पूर्णामविधाय मम नयनयोः नेत्रयोः उद्बाष्पत्वम् प्रवृत्ताश्रुधारत्वम् न भविष्यति । अयमाशयः—स्वप्नसमागमकरी निद्राऽपि दुरापा, मनसः सवेदनत्वेनास्वास्थ्यात् चित्रगतोर्वशीसाक्षात्कारोऽपि नामाद्यः, असमापित एव चित्रेऽश्रुधाराप्रवृत्तेस्तथा चोपायद्वयमपि भवता प्रदर्श्यमानमकिञ्चित्करमिति । हरिणीवृत्तम्—'नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणीति सा' इति च तल्लक्षणम् ॥ १० ॥

श्रुतम् = आकर्णितम् , त्वद्विषय हयतीमतिभूमिं गतो राज्ञः प्रेमा येनायमित्थं विषीदति तद्धधान धैर्यमिति तात्पर्यम् । पर्याप्तम् = अलम् , हृदयधैर्यमुत्पादयितुं न पर्याप्तमेतावच्छ्रवणं किन्तु परस्परालाप एव तथेति तन्नावाप्यते यावत्तदवसरस्तावत्कुतो धैर्यमिति भावः ।

एतावान् = एतत् परिमाणमस्येत्येतावान् हयन्मात्र इत्यर्थः । मतिविभवः = बुद्धिप्रभावः । हयती केवलं मम बुद्धिः प्रभवति चिन्तयितुं यदसन्निहितां प्रेयसीं प्रेक्षितुं निद्रा चित्रनिर्मितिश्चेति द्वौ मार्गौ । तयोश्चानभ्युपायत्वे नान्यदुपायान्तरमहं क्षमश्चिन्तयितुं तद् भावय स्वयं स्वकरणीयमिति विदूषकस्याशयः ।

निद्रा आने नहीं पाती, रही चित्र देखनेकी बात । जबतक चित्र पूर्ण न हो जाय तबतक अगर मैं अपनी आंखोंकी अश्रुधारको रोक सकूं तो ऐसा हो सकता है, परन्तु यह होनेका नहीं है ॥ १० ॥

चित्रलेखा—सखी, सुना तुमने ।

उर्वशी—सुना । फिर भी हृदय नहीं भरता ।

विदूषक—मेरी तो इतनीही अक्ल है ।

राजा—(निःश्वास लेकर) या तो उर्वशी हमारी इन कठिन मनोव्यथाओंको

नितान्तकठिनां रुजं मम न वेद सा मानसीं
प्रभावविदितानुरागमवमन्यते वाऽपि माम् ।
अलब्धफलनीरसान्मम विधाय तस्मिञ्जने
समागममनोरथान्भवतु पञ्चबाणः कृती ॥ ११ ॥

चित्रलेखा—श्रुतं त्वया । (सुदं तुए)

उर्वशी—हा धिक् हा धिक् । मामेवमवगच्छति । असमर्थास्म्यग्रतो

नितान्तकठिनामिति । सा उर्वशी मम नितान्तकठिनाम् अतिशयदुःसहाम् मम मानसीम् हार्दिकीम् रुजम् पीडाम् न वेद न जानाति । तस्या मम प्रेयस्या मद्विषये पीडितत्वज्ञानं नास्ति कथमन्यथा सा मामुपेक्षेतेत्यर्थः । ननु ज्ञायमानत्वत्पीडाऽपि त्वदनुरागाज्ञानात्संभवति त्वदुपेक्षेति कृत्वाह—प्रभावेति । प्रभावेण स्वीयया दैव्या शक्त्या विदितः ज्ञातोऽनुरागः प्रेमा यस्य तादृशमपि माम् अवमन्यते वा असंभावनया तिरस्करोति वा । नहि प्रेमपरायणमुपेक्षितुं तादृश्यो वराङ्गना युज्यन्त इति भावः । उर्वशी मद्विषये कामकृतां स्थितिं न जानाति, कारणादस्मादेवोपेक्षते, नान्यथा तयोपेक्षा कर्त्तुं शक्यते, तादृशसत्त्वानामतथास्वभावत्वप्रसिद्धेरिति तत्त्वम् , एवं गते भाविनमर्थमाह—अलब्धेति । पञ्च बाणाः यस्य सः पञ्चबाणः कामः तस्मिन् उर्वशीलक्षणे जने मम समागममनोरथान् प्राप्त्यभिलाषान् अलब्धम् अनधिगतम् फलम् यैस्तादृशान् अत एव नीरसान् अनास्वाद्यान् विधाय कृत्वा कृती कृतकृत्यो भवतु । कामस्तस्यां ममानासादितसिद्धितया व्यर्थानभिलाषानुत्पाद्य जायतां कृतार्थ इति भावार्थः । कामस्य पञ्चबाणा उक्ता यथा—'अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका । नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः' ॥ इति । अथवा—'सम्मोहनोन्मादनौ च शोषणस्तापनस्तथा । स्तम्भनश्चेति कामस्य पञ्च बाणाः प्रकीर्त्तिताः' । अत्रोपायान्तरादर्शनात्तापनं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् , तदुक्तं साहित्यदर्पणे विश्वनाथेन—'उपायादर्शनं यत्तु तापनं नाम तद् भवेत्' इति । पृथ्वीवृत्तम् , तल्लक्षणं यथा—जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' ॥ ११ ॥

एवम् = ईदृशीम् , मम मानसीं रुजं न वेदेत्येतादृशीम् , विदितानुरागस्यापि

जानती ही नहीं है या प्रभावद्वारा हमारे अनुरागको जानकर भी हमारा अपमान कर रही है । निरर्थक होनेके कारण विरस हमारे मनोरथोंकी सृष्टिकर कन्दर्पको ही हमें सतानेमें सफलता प्राप्त हो ॥ ११ ॥

चित्रलेखा—सुना तुमने ।

उर्वशी—हा धिक् ! वह मुझे इस तरह की समझ रहे हैं । सामने जाकर

भूत्वाऽस्य प्रतिवचनस्य । प्रभावनिर्मितेन भूर्जपत्रेण संपादितोत्तरा भवितुमिच्छामि । (हद्धी हद्धी । मं एव्वं अवगच्छदि । असमत्थम्हि अग्गदो भविअ से पडिवअणस्स । पहावणिम्मिदेण भुज्जवत्तेण संपादिदुत्तरा होदुं इच्छामि)

चित्रलेखा—अनुमतं मम । (अणुमदं मे)

उर्वशी—(ससंभ्रमं गृहीत्वा तथोक्तं करोति)

विदूषकः—(दृष्ट्वा) अविहा अविहा । भोः किं नु खल्वेतद्भुजङ्गनिर्मोक इव संमुखेऽस्माकं निपतितम् । (अविहा अविहा । भो किं णु खु एदं भुअङ्गणिम्मोअं विअ संमुहे णो णिवडिदं)

राजा—(विभाव्य) भूर्जपत्रगतोऽयमक्षरविन्यासः ।

विदूषकः—न खल्वदृष्टया तत्रभवत्योर्वश्या भवतः परिदेवितं श्रुत्वा

तस्योपेक्षामाचरन्तीम् इति वा, उभयथापि ज्ञायमानत्वं ममाधन्यत्वं प्रकाशयति, तद्धिज्ञामधन्यामित्यर्थः । असमर्थाः अक्षमा । अग्रतो भूत्वा = पुरोऽवस्थाय । प्रतिवचनस्य = उचितोत्तरप्रदानविधेः । अस्य राज्ञः समीपे पुरोऽवस्थायेदमीयाशङ्कानिवारणक्षममुत्तरं प्रदातुं न क्षमे, शालीनस्वभावत्वादित्यर्थः । प्रभावनिर्मितेन = स्वसामर्थ्यप्रकटीकृतेन । आसादितसिद्धयो हि जना असत्स्वप्युपकरणेषु किमपि वस्तु प्रकटयन्ति तदभिमानेनायं ग्रन्थः । सम्पादितोत्तरा = भूर्जपत्रलिखितस्ववक्तव्या । अनुमतम् = अनुज्ञातम् । भूर्जपत्रे स्वं वक्तव्यमुल्लिख्य राजानं परिबोधयामीति त्वदनुष्ठाने ममापि सम्मतिरिति भावः ।

'अविहा अविहा' इति भयसूचने आक्रोशे च प्रयुज्यते । भुजङ्गनिर्मोकः = सर्पकञ्चुकः । 'निर्मोको मोचने व्योम्नि संनाहे सर्पकञ्चुके' इति कोषः ।

अक्षरविन्यासः = लेखः ।

अदृष्टया = प्रच्छन्नया । तत्रभवत्या = पूजनीयया । परिदेवितम् = विलपितम् ।

इसका उत्तर तो मैं दे न सकूँगी । प्रभावसे भूर्जपत्र पैदाकरके उत्तर देना चाहती हूँ ।

चित्रलेखा—मैं इसमें सहमत हूँ ।

उर्वशी—(शीघ्रतासे भूर्जपत्र लेकर वैसा करती है)

विदूषक—(देखकर) हाय हाय ! सांपके कँचुलकी तरह यह कौन चीज सामने गिरी है ।

राजा—(विचारकर) भूर्जपत्रपर कुछ लिखा हुआ है ।

विदूषक—कहीं ऐसी बात तो नहीं है कि प्रच्छन्नरूपमें वर्त्तमान उर्वशीने

समानानुरागसूचकान्यक्षराणि विसृष्टानि स्युः । (ण खु अदिट्ठाए तत्तहोदीए उव्वसीए भवदो परिदेविदं सुणिअ समाणाणुरागअसूअआइं अक्खराइं विसज्जिआइं होन्ति)

राजा—नास्त्यगतिर्मनोरथानाम् । (गृहीत्वानुवाच्य । सहर्षम्) सखे प्रसन्नस्ते तर्कः ।

विदूषकः—भवानिदानीं प्रसीदतु । अत्र लिखितं श्रोतुमिच्छामि । (भवं दाणिं पसीददु । एत्थ लिहिदं सुणिदुं इच्छामि)

उर्वशी—साधु आर्य नागरिकोऽसि । (साहु अज्ज णागरिओसि)

राजा—श्रूयताम् । (वाचयति)

स्वामिन्संभाविता यथा हं त्वयाऽज्ञाता ।
तथानुरक्तस्य यदि नाम तवोपरि ॥ १२ ॥

समानानुरागसूचकानि = साऽपि भवता तुल्यमेवानुरागं बिभर्त्तीति प्रतिपादकानि । विसृष्टानि = प्रेषितानि । स्युरिति संभावनायां लिङ् । संभाव्यते तत्रभवत्योर्वश्या स्वसमस्नेहतासूचकमिदं पत्रं प्रहितं स्यादिति भावः ।

मनोरथानाम् = अभिलाषाणाम् , अगतिः = अविषयः । नास्ति किञ्चिदपि तादृशं यदाशाविषयो न स्यात् कामस्यानियन्त्रितत्वात् । तथा चास्यैव कुमारसंभवे—'मनोरथानामगतिर्न विद्यते' । प्रसन्नः = यथार्थः । प्रसन्नपदं लक्षणया यथार्थार्थकम् ।

नागरिकः = अग्राम्यः । नहि ग्राम्यो मदनलेखं श्रोतुमिच्छति, तथाऽऽचरतश्चास्य नागरिकत्वं प्रमाणसिद्धमिति भावः ।

स्वामिन्निति । हे स्वामिन् , नाथ, अज्ञाता अविदितत्वन्मनोदशा अहम् यदि नाम अनुरक्तस्य मयि सञ्जातानुरागस्य तव उपरि यथा त्वया सम्भाविता नितान्त-

आपके विलापसे पसीजकर अपने अनुरागकी सूचना इस पत्रसे दी है ।

राजा—मनोरथके लिये कुछ अगम्य नहीं है । (लेकर तथा पढ़कर) (सहर्ष) मित्र, तुम्हारा अन्दाज सही निकला ।

विदूषक—अब तो आप खुश हों । इसमें क्या लिखा है, मैं सुनना चाहता हूँ ।

राजा—सुनो, (पढ़ता है)

स्वामिन् , अनुरागसे पूर्ण हृदयवाले आपके प्रति हमारा जैसा अज्ञान या

ननु मम लुलितपारिजातशयनीये भवन्ति ।
नन्दनवनवाता अप्यत्युष्णकाः शरीरके ॥ १३ ॥
(सामिअ संभाविआ जह अहं तुह अमुणिआ ।
तह अणुरत्तस्स जइ णाम तुह उवरि ॥ १२ ॥
णं मे लुलिअपारिजाअसअणिज्जयम्मि होन्ति ।
णन्दणवणवादावि अच्चुण्हआ सरीरए ॥ १३ ॥)

उर्वशी—किं नु खलु सांप्रतं भणिष्यति । (किं णु खु संपदं भणिस्सदि)

कठिनभावेन उत्प्रेक्षिता तथा स्याम् अभविष्यम्, ननु तर्हि तदा लुलितपारिजातशयनीये सन्तापभाजनशरीरसम्पर्कवशादितस्ततो लुठितपारिजातकुसुमशयनीये मम शरीरके देहे नन्दनवनवाताः देवकाननवायवः अपि अत्युष्णका भवन्ति (तत्कथमिति शेषः) । अयमाशयः—यद्यहं मयि बद्धभावे भवति नितान्तकठिनोपेक्षापरायणा चाभविष्यं, यथा त्वं मामुत्प्रेक्षसे, तदा स्वसम्पर्कवशेन पारिजातशयनं म्लपयति मदङ्गके नन्दनवनवायवोऽपि ज्वलनमिव जनयन्ति तत्कथं स्यादतस्तथा तव प्रत्ययो निर्मूलस्त्वमिवाहमपि विरहतप्तेवेति सन्देशो बोध्यः । अत्र 'शरीरके' इत्यत्र कनोऽनुकम्पनीयता, तया चाशुभाविन्यनर्थपरम्परा, अत्युष्णका इत्यनेनासह्यता, लुलितपारिजातशयनीये इति विधीयमानतापोपशमोपायानां निरर्थकता, अपिना नन्दनवातानां तापापहारप्रसिद्धता, स्वामिन्निति सम्बोधनेन चात्मसमर्पणा, अनुरक्तस्येति रागोदयज्ञानकृता स्वसमर्पणतिरस्कृतिजन्यभीतिनिवृत्तिरित्यादयोऽर्था व्यज्यन्ते । अत्र लेखो नाम सन्ध्यङ्गमुपक्षिप्तम्, तदुक्तम्—'विवक्षितार्थकलिता पत्रिका लेख उच्यते' इति । तत्रैव स्वानुरागप्रकाशकत्वस्योपपत्तिमत्त्वात् 'उपन्यासः' इति सन्ध्यङ्गमप्युक्तं भवति । इयं गीतिः । अत्र मात्रान्यासस्तालाश्रयेति न लौकिकच्छन्दोलक्षणसमन्वयसंभवः ॥ १२–१३ ॥

साम्प्रतम्—पत्रेण मदीयमाशयं विज्ञाय । किन्नु भणिष्यति = स्वं भावं विरागं वा व्यञ्जयिष्यति ? अनेन प्रश्नेन तस्यास्तद्विषया समधिकोत्कण्ठा व्यञ्जिता ।

औदासीन्य आपने स्थिरकर रखा है, यदि वैसा ही बात रहती तो हमारी यह देह पारिजातपल्लवसे बने शयनपर भी क्यों छटपटाती, तथा उसे नन्दनवायुसे भी सन्ताप क्यों होता ? ॥ १२–१३ ॥

उर्वशी—न जानें अब क्या कहते हैं ?

चित्रलेखा—ननु भणितमेव कमलनालायमानैरङ्गैः । (णं भणिदं एव्व कमलणालाअमाणेहिं अङ्गेहिं)

विदूषकः—दिष्ट्या मयेव बुभुक्षितेन स्वस्तिवाचनकमुपलब्धं भवता समाश्वासनम् । (दिट्ठिआ मए विअ बुभुक्खिदेण सोत्थिवाअणअं उवलद्धं भवदा समासासणं)

राजा—समाश्वासनमिति किमुच्यते ।

तुल्यानुरागपिशुनं ललितार्थबन्धं पत्रे निवेशितमुदाहरणं प्रियायाः ।
उत्पक्ष्मणा मम सखे मदिरेक्षणायास्तस्याः समागतमिवाननमाननेन ॥ १४ ॥

कमलनालायमानैः = त्वदर्थमुत्तान्यतोऽस्य राज्ञो गाढविरहोत्कण्ठया परिम्लानैः कृशैश्चाङ्गैस्त्वद्विषयानुरागोऽनत्तरमुक्त एवेति वृथा तदर्था तव विचिकित्सेति भावः । 'म्लानकमलनालोपमैरङ्गैः' इति पाठो रङ्गनाथस्य, स चातिस्पष्टः । काव्यवेमस्तु 'कमलनालायमानैः' इत्यस्य कण्टकितैरित्यर्थं वर्णयति, तच्च कण्टकोदयं राजहृदयस्थोर्वशीस्नेहप्रमापकं मन्यते ।

दिष्ट्येत्यानन्दे । 'दिष्ट्या समुपजोषं चेत्यानन्दे' इति नामलिङ्गानुशासने । स्वस्तिवाचनकम् = उपायनम् । स्वस्ति वाच्यते कथ्यतेऽनेनेति स्वस्तिवाचनकम् । यथाऽहं बुभुक्षाक्षामः किञ्चिदुपायनमासाद्य प्रसीदामि तथैव त्वमिदमाश्वासनमासाद्यानन्देति भावः ।

तुल्यानुरागेति । तुल्यः तुलया सीमित, समानः यः अनुरागः प्रेमा तस्य पिशुनम् सूचकम् व्यञ्जकमित्यर्थः । ललितः हृदयहारी अर्थस्य अभिधेयस्य बन्धः यत्र तादृशम्, हृदयहारिभावावेदकमिति यावत् । पत्रे अस्मिन्मदनलेखभूते भूर्जपत्रे निवेशितम् विन्यस्तम् प्रियायाः उर्वश्याः उदाह्रियतेऽनेनेति उदाहरणम् वचनं गीतं वा । सखे, उत्पक्ष्मणा उत्पक्ष्मविलोचनेन ममाननेन समागतम् मिलितम् तस्याः

चित्रलेखा—कमलनालकी तरह दुबली देहने सब बता ही तो दिया ।

विदूषक—भाग्यवश मुझे जिस तरह स्वस्तिवाचनेमें मिष्टान्न मिलता है उसी तरह आपको यह आश्वासन मिल गया ।

राजा—आश्वासन क्या कहते हो ?

समान स्नेहका पता देनेवाले तथा मनोहर अर्थमें बंधे इस प्रियाके पत्रको पाकर मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो हमारा मुंह उसके बड़ी बड़ी वरुनियों वाले मुंहसे मिल गया हो ॥ १४ ॥

उर्वशी—अत्रावयोः समविभागा प्रीतिः । (एत्थ णो समविभाआ पीदी)

राजा—वयस्य अङ्गुलीस्वेदेन दूष्येरन्नक्षराणि । धार्यतामयं प्रियायाः स्वहस्तः ।

विदूषकः—(गृहीत्वा) किमिदानीं तत्रभवत्युर्वशी भवतो मनोरथानां कुसुमं दर्शयित्वा फले विसंवदति । (किं दाणिं तत्तभोदी उव्वसी भवदो मणोरहाणं कुसुमं दंसिअ फले विसंवददि)

मदिरेक्षणाया आननम् मुखमिव भवति जायते । पत्रमिदं वाचयतो मम मुखेन तन्मुखं मिलितमिव जायते, अनेन पत्रेण तद्धृदयमिव निवेदयता मन्ये तन्मुखमिव मम मुखस्य सन्निधावानीयोपस्थाप्यत इति भावः । माद्यत्याभ्यामिति मदिरे, मदिरे ईक्षणे यस्यास्तस्याः । यद्वा मदिरा तत्संज्ञा दृष्टिर्यस्यास्तस्या इत्यर्थः । मदिरादृष्टिलक्षणमादिभरते यथा—'आघूर्णमानमध्या या क्षामा चाञ्चिततारका । दृष्टिर्विकसिताप्राङ्गा मदिरा तरुणे मदे' ॥ यद्वा मदिराभिधमीक्षणं यस्यास्तस्याः । तदुक्तं सङ्गीतकलिकायाम्—'स्निग्धार्धमुकुलाकान्ता लम्भिता मदिरा तथा । पञ्चैवात्र प्रतिज्ञाताः शौर्यादित्येन दृष्टयः ॥ सौष्ठवेनापरित्यक्ता स्मेरापाङ्गमनोहरा । वेपमानान्तरादृष्टिर्मदिरा परिकीर्त्तिता ॥' अत्र तदुदाहरणरूपवचनश्रवणस्य तन्मुखेन स्वस्य मुखस्य समागमरूपतयोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् । तल्लक्षणमन्यत्रोक्तम् । अत्र विशेषवचनात् पुष्पं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् । तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'पुष्पं विशेषवचनं मतम्' इति ॥ १४ ॥

समविभागा = तुल्यमात्रा, यावती वृद्धिर्मम प्रेमणि तावत्येव तस्या अपि प्रेमणि, तत्तुल्यप्रेमाणावावामिति नैकाङ्गकप्रणयपरायणतयोपहसनीयोऽहमिति राजाशयः ।

अङ्गुलीस्वेदेन = सात्त्विकभावाविर्भावितघर्मजलेन । दूष्येरन् = विकृतिमधिगम्येरन् । प्रियाया हस्तः = तद्धस्तलिखितो लेखः ।

मनोरथानां कुसुमम् = मदनलेखप्रेषणरूपं मनोरथानां साफल्यस्य सूचकम् । विसंवदति = विपरीतायते । योर्वशी स्वयमीदृशं मदनलेखं विसृजति सा भवन्त-

---

उर्वशी—यहाँ तक हम दोनोंका स्नेह समान है ।

राजा—प्रियमित्र, अंगुलीके पसीनेसे अक्षर पुत जायेंगे, प्रियाके इस पत्रको रखो ।

विदूषक—(लेकर) उर्वशीने जब आपके मनोरथमें फूल लगा दिये तब उसे फलके समयमें इधर उधर नहीं करना चाहिये ।

उर्वशी—हला यावदुपगमनकातरं हृदयं पर्यवस्थापयामि तावत्त्वमस्यात्मानं दर्शयित्वा यन्मम क्षमं तद्भण । (हला जाव उवगमणकादरं हिअअं पज्जवत्थावेमि दाव तुमं से अत्ताणं दंसिअ जं मे खमं तं भणाहि)

चित्रलेखा—(तथेति तिरस्करिणीमपनीय राजानमुपेत्य) जयतु जयतु महाराजः । (जेदु जेदु महाराओ)

राजा—(सहर्षम्) स्वागतं भवत्यै । भद्रे,

न तथा नन्दयसि मां संख्या विरहिता तया ।
संगमे पूर्वदृष्टेव यमुना गङ्गया विना ॥ १५ ॥

मन्ते प्रतार्य निकामोपहास्यं करिष्यतीति न युज्यते, तदवश्यंभावी तया तव समागम इति भावः ।

उपगमनकातरम् = राजसमीपोपसरणसाध्वसम् । पर्यवस्थापयामि = स्थिरतामानेष्यामि । यन्मम क्षमम् = यन्मया वक्तुमुचितम् । यावदहमिदमात्मनः प्रियोपगमनसलज्जं हृदयं प्रबोध्य द्रढयामि तावत्त्वं तत्समीपं गत्वा सामयिकं मद्वक्तव्यं निवेदय, तेन च तस्य सखीमुखश्रुतप्रेयसीसन्देशेन जायतामांशिकमाश्वासनमिति भावः ।

तिरस्करिणीम् = अन्तर्धानविद्याम् , अपनीय = संहृत्य ।

न तथेति । तया सख्या उर्वश्या विरहिता वियुक्ता (त्वम्) माम् तथा (यथा सख्या सहिता दृष्टा त्वं मामानन्दयः) न नन्दयसि प्रसादयसि । उपमामाह—सङ्गमे प्रयागाभिधाने गङ्गायमुनयोः सङ्गमस्थले पूर्वदृष्टा प्रथममवलोकिता यमुना कालिन्दी पश्चात् गङ्गया विना दृष्टा सती यथा न नन्दयति नयनं हरति । यथा प्रयागाभिधे गङ्गायमुनयोः सङ्गमस्थले गङ्गया सह विलोक्यमाना यमुना नयनं हरति न तथा

उर्वशी—सखी, मैं जब तक मिलनेसे घबड़ाने वाले दिलको दृढ़ करती हूँ, तब तक तुम उनके समीप जाकर, मेरी ओरसे जो कहना हो, कहो ।

चित्रलेखा—(अच्छा, कहकर तिरस्करिणी हटाती हुई राजाके पास जाकर) जय हो महाराजकी, जय हो ।

राजा—(सहर्ष) स्वागत है ।

अपनी सखीसे रहित होनेके कारण आप मुझे उतना नहीं आनन्दित कर रही हैं, जिसने सङ्गमपर गङ्गायमुनाकी मिली धारा देखी हो उसे केवल यमुनाकी धारा नहीं आनन्दित करती है ॥ १५ ॥

चित्रलेखा—ननु प्रथमं मेघराजिर्दृश्यते पश्चाद्विद्युल्लता । (णं पढमं मेहराई दीसदि पच्छा विज्जुल्लदा)

विदूषकः—(अपवार्य) कथं नैषोर्वशी । तस्यास्तत्रभवत्या अभिमता सहचरी । (कहं ण एसा उव्वसी । ताए तत्तहोदीए अहिमदा सहअरी)

चित्रलेखा—उर्वशी महाराजं शिरसा प्रणम्य विज्ञापयति । (उव्वसी महाराअं सिरसा पणमिअ विण्णवेदि)

राजा—किमाज्ञापयति ।

चित्रलेखा—मम सुरारिसंभवे दुर्जाते महाराज एव शरणमासीत् ।

पश्चात् गङ्गया विरहिता सती दृश्यमाना, तद्वत्त्वमपि प्राङ् मम सख्योर्वश्या सह दृष्टा यावतीं तृप्तिमकरोर्न तावतीमधुना तया विना दृश्यमाना करोषीति भावः । अत्रोपमाविनोक्त्योः सङ्करः । 'विनोक्तिर्यद्विनाऽन्येन नासाध्वन्यदसाधु वा' इति हि विनोक्तिलक्षणम् , 'विनार्थसम्बन्ध एव विनोक्ति'रिति च पण्डितराजः ॥ १५ ॥

मेघराजिः = मेघमाला । यथा प्रथमं मेघमालायाः साक्षात्कारो भवति पश्चाद्विद्युतस्तथैव प्रथमं मां पश्यता त्वयाऽचिरादेवोर्वशी साक्षात्करिष्यते, तदलं तद्विद्युत्कमदालोकेन खेदं कृत्वेत्याशयः ।

तत्रभवत्याः = पूजनीयायाः । अभिमता = प्रिया ।

विज्ञापयति = सूचयति ।

आज्ञापयति = आदिशति । इदमत्र बोध्यम् , चित्रलेखोर्वशीसन्देशश्रावणभूमिकायां नम्रतयोचितं विज्ञापयतीति प्रयुङ्क्ते, राजा चावहितत्वसूचकस्वानुमतिवचने किमाज्ञापयतीति ब्रुवाणः स्वस्योर्वश्यधीनतां व्यञ्जयन्नात्मनि तदादेशस्यैव प्राप्तत्वं प्रमापयति, तदिदं विजृम्भितं प्रेम्णः ॥

सुरारिसंभवे = सुरारयो दैत्यास्तेभ्यः संभवो यस्य तादृशे दैत्यकृते इत्यर्थः । दुर्जाते = व्यसने, तथा च दुःखार्थे दुर्जातपदप्रयोगो रघावपि—'दुर्जातबन्धुरयमृक्ष-

---

चित्रलेखा—महाराज, पहले मेघ नजर आता है, बिजली पीछे ।

विदूषक—(छिपाकर) क्या यह उर्वशी नहीं है, उसकी प्यारी सहचरी है ।

चित्रलेखा—उर्वशीने महाराजको प्रणाम करके कहा है—

राजा—क्या कहा है ?

चित्रलेखा—दानवोंके कारण उपस्थित आपत्तिमें महाराज ही हमारे रक्षक

साहं तव दर्शनसमुत्थेन मदनेन बलवद्बाध्यमाना भूयोऽपि महाराजेनानुकम्पनीयेति । (मह सुरारिसंभवे दुज्जादे महाराओ एव्व सरणं आसि । सा अहं तुह दंसणसमुत्थेण मअणेण बलित्थं बाहीअमाणा भूओवि महाराएण अणुकम्पणीअत्ति)

राजा—भद्रमुखि,

पर्युत्सुकां कथयसि प्रियदर्शनां ता-
मार्तं न पश्यसि पुरूरवसं तदर्थे ।
साधारणोऽयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य
तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम् ॥ १६ ॥

हरीश्वरो मे' इत्यादिः । शरणम् = रक्षिता, 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । दर्शनसमुत्थेन = आलोकनजनितेन । मदनेन = कामेन । बलवत् = अत्यर्थम् । बाध्यमाना = पीड्यमाना । भूयोऽपि = पुनरपि । महाराजेन = पुरूरवसा त्वया । अनुकम्पनीया = त्रातव्या । एकदा दैत्यकृताभिभवाद्रक्षिताया मम पुनर्मदनाद्रक्षणं त्वयाऽवश्यकरणीयतामापन्नं, स्वकृतपूर्वसुकृतोपप्लवनिवारणस्य मानवधर्मपरिगृहीतत्वादित्याशयः ॥

भद्रमुखि = सुमुखि, मधुरभाषिणि, इति वा ।

पर्युत्सुकामिति । ताम् प्रियदर्शनाम् रमणीयसर्वावयवाम् पर्युत्सुकाम् उत्कण्ठिताम् कथयसि अभिधत्से । सा रमणीयावलोकनोर्वशी मदर्थे समुत्सुकेति त्वमात्थेत्यर्थः । तदर्थे तस्याः कृते आर्त्तम् कामज्वरसन्तापितम् मान्न पश्यसि न जानासि, मम मदनपीडितत्वं न प्रत्यक्षयसीत्यर्थः । सा तु केवलं मदर्थे समुत्सुका परं मम तु मनो ममैव तुदतीति त्वया ज्ञायतामित्यर्थः । अतः अयमावयोः स्मरस्य कामकृतिरूपः प्रणयः साधारणः समानः । यथैव सा दुःखिता तथैवाहमप्यार्त्त इत्यावयोरयं प्रणयः समान एव कामेन जनित इति भावः । नन्वेवं स्थिते किं क्रियतामित्यपेक्षायामाह—तप्तेन वह्नौ भृशं तापितेन अयसा लौहेन तप्तम् अयः घटनाय योग्यम् ।

हुए थे, वही मैं उनके दर्शनोंके बाद कन्दर्पसे सताई जाती हूँ, महाराजको फिर मुझपर दया करनी चाहिये ।

राजा—ओ मधुरभाषिणि,

उस सुन्दरीको आप उत्कण्ठित बता रही हैं, किन्तु उसके लिये पुरूरवा कितना आर्त्त है यह नहीं देख रही हैं । यह प्रेम तो उभयनिष्ठ है, कन्दर्पने दोनोंको समभावसे सताया है, अतः गरम लोहा दूसरे गरम लोहेसे जोड़ा जा सकता है ॥

चित्रलेखा—(उर्वशीमुपेत्य) सखि एहि । त्वत्तोऽपि निर्दयतरं मदनं दृष्ट्वा प्रियतमस्य ते दूत्यस्मि संवृत्ता । (हला एहि । तुवत्तोवि णिद्दअदरं मअणं देक्खिअ पिअअमस्स दे दूदिम्हि संवुत्ता)

उर्वशी—(तिरस्करिणीमपनीय) अहो लघु त्वयोज्झितास्मि । (अम्महे लहुअं तुए उज्झिदम्हि)

चित्रलेखा—इतो मुहूर्त्ताज्ज्ञास्यामि का कामुज्झिष्यतीति । आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व । (इदो मुहुत्तादो जाणिस्सं का कं उज्झिस्सदित्ति । आआरं दाव पडिवज्ज)

उर्वशी—(राजानमुपेत्य । सव्रीडम्) जयतु जयतु महाराजः । (जेदु जेदु महाराओ)

प्रबलमदनपीडितयोरावयोर्झटिति संयोजनमेव प्राप्तकालमिति तात्पर्यम् । 'प्रणयः प्रेम्णि विस्रम्भे याच्ञा प्रत्यययोरपि' इति विश्वः । स्पष्टमन्यत् ॥ १६ ॥

त्वत्तः = त्वदपेक्षया । निर्दयतरम् = अतिनिर्दयम् । राज्ञः कामस्त्वत्कामापेक्षयापि निर्दयतर इत्युक्त्या राज्ञः समधिककामसन्तप्तता निवेदिता । ते प्रियतमस्य= राज्ञः पुरूरवसः ।

लघु = शीघ्रम् । उज्झितास्मि = परित्यक्तास्मि । प्रियसमीपोपसरणसमये सखीविरहेणैवमुक्तिरिदं च नवीनवनितास्वभावसिद्धम् ।

मुहूर्त्तात् = मुहूर्त्तमतियाप्येत्यर्थः । त्वमेवाचिराद्राज्ञा संगता मां त्यक्ष्यसीति त्वमेव ममोपलम्भार्हा नाहं तवेति भावः । आचारम् = समुचितोपचारम् , जयेत्यादिशब्दै राज्ञो विजयाद्याशंसनरूपम् । प्रतिपद्यस्व = कुरुष्व । अत्र परिहासस्य गम्यमानत्वात् 'नर्म' नामसन्ध्यङ्गमुपक्षिप्तम् , तदुक्तं दशरूपके–'परिहासवचो नर्म' इति । 'अग्राम्य इष्टजनावर्जनरूपः परिहासो नर्म' इति दशरूपकटीयायां धनञ्जयः ।

जयतु = विजयमासादयतु । एतच्च राजसमीपे समागतानां शिष्टाचारप्राप्तत्वाद्विधीयते ।

चित्रलेखा—(उर्वशीके समीप आकर) सखी, चलो, कन्दर्प तुम्हारी अपेक्षा उन्हें अधिक कष्ट दे रहा है इस हेतु मैं उनकी दूती बन गई हूं ।

उर्वशी—(तिरस्करिणी हटाकर) तुमने बड़ी जल्दी मुझे अलग कर दिया ।

चित्रलेखा—अभी कुछ देरमें समझ जाओगी कि कौन किसे छोड़ रही है ? पहले शिष्टाचार तो कर ले ।

उर्वशी—(राजाके समीप आकर, लज्जाके साथ) जय हो महाराजकी, जय हो ।

राजा—सुन्दरि,

मया नाम जितं यस्य त्वयायं समुदीर्यते ।
जयशब्दः सहस्राक्षादगतः पुरुषान्तरम् ॥ १७ ॥

(हस्ते गृहीत्वैनामुपवेशयति)

विदूषकः—भवति, राज्ञः प्रियवयस्यो ब्राह्मणः किं न वन्द्यते (भोदि रण्णो पिअवअस्सो बम्हणो किं ण वन्दीअदि)

उर्वशी—(सस्मितं प्रणमति)

विदूषकः—स्वस्ति भवत्यै । (सत्थि भोदीए)

(नेपथ्ये)

मया नामेति । त्वया देवमात्रदृश्यया स्वर्भोग्यभाग्ययाऽप्सरःकुलललामभूतया यस्य मम सहस्राक्षात् महेन्द्रात् पुरुषान्तरम् अन्यं पुमांसम् अगतः अप्राप्तः जयशब्दः जयतु महाराज इत्याकारकं संवर्धनावाक्यम् समुदीर्यते उच्चार्यते (तेन) मया जितम् सर्वोत्कृष्टतया जातम् नाम । या इन्द्रातिरिक्तस्य कस्याप्यन्यस्य जयशब्दं नोदीरयसि तया त्वया मम जयशब्दः समुदीरित इति जितं मयेति भावः । नाम इत्यभ्युपगमे । 'नाम कोपेऽभ्युपगमे विस्मये स्मरणेऽपि च' इति मेदिनी । अत्र प्रगमनं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् , तल्लक्षणं साहित्यदर्पणे यथा—'प्रगमनं वाक्यं स्यादुत्तरोत्तरम्' इति ॥ १७ ॥

प्रियवयस्यः = प्रियमित्रम् , वयसा तुल्यो वयस्यः, नौवयोधर्मेति यत् । वन्द्यते= प्रणम्यते ।

राजा—सुन्दरि, अब तक अप्सरायें केवल इन्द्रका जय मनाती थीं, आज तुम मेरा जयकार कर रही हो मेरी जयका इससे बड़ा और क्या प्रमाण होगा ॥

(पकड़कर उर्वशीको बैठाता है)

विदूषक—मैं राजाका मित्र तथा ब्राह्मण हूँ, मुझे आप क्यों नहीं प्रणाम करती हैं ?

उर्वशी—(हंसकर प्रणाम करती है)

विदूषक—आपका भला हो ।

(नेपथ्यमें)

देवदूतः—चित्रलेखे त्वरयोर्वशीम् ।

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो
भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः ।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता
मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥ १८ ॥

त्वरय = शीघ्रतया प्रस्थातुम् प्रेरयेत्यर्थः ।

मुनिनेति । भरतेन तदाख्यया प्रसिद्धेन नाट्याचार्येण मुनिना चिन्तनशक्तिशालिना अष्टरसाश्रयः शृङ्गाराद्यष्टप्रकाररसस्थानम् यः प्रयोगो रूपकविशेषः भवतीषु युष्मासु स्वर्वेश्यासु नियुक्तः अभिनयपाटवोपदेशविधिना स्थापितः, ललिताभिनयम् मनोहरणसमर्थप्रयोगम् तम् (प्रयोगम्) अद्य सलोकपालः लोकपालैः सहितः मरुताम् देवानाम् भर्त्ता अधिपतिरिन्द्रः । द्रष्टुमनाः दिदृक्षुः अस्तीति शेषः । नाट्यवेदोपदेष्टा भरताख्यो मुनिर्यमष्टविधरसप्लुताख्यानकतयाऽतिरमणीयं नाट्यप्रयोगं भवतीरध्यापयामास, तस्याभिनयं देवाधिपोऽद्य लोकपालैः सहः द्रष्टुं कामयतेऽतो भवतीभिस्त्वरया तदर्थं स्वर्गसभा समासादनीयेति भावः । नाट्येऽष्टावेव रसाः, तदुक्तं काव्यप्रकाशे—शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः । बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' । यद्यपि नव रसाः प्रसिद्ध्यन्ति, तथापि नवमस्य शान्ताख्यस्याभिनये नावतारः, निर्वेदस्थायिभावस्य तस्याभिनेतुमशक्यत्वात्तदभिनयस्य वस्तुतो विडम्बनारूपत्वापातात्, तदभिनेतरि तादृशनिर्वेदाध्याससामर्थ्यं सञ्जाते तस्य तादृशप्रवृत्तेरसम्भवाच्च । रसस्य सामान्यलक्षणं दशरूपके यथा—'विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः । आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः' । इति । अत्रत्यो विशेषो जिज्ञासुभिर्ग्रन्थान्तरेभ्योऽवसेयः । 'इन्द्रो वह्निः पितृपतिर्नैर्ऋतो वरुणो मरुत् । कुबेर ईशः' इत्यष्टौ लोकपालाः । द्रष्टुं कामो यस्येति विग्रहे 'तुंकाममनसोरपि' इति मलोपः । 'ललिताभिनयम्' इत्यनेन शृङ्गाररसप्राधान्यं सूचितम् । तदुक्तं दशरूपके—'एको रसोऽङ्गीकर्त्तव्यः शृङ्गारो वीर एव वा । अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम्' । इति । ललिताभिनयस्य प्रयोक्तव्यत्वादेवोर्वश्यादयोऽप्सरसोऽपेक्ष्यन्त इत्यपि बोध्यम् । 'मुनिना' इति

देवदूत—चित्रलेखे, उर्वशीको शीघ्रता करनेके लिये कहो ।

भरत मुनिने जो आठ रसों वाला अभिनय तुम लोगोंको सिखाया था, उसे लोकपालोंके साथ इन्द्र आज देखना चाहते हैं ॥ १८ ॥

(सर्वे कर्णं ददति । उर्वशी विषादं नाटयति)

चित्रलेखा—श्रुतं प्रियसख्या देवदूतस्य वचनम् । अनुमान्यतां महाराजः । (सुदं पिअसहीए देवदूदस्स वअणं । अणुमाणीअदु महाराओ)

उर्वशी—नास्ति मे वाक् । (णत्थि मे वाआ)

चित्रलेखा—महाराज परवशोऽयं जनः । तन्महाराजेनाभ्यनुज्ञातेच्छति देवेष्वनपराद्धमात्मानं कर्तुम् । (महाराअ परवसो अअं जणो । ता महाराए अब्भणुण्णादा इच्छदि देवेसु अणवरद्धं अत्ताणअं कादुं)

चिन्तनसामर्थ्यवत्ताद्योतनमुखेन तदुपदिष्टप्रयोगस्य विशिष्टगुणवत्तां व्यञ्जयति । मालभारिणीवृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'विषमे ससजा गुरू समे चेत्सभरा येन तु मालभारिणीयम्' इति ॥ १८ ॥

विषादं नाटयति = विषादं मनः क्लेशं प्रकाशयति, तद्व्यञ्जिकाश्चेष्टाश्च शिरोधुतिनेत्रविकृत्यादयः । तदुक्तं नाटयप्रदीपविवरणे—'पर्यायेण शनैस्तिर्यग्गतमुक्तं धुतं शिरः । विषादेऽनीप्सिते ज्ञेयम्' इति । 'या दृष्टिः पतितापाङ्गा विस्तारितपुटद्वया । निमेषिण्यस्ततारा च विषण्णा सा विषादिनी' ॥ इति च ।

अनुमान्यताम् = आज्ञा प्रार्थ्यताम्, 'अहं गन्तुमिच्छामि तदनुजानीहि' इत्युच्यतामित्यर्थः, अनुपूर्वकान्मन्यतेः कर्मणि लोट् ।

वाक्—वचनम्, अत्र वाक्पदं वागिन्द्रियोपलक्षकं तेन मम वागिन्द्रियं नास्ति, नाहं वक्तुं क्षमे इत्यर्थः ।

परवशः = पराधीनः, अयं जनः = उर्वशीलक्षणो जनः । अभ्यनुज्ञाता = अनुमता । भवतानुमता सती देवलोकं गत्वा देवानां कोपस्य भाजनं यथा न स्यात्तथा विधातुमिच्छतीत्याशयः ।

(सभी सुनते तथा विषाद प्रकट करते हैं)

चित्रलेखा—प्रियसखी, तुमने देवदूतका कहना सुन लिया ? महाराज से अनुमति याचना कर ।

उर्वशी—मैं नहीं बोल सकती हूँ

चित्रलेखा—महाराज, यह पराधीन है, आपसे अनुज्ञा लेकर देवोंके कोपसे अपनेको बचाना चाहती है ।

राजा—(कथंचिद्वाचं व्यवस्थाप्य) नास्मि भवत्योरीश्वरनियोगप्रत्यर्थी । स्मर्तव्यस्त्वयं जनः ।

उर्वशी—(वियोगदुःखं रूपयन्ती सह सख्या निष्क्रान्ता)

राजा—(सनिःश्वासम्) सखे वैयर्थ्यमिव चक्षुषः संप्रति ।

विदूषकः—(पत्रं दर्शयितुकामः) नन्वेतत्-(इत्यर्धोक्ते आत्मगतम्) हा धिक् हा धिक् । उर्वशीदर्शनविस्मितेन मया तद्भूर्जपत्रं प्रभ्रष्टमपि हस्तात्प्रमादेन न विज्ञातम् । (णं एदं--हद्धी हद्धी । उव्वसीदंसणविम्हिदेण मए तं भुज्जवत्तअं पब्भट्ठंवि हत्तादो पमादेण ण विण्णादं)

व्यवस्थाप्य = प्रकाशनयोग्यां कृत्वा । शोकादिवेगेन निरुद्धप्रसरां श्लथगद्गदां च वाचं कथंचिद्वक्तुमर्हां विधायेति भावः । एवंविधः प्रयोगोऽस्यैव महाकवे रघुवंशे यथा—'अथ व्यवस्थापितवाक्कथञ्चित्सौमित्रिरन्तर्गतबाष्पकण्ठः' इति ।

नियोगप्रत्यर्थी = आदेशविरोधी, भवतीभ्यां देवैर्दीयमानस्यादेशस्य विरोधीत्याशयः । अयं जनः = मल्लक्षणो जनः, अहमित्यर्थः, एतादृशः प्रयोगोऽन्यत्र यथा—'भगवन् परवानयं जनः' इत्यादौ ।

निष्क्रान्ता=गता, एतच्च तद्गमननिर्देशनं शृङ्गाररसपरिपोषाय कृतं वेदितव्यम् । वियोगकषायिते हृदि शृङ्गारद्रविणः साधूपदर्शनीयत्वमुक्तम्—'न विना विप्रलम्भेन शृङ्गारः पुष्टिमश्नुते । कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते' इति ।

वैयर्थ्यम् = निरर्थकत्वम् , तच्च दर्शनीयापगमाद्बोध्यम् ।

उर्वशीदर्शनविस्मितेन = उर्वशीविलोकनजनितकुतुकाक्रान्तेन । उर्वशीदर्शनाजातेन हृदयस्य चकितत्वेनेत्यर्थः । प्रभ्रष्टम् = विस्मरणदशायां नष्टम् । प्रमादेन = असावधानतया । उर्वशीं दृष्ट्वा तद्रूपसंपदा मम मनश्चकितमजायत येन करात्पतित्वा नश्यतोऽपि तस्य भूर्जपत्रस्य विषयेऽहं किमपि नावेदिषमिति भावः ।

राजा—(किसी तरह बोली संभालकर) मैं आप लोगोंको नहीं रोकना चाहता । हमें याद रखना ।

उर्वशी—(वियोग दुःख प्रकट करती हुई सखीके साथ जाती है)

राजा—(निःश्वास लेकर) आँखें व्यर्थ हैं अब ।

विदूषक—(पत्र दिखानेकी इच्छासे) यह रहा-(इतना कहकर-आत्मगत) हाय ! हाय ! उर्वशीके देखनेमें इतना लीन हो गया कि हमारे हाथसे वह पत्र गिर गया और मुझे मालूम ही न हुआ ।

राजा—भद्र, किमसि वक्तुकाम इव ।

विदूषकः—मा भवानङ्गानि मुञ्चतु । दृढं खलु त्वयि बद्धभावोर्वशी । न सेतोगतमनुरागं शिथिलयति । (मा भवं अङ्गाइं मुञ्चदु । दिढं खु तुइ बद्धभावा उव्वसी । ण सा इदोगदं अणुराअं सिढिलेदि)

राजा—ममाप्येतदाशंसि मनः । तया खलु प्रस्थाने

अनीशया शरीरस्य हृदयं स्ववशं मयि ।
स्तनकम्पक्रियालक्ष्यैर्न्यस्तं निःश्वसितैरिव ॥ १९ ॥

अङ्गानि मुञ्चतु = शरीरं त्यजतु, शिथिलीभावं वा भजतु । इतो गतम् = त्वयि प्ररूढम् । शिथिलयति = न्यूनयति ।

एतदाशंसि—एतादृशाशाशालि ।

अनीशयेति । शरीरस्य कायस्य अनीशया अप्रभवन्त्या (तथेति गद्यांशगतमनुषनीयम्) स्ववशम् आत्मवशे स्थितम् हृदयमपि स्तनकम्पक्रियालक्ष्यैः कुचचलनप्रत्ययनीयैः निःश्वसितैः उच्छ्वासैः न्यस्तम् न्यासीकृत्य स्थापितम् इव । अयमाशयः—यथा कश्चन किमपि कस्मैचिद्दित्सुः देयमधिकुर्वता जनेन निषिध्यमानस्तद्दातुमशक्तः स्वायत्तं किमपि वस्तु प्रददाति तद्वदुर्वशी स्वं निवेदयितुकामा सत्यपि तनुमधिकुर्वतेन्द्रेणाहूयमानाऽत्र स्थातुमशक्नुवती स्वहृदयमेव मयि न्यासीकृतवती, निःश्वसितानि यानि तया विसृज्यमानानि गमनवेलायामभूवँस्तैस्तस्याः कुचौ चकम्पाते, मन्ये तन्निःश्वासद्वारकमेव हृन्न्यासीकरणमजनीति । शरीरस्यानीशयेत्यत्र षष्ठीश्वरार्थकेशपदयोगप्रयुक्ता । इयमेव दिगत्र नैषधीयेऽपि—'ईष्टे तनूजन्मतनोः स किन्तु मत्प्राणनाथस्तु नलस्तथाऽपि' ॥ १९ ॥

राजा—अजी क्या कहना चाह रहे हो ?

विदूषक—आप निराश मत हों, उर्वशी आपको खूब चाहती है, वहाँ जाकर वह आपके प्रति अपने प्रेमको शिथिल नहीं करेगी ।

राजा—मेरा मन भी यही कहता है, उसने जाते जाते—

शरीरपर तो उसका अधिकार नहीं था, किन्तु स्वाधिकारवर्त्ती हृदय मुझे देती गई है, उसके निश्वास, जो स्तनकम्पसे साफ प्रकट हो रहे थे, इसके प्रमाण हैं ॥ १९ ॥

विदूषकः—(आत्मगतम्) वेपते मे हृदयमिमां वेलां तत्रभवता तस्य भूर्जपत्रस्य नाम ग्रहीतव्यं भविष्यतीति । (वेवदि मे हिअअं इमं वेलं तत्तभवदा तस्स भुज्जवत्तस्स णाम गेण्हिदव्वं भविस्सदित्ति)

राजा—केनेदानीं दृष्टिं विलोभयामि । (स्मृत्वा) आ उपनयतु भवान्भूर्जपत्रम् !

विदूषकः—(विषादं नाटयति) हन्त न दृश्यते । गतमुर्वश्या मार्गेण । (हन्त ण दिस्सदि । गदं उव्वसीए मग्गेण)

राजा—सर्वत्र प्रमादी वैधेयः । ननु विचिनोतु भवान् ।

विदूषकः—(उत्थाय) नन्वितो भवेदितो भवेत् । (इति विचेतव्यं नाटयति) (णं इदो भवे इदो भवे)

(ततः प्रविशति सपरिवारा देवी काशीराजपुत्री)

इमाम् वेलाम्=अनेन समयेन । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । ग्रहीतव्यं भविष्यति=ग्रहीष्यते ।

विलोभयामि—प्रतारयामि, उर्वशीदर्शनबद्धलालसमिदं नयनं किं प्रदर्श्य सान्त्वयामीत्यर्थः ।

उर्वश्या मार्गेण=तदध्वना । येन पथा सागता तेनैव तद्भूर्जपत्रमपि गतमित्यर्थः ।

प्रमादी=अनवधानः । धेयः=मूर्खः । 'मूर्खवैधेयबालिशाः' इत्यमरः । विचिनोतु=अन्वेषयतु । विपूर्वकस्य चिनोतेरन्वेषणेऽर्थे प्रयोगो रघुवंशे यथा—'दृष्टाविचिन्वता तेन लङ्कायां राक्षसीवृता । जानकी विषवल्लीभिः परीतेव महौषधिः' ॥

विदूषक—(स्वगत) मेरा हृदय कांपता है, महाराज कहीं अब उस भूर्जपत्रका नाम न लेवें ।

राजा—किस चीजसे इन आँखोंको लुभाऊं ? (याद करके) तुम भूर्जपत्र तो निकालो ।

विदूषक—(खेद प्रकाश करता है) हाय ! नहीं दीखता है, मालूम पड़ता है उर्वशीके ही साथ गया ।

राजा—मूर्ख, तू सब जगह असावधानी करता है । (खोजो उसे)

विदूषक—(उठकर) कहीं इधर हो, इधर हो । (खोजता सा है)

(सपरिजन काशीराज-पुत्रीका प्रवेश)

देवी--हञ्जे निपुणिके सत्यं त्वया भणितमिदं लतागेहं प्रविशन्नार्यमाणवकसहाय आर्यपुत्रो दृष्ट इति । (हञ्जे णिउणिए सच्चं तुए भणिदं इमं लदागेहं पविसन्तो अज्जमाणवअसहाओ अज्जउत्तो दिट्ठोत्ति)

निपुणिका—किमन्यथा भट्टिनी मया विज्ञापितपूर्वा । (किं अण्णहा भट्टिणी मए विण्णविदपुव्वा)

देवी--तेन हि लतान्तरिता श्रोष्यामि तावदस्य विश्रब्धामन्त्रितानि । यत्त्वया कथितं तत्सत्यं न वेति । (तेण हि लदन्तरिदा सुणिस्सं दाव से विस्सद्धामन्तिदाणि । जं तुए कहिदं तं सच्चं ण वत्ति)

निपुणिका--यद्भट्टिन्यै रोचते । (जं भट्टिणीए रुचदि)

देवी--(परिक्रम्य) हञ्जे निपुणिके किमेतज्जीर्णचीवरमिवेतोमुखं दक्षिणमारुतेनानीयते । (हञ्जे णिउणिए किं एदं जिण्णचीवरं विअ इदोमुहं दक्खिणमारुदेण आणीअदि)

लतागेहम् = प्रमदवनान्तःपातिलतानिर्मितं क्रीडास्थानम् । आर्यमाणवकसहायः = माणवकनामकविदूषकेण सहितः ।

किमन्यथा भट्टिनी मया विज्ञापितपूर्वा = किमहमसत्यं कदाचिद्देव्यै निवेदितवत्यस्मि ।

लतान्तरिता = लतान्तर्हिता । विश्रब्धामन्त्रितानि = विश्रब्धालापे हि जनो रहस्यानि विवृणोति, तदेवं सम्भवति त्वदुक्तवृत्तस्य सम्बन्धे किमपि प्रकाशेतेति ।

जीर्णचीवरम् = पुराणवस्त्रखण्डम् । इतो मुखम् = अस्मदभिमुखम् ।

देवी—सखी निपुणिके, तुमने ठीक कहा था कि महाराजको आर्य माणवकके साथ हमनें इस लता कुञ्जमें बैठते देखा है ।

निपुणिका—क्या हमनें देवीसे कभी मिथ्या कहा है ?

देवी—तब तक इन लताओंसे छिपकर इनकी विश्रम्भ वार्त्ता सुनूं, तुमने जो कहा था वह सच है या झूठ ?

निपुणिका—महारानीकी जैसी आज्ञा ।

देवी—(चलकर) निपुणिका, दक्षिण हवाके द्वारा यह पुराने लत्ते की तरह क्या चीज उड़ती है ?

निपुणिका--(विभाव्य) भट्टिनि परिवर्तनविभावितात्तरं भूर्जपत्रं खल्वे-तत् । हन्त भट्टिन्या एव नूपुरकोट्या लग्नम् । (गृहीत्वा) कथम् । वाच्य-ताम् । (भट्टिणि पडिवत्तणविभाविदक्खरं भुज्जवत्तं खु एदं । हन्त भट्टिणीए एव्व णेउरकोडीए लग्गं । कहं । वाईअदु)

देवी--अनुवाचय तावदेतत् । यद्यविरुद्धं ततः श्रोष्यामि । (अणुवा-एहि दाव णं । जदि अविरुद्धं तदो सुणिस्सं)

निपुणिका--(तथा कृत्वा) भट्टिनि तदेव कौलीनमिव प्रतिभाति । भर्तारमुद्दिश्योर्वश्याः काव्यबन्ध इति तर्कयामि । आर्यमाणवकप्रमादेना-वयोर्हस्तं गत इति । (भट्टिणि तं एव्व कोलीणं विअ पडिहादि । भट्टारअं उद्दि-सिअ उव्वसीए कव्वबन्धोत्ति तक्केमि । अज्जमाणवअप्पमादेण अम्हाणं हत्थं गदोत्ति)

देवी—तेन ह्यस्य गृहीतार्था भवामि । (तेण हि से गहिदत्था होमि)

विभाव्य निपुणमालोक्य । परिवर्त्तनविभावितात्तरम् = परिवर्त्तनेन व्यावर्त्तनेन विभावितानि प्रकटीकृतानि दृष्टानि वाऽक्षराणि यत्र तादृशम् । नूपुरकोट्या=मञ्जीरा-ग्रभागेन । 'मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

अनुवाचय = स्वगतं पठ । अविरुद्धम् = श्रवणार्हम् , कौलीनं तु न श्रोतव्यं तस्य मनोव्यथाजनकत्वादिति भावः ।

कौलीनम् = अपवादः, कलङ्कः । 'कौलीनं पशुभिर्युद्धे कुलीनत्वापवादयोः' इति मेदिनी । भर्त्तुरन्यप्रियासङ्गो हि रमणीनां कौलीनमिव व्यथकं भवति तदेवान्तर्नि-धायायं ग्रन्थः । काव्यबन्धः = पद्यरचना, मदनलेखस्यायमुपहासविधिः ।

गृहीतार्था = अवगताभिप्राया ।

निपुणिका—(देखकर) उलटनेपर इसमें अक्षर मालूम पड़ता है, यह तो भूर्जपत्र है । आपके ही नूपुरमें जा लगा । (लेकर) क्या है, पढ़ा जाय ।

देवी--पहले तू पढ, यदि अविरुद्ध होगा तो सुन लूंगी ।

निपुणिका—(पढ़कर) महारानी, वही अपवादवाली बात मालूम पड़ती है । महाराजको उद्देश्य करके उर्वशीने कविता की है । आर्य माणवककी कृपासे यह हमलोगोंको मिला है ।

देवी--तब तो इसका अर्थ जान लें ।

निपुणिका—(राज्ञा पूर्ववाचितं वाचयति)

देवी—अत्रानेनैवोपायनेनाप्सरःकामुकं प्रेक्षे । (एत्थ इमिणा एव्व उवाअणेण अच्छराकामुअं पेक्खामि) (इति परिजनसहिता लतागृहं परिक्रामति)

विदूषकः—भो वयस्य किमेतत्पवनवशगामि प्रमदवनसमीपगतक्रीडापर्वतपर्यन्ते दृश्यते । (भो वअस्स किं एदं पवणवसगामि पमदवणसमीवगदकीलापव्वदपज्जन्ते दीसदि)

राजा—(उत्थाय) भगवन् वसन्तप्रिय दक्षिणवायो ।

वासार्थं हर संभृतं सुरभिणा पौष्पं रजो वीरुधां
किं मिथ्या भवतो हृतेन दयितास्नेहस्वहस्तेन मे ।

अनेन = भूर्जपत्रात्मकेन । उपायनेन = उपहारेण । रिक्तपाणिकर्त्तृकराजदर्शनस्याचारविरुद्धत्वादित्थमुक्तम् । 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः । अप्सरःकामुकम् = स्ववेश्याविषयकाभिलाषशालिनम् ।

पवनवशगामि = अगुरुतया वायुवशे स्थितम्, वायुना यथारुचि सञ्चाल्यमानमित्यर्थः । क्रीडापर्वतः=उपवनादिषु क्रीडार्थं निर्मितः पर्वतसदृशो भूम्युच्छ्रयः । तस्य पर्यन्ते = प्रान्ते । वसन्तप्रिय = मधुमासमित्र, वसन्तस्य प्रियः, वसन्तः प्रियो यस्येति वा विग्रहः, अन्त्ये 'वा प्रियादिषु' इति पूर्वनिपातानियमः ।

वासार्थमिति । सुरभिणा वसन्तेन संभृतम् सम्पादितम् वीरुधाम् लतानाम् पौष्पम् पुष्पसम्बन्धि रजः परागम् वासार्थम् सुगन्धलाभाय हर आकर्ष । मिथ्या व्यर्थम् हृतेन अपहृतेन मे मम प्रियायाः उर्वश्याः स्नेहस्वहस्तेन स्नेहसूचकेन स्वहस्तलेखेन भवतः किम् किं प्रयोजनम् । स्वहस्तपदं लक्षणया स्वहस्तलेखमाह, आत्मीयतातिशयश्च व्यङ्ग्यः । पुष्परेणौ ह्रियमाणे भवतः सुगन्धसंभवा तृप्तिरपि स्यादत्र पत्रे तु ह्रियमाणे निरर्था मदुत्पीडनापकीर्त्तिरिति तात्पर्यम् । नैतावदेव

निपुणिका—(फिर पढ़ती है)

देवी—इसी उपहारके साथ अप्सरा प्रेमीसे मिल लूं । (परिजनके साथ लतागृहमें प्रवेश करती है)

विदूषक—अजी, वह हवामें उड़ता हुआ प्रमदवन समीपवर्त्ती क्रीडापर्वतके पास वर्त्तमान क्या है ?

राजा—भगवन् वायुदेव, सुगन्धके लिये आप फूलोंके पराग उड़ाले जांय, वसन्तने प्रस्तुत कर रखा है, व्यर्थ इस पत्रको लेकर आप क्या करेंगे ? आप तो

जानीते हि मनोविनोदनफलैरेवंविधैर्धारितं
कामार्तं जनमञ्जनां प्रति भवानालक्षितप्रार्थनः ॥ २० ॥

निपु०—भट्टिनि एतस्यैवान्वेषणा वर्तते । (भट्टिणी एदस्स एव्व अण्णेसणा वट्टदि)

देवी—पश्यामि । (पेक्खामि)

विदूषकः—भो म्लायमानकेसरच्छविना मयूरपिच्छेन विप्रलब्धोऽस्मि । (भो मिलाअमाणकेशरच्छविणा मोरपिच्छेण विप्पलद्धो म्हि)

केवलम्, तवादाक्षिण्यमपि प्रमापितं स्यात्तच्चात्यन्तमनीप्सितं ज्ञातस्नेहस्वभावस्य भवतोऽयशोऽपेक्षयाऽपि तादृशादाक्षिण्यस्य परिहर्त्तव्यत्वादत आह—जानीत इति । भवान् कामार्त्तं कामपीडितम् जनम् एवंविधैः ईदृशैः मनोविनोदनफलैः चित्तसान्त्वनप्रयोजनैः धारितम् अवलम्बितजीवितम् जानीते अवगच्छति खलु, यतः (भवान्) अञ्जनां प्रति आलक्षितप्रार्थनः दृष्टाभिलाषः । इदमत्र बोध्यम्—भवान्मदीयामवस्थामविदन्नपि कामिसाधारण्येन जायमानां स्थितिमवयातुमर्हति, ईदृशैश्च लेखैस्तेषां जीवनं मनोविनोदनविधया धार्यते, कामं न जानन्तु परे, भवाँस्त्वत्र पथि विहितगतिः श्रूयते हि भवतोऽपि प्रेमप्रसङ्गोऽञ्जनाविषयस्तन्मा पहार्षीर्मज्जीवितावलम्बनसाधनं मत्प्रियामदनलेखमिति । 'वीरुल्लताविटपयोः स्त्रियाम्' 'लताप्रतानिनी वीरुत्' 'रजःक्लीवं गुणान्तरे । आर्त्तवे च परागे च' इति सर्वत्र कोषः । 'अञ्जना नाम कुञ्जराख्यस्य वानरस्य पुत्री हनूमन्माता च । एकदा पर्वतशिखरस्थितायास्तस्या उत्तरीयाञ्चलमच्यवत, तस्यां स्थितौ प्रकाशीभवदनवद्ययौवनां तां दृष्ट्वा वायुस्तां चकमे प्रार्थयामास च रतिम् । पश्चाद्यथा नापयाति मम कुमारीभावस्तथा भवानाचरतु मयीति तयाऽनुमतः कृतार्थतां भेजेऽजनयच्च तस्यां 'हनूमन्तं नाम सुतम्' इति कथाऽस्य श्लोकस्य पृष्ठभूमिः । स्पष्टमन्यत् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २० ॥

अन्वेषणा = अन्वेषणम् ।

म्लायमानकेसरच्छविना = म्लायमानं म्लानिं गच्छत् यत् केसरं केसरपुष्पम्

जानते हैं कि इस तरहकी चीजोंसे विरहियोंका मन बहलता है, आपको भी तो अञ्जनाके साथ प्रणय था ॥ २० ॥

निपु०—देवी, इसकी खोज हो रही है ।

देवी—मालूम तो ऐसा ही पड़ता है ।

विदूषक—अजी, सूखे केसरके समान कान्तिवाले मयूरपिच्छने धोखा दिया ।

राजा—सर्वथा हतोऽस्मि ।

देवी—(उपेत्य) आर्यपुत्र अलमावेगेन । एतत्तद्भूर्जपत्रम् । (अज्जउत्त अलं आवेएण । एदं तं भुज्जवत्तं)

राजा—(ससंभ्रमम्) अये देवी । स्वागतं देव्यै ।

विदूषकः—(अपवार्य) दुरागतमिदानीं संवृत्तम् । (दुरागदं दाणिं संवुत्तं)

राजा—(जनान्तिकम्) सखे किमत्र प्रतिविधेयम् ।

विदूषकः—लोत्रेण गृहीतस्य कुम्भीरकस्यास्ति वा प्रतिवचनम् । (लोत्तेण गहिदस्स कुम्भिलअस्स अत्थि वा पडिवअणं)

तद्वच्छविः कान्तिर्यस्य तेन । इदं मयूरपिच्छविशेषणम् । विप्रलब्धः = प्रतारितः ।

हतोऽस्मि = असहायो विपद्ये, मनोविनोदोपायाभावादिति भावः ।

आर्यपुत्र—इदं भर्त्तारं प्रति पत्न्याः सम्बोधनम् , तथा चाह सागरः—'ऊढायां देवि दयिते पुमानाह प्रियां प्रति । आर्यपुत्र च जीवेश नाथ साप्याह वल्लभम्' । आवेगेन = अधिकखेदेन, उत्कण्ठातिशयेन वा । एतत्तद्भूर्जपत्रम्—यदन्विष्यानासादयतस्तव मनो दूयत इति योजनायां स्फुटः प्रत्ययः ।

अपवार्य-एतल्लक्षणं यथा—'तद्भवेदपवारितम् । रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते' । इति साहित्यदर्पणः ।

दुरागतम्=अनभीष्टमागमनम् , प्रियान्तरासक्तमनसस्तवैतदागमनं न प्रीतिकरमिति दुरागतमेवैतदस्या इति भावः ।

किमत्र प्रतिविधेयम् = कथमत्र स्थितौ प्रतिकारः कर्त्तव्य इत्यर्थः ।

लोत्रेण = चोरितधनेन । सहेति शेषः । 'लोत्रमश्रुणि चोरिते' इति विश्वः । 'स्तेयं लोत्रं तद्धनम्' इत्यमरश्च । कुम्भीरकस्य = चौरस्य । 'कुम्भीरको गण्डपदस्तत्करश्च मलिम्लुचः' इति यादवः । यथा चोरितधनेन सह गृहीतश्चौरोऽप्रतिवचनो भवति दण्ड्यते च, तथैव तवापि स्थितिरिति प्रतिकारचिन्तया प्रयासय स्वमिति वाक्यार्थः ।

राजा—तब तो मैं मारा गया ।

देवी—(समीप आकर) आर्यपुत्र, घबड़ाइये मत, यही तो भूर्जपत्र है ।

राजा—(हड़बड़ाकर) अये देवी, स्वागत है देवीका ।

विदूषक—(छिपाकर) इस समय तो दुरागत ही हुआ ।

राजा—(छिपाकर) इस समय क्या करना चाहिये ।

विदूषक—चोरीके मालके साथ पकड़े गये चोर कहेंगे ही क्या ?

राजा—(अपवार्य) मूढ नायं परिहासकालः । (प्रकाशम्) देवि नेदं मया मृग्यते । स खलु परसमन्वेषणार्थमारम्भोऽयम् ।

देवी—युज्यत आत्मनः सौभाग्यं प्रच्छादयितुम् (जुज्जदि अत्तणो सोहग्गं पच्छादेदुं)

विदूषकः—भवति त्वरयास्य भोजनं यत्पित्तोपशमनसमर्थं भवति । (भोदि तुवरेहि से भोअणं जं पित्तोवसमणसमत्थं होदि)

देवी—निपुणिके शोभनं खलु ब्राह्मणेनाश्वासितो वयस्यः । (णिउणिए सोहणं खु बम्हणेन आसासिदो वअस्सो)

इदम् = त्वया प्रदर्श्यमानं भूर्जपत्रम् । मृग्यते = अन्विष्यते । परसमन्वेषणार्थम् = अन्यस्य वस्तुनोन्वेषणाय ।

आरम्भः = अध्यवसायः । अत्र राज्ञो दोषप्रच्छादनात् 'नर्मद्युतिः' नाम सन्ध्यङ्गमुक्तमिति काव्यवेमः ।

सौभाग्यम्—दिव्याङ्गनाप्रार्थनात्मक उत्कर्षः । प्रच्छादयितुम्=गोपयितुम् । दिव्याङ्गनाभिलाषरूपं स्वं सौभाग्यं गोपयतस्तवेदमस्मदवमाननरूपं कार्यं नायुक्तमधिकमूल्यवस्तुलाभावसरे स्वल्पमूल्यस्य वस्तुनस्त्यागस्यापि युक्तकोटौ गणितत्वादिति हृदयम् ।

त्वरय = शीघ्रमुपनय । अस्य मम प्रियसुहृदो राज्ञः । पित्तोपशमनसमर्थम् = पित्ताख्यदोषस्य शान्तयेऽपेक्षितम् । एतेन राज्ञः साम्प्रतिकं वचनं पित्तजनितभ्रममूलकमतस्तत्र ध्यानं मा दाः, प्रतिकुरु च तस्य दोषमिति व्यञ्जितम् । मधुराहारेण पित्तोपशमः, तदुक्तं वैद्यके—'कफं दुर्जनवत्तीक्ष्णैर्वातं स्नेहेन मित्रवत् । पित्तं जामातरमिव मधुरैर्भोजनैर्जयेत्' ।

ब्राह्मणेन = तज्जातीयेन, अत्र विदूषकेणेत्याशयः । आश्वासितः = निर्दोषतां

राजा—(छिपाकर) मूर्ख, यह मजाक का समय नहीं है । (प्रकाश) देवी, मैं यह नहीं ढूंढ़ रहा था । मैं कुछ दूसरी चीज ढूंढ़ रहा था ।

देवी—अपनी बात छिपाते हैं यह ठीक ही है ।

विदूषक—इनके भोजनका महारानी शीघ्र कुछ प्रबन्ध कर दें जिससे इनके पित्तकी शान्ति हो ।

देवी—इस ब्राह्मणनें तो अपने मित्रको भला आश्वासन दिया ।

विदूषकः—भवति ननु पश्याश्वासितः पिशाचोऽपि भोजनेन । (भोदि णं पेस्ख आसासिदो पिसाचोवि भोअणेण)

राजा—मूर्ख बलादपराधिनं मां प्रतिपादयसि ।

देवी—नास्ति भवतोऽपराधः । अहमेवात्रापराद्धा या प्रतिकूलदर्शना भूत्वाग्रतस्ते तिष्ठामि । इतोऽहं गमिष्यामि । (णत्थि भवदो अवराहो । अहं एव्व एत्थ अवरद्धा जा पडिऊलदंसणा भविअ अग्गदो दे चिट्ठामि । इदो अहं गमिस्सं) (इति कोपं नाटयित्वा प्रस्थिता)

राजा—

अपराधी नामाहं प्रसीद रम्भोरु विरम संरम्भात् ।

प्रमाप्य शान्तिं प्रापितः । इदं च देव्याः सोल्लुण्ठनं वचनम् , अस्य चैतत्कृतापराधगोपनप्रयासस्य नैरर्थक्यं व्यङ्ग्यम् ।

'ननु क्रूरः पिशाचोऽपि भोजनदानेनाश्वासितो भवति, पश्य' इत्थमन्वयः । क्रूरः = जातुकः । आश्वासितः = आराधितः । अयमर्थः—क्रूरकर्मा पिशाचोऽप्यभिमतभोजनदानेनाराधितो भवति तदाऽयं मम प्रियवयस्यो मधुरभोजनाप्त्या शमितपित्तदोषः प्रकृतिमापद्येतेति किं वक्तव्यमिति । विदूषकस्य सदैव भोजनगृध्नुतयेदृशी वृथोक्तिः ॥

बलात् = हठात् । प्रतिपादयसि = समर्थयसि । अहं किञ्चिदन्यद् ब्रुवे त्वं चान्यदस्यां स्थितावावयोर्वचनविसंवादात्स्फुटमेव देव्या हृदि मदपराधिताप्रतीतिरुदियादिति तात्पर्यम् ।

अपराद्धा = कृतापराधा । प्रतिकूलदर्शना = अनिष्टसाक्षात्कारा । त्वं मां न द्रष्टुमिच्छसि, तथाप्यहं ते पुरतः स्थितास्मि, तदयं ममैवापराधो न तवेति भावः, देव्याः कोपातिशयश्च व्यङ्ग्यः । नाटयित्वा = कुपितामिवात्मानं दर्शयित्वा ।

अपराधीति । रम्भे इव ऊरू यस्याः सा रम्भोरूः कदलीकाण्डसमानजङ्घा, तस्य-

---

विदूषक—भोजनसे तो पिशाच भी आश्वासित होते हैं ।

राजा—मूर्ख, तुम जबर्दस्ती मुझको कसूरवार सिद्ध करना चाहता है ।

देवी—आपका अपराध नहीं अपराध मेरा है, कि आप मुझे देखना नहीं चाहते हैं फिर भी मैं आपके सामने खड़ी हूं । मैं यहाँ से चली जाऊंगी । (रूठकर जाती है)

राजा—अपराध हमारा ही है, ओ सुन्दरी, ठहरो, क्रोध मत करो । मालिक

सेव्यो जनश्च कुपितः कथं नु दासो निरपराधः ॥ २१ ॥

(इति पादयोः पतति)

देवी—(आत्मगतम्) मा खलु लघुहृदयाहमनुनयं बहु मन्ये । किं त्वदाक्षिण्यकृतात्पश्चात्तापाद्बिभेमि । (मा खु लहुहिअआ अहं अणुअअं बहु मण्णे । किं दु अदक्खिण्णकिदस्स पच्छादावस्स भाएमि) (राजानमपहाय सपरिवारा निष्क्रान्ता)

म्बुद्धौ रम्भोरु, अहम् अपराधी कृतापराधः नाम खलु, संरम्भात् कोपात् विरम निवृत्ता भव, प्रसीद प्रसन्ना भव, सेव्यः सेवार्हः जनः (त्वल्लक्षणः) कुपितः रुष्टश्चेत् दासः सेवकः (मल्लक्षणः) कथं नु केन प्रकारेण निरपराधः । यस्य सेव्यो रुष्टः स दासो नापराधीति न संभवति तदपराधमन्तरा तत्कोपस्यासंभवित्वात्सेव्या च मम त्वं कुपिताऽतो दासोऽहमवश्यं कृतापराध इति युक्तिसिद्धम् । रम्भोरु पदे 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' इत्यूङ्प्रत्ययः, सम्बुद्धौ नदीत्वाद्ध्रस्वता । 'संरम्भः संभ्रमे कोपे' इति विश्वः । आर्याप्रभेदो वृत्तम् । अत्रेर्ष्याप्ररूढमानानां वनितानां मानस्योपशमस्यार्थं षड्डपायाः शास्त्रोक्तास्तेष्वत्र सामप्रयुक्तं वेद्यम् । तदुक्तं दशरूपके—'स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मान कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये' । 'यथोत्तरं गुरुः षड्भिरुपायैस्तमुपाचरेत् । साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः । तत्र प्रियवचः साम भेदस्तत्सख्युपार्जनम् । दानं व्याजेन भूषादेः पादयोः पतनं नतिः' । अत्र राज्ञा अनुनयनात्पर्युपासनं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् । अग्रे चात्र प्रयुक्ते सामनि व्यर्थे सति नतिर्नामोपायः प्रयुक्तो वेदितव्यः ॥ २१ ॥

लघुहृदया = अगभीरहृदया । अनुनयम् = प्रणिपातादिकम् । अस्यामुना पादपतनादिना प्रसन्ना सतीदमीयं व्यवहारं विस्मरेयमीदृशी लघुहृदया नाहं भवामीति भावः । अदाक्षिण्यकृतात् = प्रणिपातलङ्घनरूपं यन्ममादाक्षिण्यं निर्ममता तत्कृतात् तज्जनितात् पश्चात्तापात् अनुशयाद्बिभेमि । इदानीं कोपवेगेनैवं भावयामि प्रकृतिं गताया मम ध्रुवं 'न मया भर्त्तुः प्रणिपातमविगणयन्त्या साधु कृतम्' इति

ही क्रोध करनेके अधिकारी है, दास तो सदा अपराधी रहते ही हैं ॥ २१ ॥

(चरण पर गिर पड़ता है)

देवी—(स्वगत) मैं इतनी छोटी नहीं हूं कि इनकी बातमें आ जाऊंगी । लेकिन रूक्षता करनेपर पीछे पश्चात्ताप होगा उससे डरती हूं । (राजाको छोड़कर परिजनके साथ जाती है)

विदूषकः—प्रावृण्णदीवाप्रसन्ना गता देवी । तदुत्तिष्ठ । (पाउसणदी विअ अप्पसण्णा गदा देवी । ता उट्ठेहि)

राजा—(उत्थाय) वयस्य नेदमनुपपन्नम् । पश्य ।

प्रियवचनशतोऽपि योषितां दयितजनानुनयो रसादृते ।
प्रविशति हृदयं न तद्विदां मणिरिव कृत्रिमरागयोजितः ॥ २२ ॥

पश्चात्तापो भावी, तेन मम मनो दूयेत, बिभेमि ततो भाविनः खेदादिति देव्या आशयः ।

प्रावृण्णदी = वर्षासमयस्य नदी सा हि कलुषिता वेगवती च भवति, सेवेयं देवी रोषकलुषा त्वरितगमना च । उत्तिष्ठ = प्रणिपातमविगणय्य गतायां तस्य न कोप्यधुना तव प्रणिपातस्योपयोग इत्यर्थः ।

नेदमनुपपन्नम् = देवी प्रावृण्णदीवाप्रसन्ना गतेत्येतदुपपन्नमेव, प्रियस्यान्यप्रियासङ्गे तत्कोपस्यौचित्यादिति भावः । अत्र नेदमनुपपन्नमिति 'द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयतः' इत्युक्तत्वादुपपन्नमित्येतत्पर्यवसायि । स्वोक्तौ युक्तिप्रदर्शनायाह—पश्येति । अग्रेतनवाक्यार्थोऽत्रत्यदृशेः कर्म ।

प्रियवचनेति । प्रियवचनानाम् मधुरोक्तीनाम् शतानि यस्मिंस्तादृशः चाटूक्तिशतसहितोऽपि रसात् ऋते प्रेम्णा विना कृतः दयितजनानुनयः प्रियजनकृतप्रणिपातादिः कृत्रिमरागयोजितः कृतकलोहितादिवर्णेन युक्तः कृतः मणिः स्फटिकादिरिव रसादृते रत्नाम्बुविरहितः तद्विदाम् अलीकोऽयमनुनय इति जानतीनां वनितानां स्फटिकादौ कीदृशं प्रभातारल्यं भवतीति जानतां रत्नपरीक्षकाणां च हृदयम् अन्तः न प्रविशति । यथा कृत्रिमवर्णे रञ्जितः स्फटिकादिः प्रभातारल्यरहितो यदि भवति तदा रत्नपरीक्षकास्तन्न बहु मन्यन्ते, तद्वत् स्वाभाविकप्रेमशून्यश्चाटूक्तिशतसहितोऽपि दयितजनानुनयः कोऽनुनयः स्वाभाविकः कश्च कृत्रिम इति विदन्तीनां रमणीनां हृदयं न प्रविशतीति भावः । अत्रोपमालङ्कारेण रत्नस्येव स्नेहस्यापि स्वाभाविकं समुज्ज्वलत्वं व्यञ्जितम् । अपरवक्त्रं वृत्तम् , लक्षणं यथा—'अयुजि ननरलागुरुः समे तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ' इति ॥ २२ ॥

विदूषक—वह तो बरसाती नदीकी तरह भरी हुई चली गई, उठिये ।

राजा—(उठकर) मित्र, यह तो ठीक नहीं हुआ देखो—

हजारों तरहकी मीठी बातोंसे सरावोर भी अनुनय यदि स्नेहसे खाली हुआ तो स्त्रियोंके हृदयमें नहीं प्रवेश करता है, जिस तरह जौहरी लोगोंके हृदयमें बनावटी रंगवाला मणि नहीं समाता है ॥ २२ ॥

विदूषकः—अनुकूलमेवात्रभवत एतत् । न खल्वक्षिदुःखितोऽभिमुखे दीपशिखां सहते । (अणुऊलं एव्व एत्थभवदो एदं । ण खु अक्खिदुक्खिदो अहिमुहे दीवसिहं सहेदि)

राजा—मा मैवम् । उर्वशीगतमनसोऽपि मे स एव देव्यां बहुमानः । किं तु प्रणिपातलङ्घनादहमस्यां धैर्यमवलम्बिष्ये ।

विदूषकः—तिष्ठतु तावद्भवतो धीरता । बुभुक्षितस्य ब्राह्मणस्य जीवितमवलम्बतां भवान् । समयः खलु स्नानभोजनं सेवितुम् । (चिट्ठदु दाव भवदो धीरदा । बुभुक्खिदस्स बम्हणस्स जीविदं अवलम्बदु भवं । समओ खु ण्हाणभोअणं सेविदुं)

अनुकूलम् = इष्टम् । अक्षिदुःखितो = चक्षुरवच्छेदेन पीडावान् । अक्ष्णोः दुःखित इति विग्रहः । अक्ष्णोः दुःखम् अक्षिदुःखं तत्संजातमस्येति वा, तत्र तद्धित इतच् । दुःखितमक्षि यस्येति विगृह्याक्ष्णः पूर्वनिपातोपायचिन्तया श्रमस्तु वृथा । यथा दुःखयुक्ताक्षः पुरतः स्थितां दीपशिखां न सहते तद्वदुर्वशीसंक्रान्तहृदयस्त्वमपि देव्या अत्रावस्थानं सोढुमसमर्थः, अतस्तवानुनयमवमत्य देवी गतेति तव पक्षेऽनुकूलमन्यथाऽस्यां स्थितौ तस्या इहावस्थाने भवतश्चित्तस्य वैकल्यमेधेतेति विदूषकोक्तेराशयः ।

बहुमानः = आदरातिशयः । प्रणिपातलङ्घनात् = अनुनयवचनावधीरणात् । देव्या मम प्रणिपातो न गणितः, सा च दक्षिणा नायिका, अनुशेतव्यमवश्यं पश्चात्तया, भवितव्यं च मदनुकूलयाऽतोऽधुना मम धैर्यावलम्बनमेव विचारणया प्राप्तकालमिति तात्पर्यम् । अत्र नत्याख्यस्य मानभङ्गोपायस्य व्यर्थतायां प्रमितायां राज्ञो धैर्यावलम्बनेनोपेक्षानामोपायः प्रयुक्तो वेदितव्यः ।

धीरता = 'धैर्यमवलम्बिष्ये' इत्यनेना व्यज्यमाना गम्भीरता । बुभुक्षितस्य =

विदूषक—आपके लिये तो यह ठीक ही हुआ, जिसकी आंखें आयी रहती हैं उसे सामनेमें मौजूद दीपशिखा भली नहीं लगती है ।

राजा—ऐसी बात नहीं है, यद्यपि हमारा मन उर्वशीमें लगा है फिर भी देवीके प्रति मेरा वही आदर है । किन्तु हमारे प्रणिपातकी देवीने अवज्ञा कर दी है, इसलिये धैर्यसे काम लूंगा ।

विदूषक—रहे आपकी धीरता । मुझ भूखे ब्राह्मणको आप जीवन दान दें, खाने पीनेका समय हो रहा है ।

राजा—(ऊर्ध्वमवलोक्य) गतमर्धं दिवसस्य ।

उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी
निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः ।
तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते
क्रीडावेश्मनि चैष पञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते ॥ २३ ॥

भोजनं कामयमानस्य । अवलम्बताम् = धारयतु । स्नानपानभोजनार्थमित उत्थाय स्वजीवितेन सह ममापि बुभुक्षितस्य ब्राह्मणस्य जीवितं रक्ष्यतामित्याशयः ।

उष्णालुरिति । उष्णालुः उष्णं न सहते इत्युष्णालुः रविकरनिकरतापासहिष्णुः शिखी शिखास्यास्तीति शिखी मयूरः तरोः वृक्षस्य शिशिरे जालसंबन्धाच्छीतले मूलालवाले मूलदेशावस्थिते पयोदानाय निर्मिते लघुगर्त्ते निषीदति उपविशति । षट्पदः भ्रमरः कर्णिकारमुकुलानि परिव्याधाख्यस्य 'कचनार' नाम्ना लोके प्रसिद्धस्य तरोः यानि मुकुलानि कलिकाः तानि आभिद्य स्फोरयित्वा आलीयते आसमन्ताल्लीनो भवति । कारण्डवः जलकुक्कुटः तप्तं वारि रविकरसन्तप्तं जलं विहाय तीरनलिनीम् तटवर्त्तिनीम् कमलिनीम् सेवते आश्रयति, क्रीडावेश्मनि लीलागारे (वर्त्तमानः) एष पञ्जरशुकः पञ्जरवर्त्ती कीरः च क्लान्तः पिपासाऽऽकुलितः सन् जलं पानीयं याचते प्रार्थयते । अत्र शिखी न केवलं तरुमूलमाश्रयति किन्तु तरुमूलालवालम्, अथापि न तवालवालं किन्तु तरुमूलालवालम्, न केवलमाश्रयते किन्तु निषीदति, येन सर्वाङ्गसम्बन्धेनाधिका तापनिवृत्तिः स्यात् षट्पदश्च क्वचन विकासिते पुष्पे नावासं बध्नाति, तत्र तापसंबन्धसम्भवात्, किन्तु मुकुलं विदार्य तत्राश्रयं गृह्णाति, नैतावदेव, सुगन्धगृध्नुरपि सनिर्गन्धतया प्रसिद्धेऽपि कर्णिकारमुकुले तद्दलानां स्थूलतया केवलं तापनिवृत्तिसौकर्यबुद्ध्या निलीयते निःशेषभावेन लीनो भवति । एतैश्च विविच्यमानैः सन्तापाधिक्यं व्यज्यते । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । उष्णालुरित्यत्र–'शीतोष्णतृप्रेभ्यस्तदसहने' इत्यालुच् । शिखीत्यस्य श्रीद्यादिपाठा-

राजा—(ऊपर देखकर) आधा दिन बीत गया—

असह्य गर्मीके कारण मयूर वृक्षोंके नीचेवाली क्यारीमें दुबका बैठा है, भौंरे कचनारकी कलियोंमें छिपकर बैठे हैं, गरमाये हुए पानीसे निकलकर बत्तक तीरस्थ कमलिनीके नीचे छिपे हैं, और क्रीडाभवनका सुग्गा प्याससे व्याकुल हो कर पानी मांग रहा है ॥ २३ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति द्वितीयोऽङ्कः ।

दिनिः । 'स्यादालवालमावापः' इत्यमरः । आसमन्ताल्लवम् जललवम् आगृह्णातीत्यालवालपदव्युत्पत्तिरिति काले महाशयः । स्पष्टमन्यत् ॥

इति मैथिलपण्डित-श्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते विक्रमोर्वशीय 'प्रकाशे'

द्वितीयाऽङ्क प्रकाशः ।

(सबका प्रस्थान)

द्वितीय अङ्क समाप्त

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशतो भरतशिष्यौ)

प्रथमः—सखे पल्लव महेन्द्रसदनं गच्छतोपाध्यायेन त्वमासनं प्रतिग्राहितः। अग्निशरणसंरक्षणाय स्थापितोऽहम्। अतः खलु पृच्छामि। अपि गुरोः प्रयोगेण दिव्या परिषदाराधिता।

द्वितीयः—गालव न जान आराधिता न वेति। तस्मिन्पुनः सरस्वतीकृतकाव्यबन्धे लक्ष्मीस्वयंवरे तेषु तेषु रसान्तरेषु तन्मय्यासीत्। किं तु—

(गालव ण आणे आराहिदा ण वत्ति। तस्सि उण सरस्सईकिदकव्वबन्धे लच्छीसअंवरे तेसु तेसु रसन्तरेसु तम्मआ आसि। किं तु—)

त्वमासनं प्रतिग्राहितः = तव हस्त आसनं स्थापितम्, एवं हि प्राचीनः समुदाचारः-क्वचिदन्यत्र गच्छता विदुषा स्वासनाद्यावश्यकोपकरणानि वोढुं कश्चन शिष्यः सह नीयते स्म, तदेवान्तर्निधायायं ग्रन्थः। 'आसनं प्रतिग्राहितस्त्वम्' अत्र गौणे युष्मदर्थे कर्मणि क्तः प्रत्ययः, गौणे कर्मणि दुह्यादेरिति स्मरणात्। दुह्यादिपाठस्यार्थनिबन्धनसंज्ञात्वाश्रयणेनोपपादनं ग्रहेर्दण्डितसमानार्थत्वात्करणीयम्। अग्निशरणसंरक्षणाय = अग्निशालापर्यवेक्षणाय। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः। प्रयोगेण = रूपकाभिनयेन। परिषत् = सभा, सा चात्र देवानां सभा, प्रकरणप्राप्तत्वात्। आराधिता = प्रसन्नतां गमिता। दिव्या = स्वर्गीया। सरस्वतीकृतकाव्यबन्धे = सरस्वत्या वाण्या कृतः काव्यबन्धः वस्तुरचना यस्मिंस्तत्र। लक्ष्मीस्वयंवरे = तदभिधाने रूपकविशेषे। रसान्तरेषु=शृङ्गारादिरसविशेषेषु, नटरभिनये प्रदर्श्यमानेऽनुकूलविभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात्प्रादुर्भवत्सु शृङ्गारादिषु रसेष्वित्यर्थः। तन्मयी= तदेकताना। रसानुभवकाले वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यताया रसस्वभावसिद्धत्वात्तद्गतप्राणता परिषदो वर्ण्यते।

(भरतके दो शिष्योंका प्रवेश)

प्रथम—मित्र पल्लव, स्वर्ग जानेके समय गुरुदेव तुझे साथ लेते गये थे, और मुझे अग्निशालाकी रक्षाका भार सौंप गये। इसलिये पूछता हूँ, क्या गुरुदेवके नाटकने देवोंका मनोरञ्जन किया?

द्वितीय—यह मैं नहीं कह सकता कि देवोंका मनोरञ्जन हुआ या नहीं, परन्तु सरस्वती द्वारा ग्रथित लक्ष्मी स्वयंवर रूपकने उन्हें तन्मय बना दिया था। लेकिन-

प्रथमः—सदोषावकाश इव ते वाक्यशेषः ।

द्वितीयः—आम । तस्मिन्नुर्वश्या वचनं प्रमादस्खलितमासीत् । (आम । तहिं उव्वसीए वअणं पमादक्खलिदं आसि)

प्रथमः—कथमिव ।

द्वितीयः—लक्ष्मीभूमिकायां वर्तमानोर्वशी वारुणीभूमिकायां वर्तमानया मेनकया पृष्टा । सखि समागता एते त्रैलोक्यसुपुरुषाः सकेशवाश्च लोकपालाः । कतमस्मिंस्ते भावाभिनिवेश इति । (लच्छीभूमिआए वट्टमाणा उव्वसी वारुणीभूमिआए वट्टमाणए मेणआए पुच्छिदा । सहि समाअदा एदे तैलोक्कसुपुरिसासकेसवा अ लोअवाला । कदमस्सिं दे भावाहिणिवेसोत्ति)

सदोषावकाशः = दोषस्य न्यूनताया अवकाशोऽवसरस्तेन सहितस्तथा, त्वदुच्चारितेन किन्तुपदेन क्वचनांशे न्यूनताऽवर्त्ततेति कथनमवशिष्यमाणमिव प्रतिभासते, तां स्फुटीकुरु त्वमिति भावः ।

'आम' इत्यव्ययं स्मरणार्थम्, 'आमानुगुण्ये स्मरणे' इति त्रिकाण्डी । प्रमादस्खलितम् = अनवधानवशादन्यथोच्चारितम् । अभिनयकाले प्रमादादुर्वशी किञ्चिदन्यदप्राप्तकालं कस्यचन प्राप्तकालस्य वक्तव्यस्य स्थाने व्याहृतवतीति मदुक्तकिन्तु पदस्यार्थः ।

'लक्ष्मीभूमिकायाम्' इत्यत्र भूमिका वेषपरिग्रहः । 'भूमिका रचनायां स्यान्मूर्त्यन्तरपरिग्रहे' इति 'विश्वः । 'अन्यरूपैर्यदन्यस्य प्रवेशः स तु भूमिका' इति भरतश्च । सुपुरुषाः = पुरुषश्रेष्ठाः । भावाभिनिवेशः = प्रेमबन्धः । पुरुषोत्तमे इति भणितव्ये = लक्ष्मीवेषधारिण्योर्वश्या तस्यां स्थितौ पुरुषोत्तमे मे भावाभिनिवेश इति वक्तव्यं युक्तमासीत्, परन्तु स्नेहस्यूतस्वान्ततया विस्मृततत्कालस्थितिकया तया स्वमनोगतं प्रकटयन्त्या 'पुरूरवसि' मे भावाभिनिवेश इति वागुदीरिता, तच्चाप्राप्तकालतयाऽदूषयत्प्रयोगचारुतामिति भावः ।

प्रथम—कुछ दोष रह गया क्या ?

द्वितीय—हाँ । उसमें उर्वशीके वचनमें असावधानतावश कुछ गलती हो गई ।

प्रथम—कैसे ?

द्वितीय—उर्वशी लक्ष्मी बनी थी और मेनका वारुणी, वारुणीने लक्ष्मीसे पूछा—सखी, ये त्रैलोक्यके सुपुरुषगण, भगवान्, तथा लोकपाल उपस्थित हैं, इनमें तुम किसे चाहती है ?

प्रथमः—ततस्ततः ।

द्वितीयः—ततस्तया पुरुषोत्तम इति भणितव्ये पुरूरवसीति निर्गता वाणी । (तदो ताए पुरिसोत्तमेत्ति भणिदव्वे पुरूरवेत्ति णिग्गदा वाणी)

प्रथमः—भवितव्यतानुविधायीनीन्द्रियाणि । न खलु तामभिक्रुद्धो गुरुः ।

द्वितीयः—सा खलु शप्तोपाध्यायेन । महेन्द्रेण पुनरनुगृहीता । (सा खु सत्ता उवज्झाएण । महिन्देण उण अणुगहिदा)

प्रथमः—कथमिव ।

द्वितीयः—येन ममोपदेशस्त्वया लङ्घितस्तेन न ते दिव्यं स्थानं भविष्यतीत्युपाध्यायस्य शापः । महेन्द्रेण पुनः प्रेक्षणावसाने लज्जावनतमुखी

भवितव्यतानुविधायीनि=भवितव्यतामनुविदधति अनुसरन्ति इत्येवं शीलानि इन्द्रियाणि=बुद्धीन्द्रियाणि, जनानामिति शेषः । यादृशी भवितव्यता तादृश्य एव बुद्धयो भवन्ति जनानामिति भावः । आहामुमर्थं नैषधीये श्रीहर्षोऽपि 'अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा । तृणेन वात्येव तयानुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना' ॥ इति । 'अनुविधायीनि' इत्यत्र 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इति णिनिः, 'आतो युक्चिण्कृतोः' इति युक् च । तामभिक्रुद्धो गुरुः=गुरुर्भरतस्तस्यां कोपं नाकृत किम् ? उचितं तस्य कोपकरणं, तया प्रमद्य रसभङ्गविधानादिति भावः ।

येन=यस्मात् कारणात् । उपदेशः=शिक्षा । लङ्घितः=अनवधानीभूय तिरस्कृतः, पुरुषोत्तम इति वाच्ये पुरूरवसीति ब्रुवाणया व्यर्थीकृत इति यावत् । दिव्यं स्थानं न भविष्यति=स्वर्गे वासो न भविष्यति, स्वर्गाच्च्युता मर्त्यलोक-

---

प्रथम—तब ?

द्वितीय—उसे पुरुषोत्तमका नाम लेना चाहिये किन्तु उसके मुंहसे पुरूरवाका नाम निकल गया ।

प्रथम—इन्द्रियाँ भवितव्यताका अनुसरण करती हैं । क्या गुरुदेव उसपर बिगड़े नहीं ?

द्वितीय—गुरुदेवने तो उसे शाप ही दे दिया, परन्तु इन्द्रने कृपा की ।

प्रथम--कैसे ?

द्वितीय—गुरुदेवने उसे शापदिया--तूनें हमारे उपदेशका अनादर किया है,

भणिता यस्मिन्बद्धभावासि तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियमत्र करणीयम् । सा त्वं यथाकामं पुरूरवसमुपतिष्ठस्व यावत्स त्वयि दृष्टसंतानो भवेदिति । (जेण मम उवदेसो तुए लद्धिदो तेण ण दे दिव्वं ठाणं हविस्सदित्ति उवज्झाअस्स सावो । महिन्देण उण पेक्खणावसाणे लज्जावणदमुही भणिदा जस्सिं बद्धभावा सि तस्स मे रणसहाअस्स राएसिणो पिअं एत्थ करणिज्जं । सा तुमं जहाकामं पुरूरवसं उवचिट्ठ जाव सो तुह दिट्ठसंताणो भोदित्ति ।)

प्रथमः—सदृशं पुरुषान्तरविदो महेन्द्रस्य ।

द्वितीयः—(सूर्यमवलोक्य) कथाप्रसङ्गेनास्माभिरपराद्धाऽभिषेकवेला खलूपाध्यायस्य । तदेहि । अस्य पार्श्वपरिवर्तिनौ भवावः । (कधापसङ्गेण अम्हेहिं अवरद्धा अहिसेअवेला क्खु उवज्झाअस्स । ता एहि । से पासपरिवत्तिणो होम)

वासिनी भविष्यसीति भावः । उपाध्यायस्य = भरतमुनेः । प्रेक्षणावसाने = प्रयोगदर्शनसमाप्तौ । लज्जावनतमुखी = त्रपानतवदना, त्रपा च कर्त्तव्यत्रुटिजन्यशापावसरप्राप्तिप्रभवा, दिव्याङ्गनायास्तस्या मानुषप्रेमविवशतोद्घाटनजनिता वात्र बोध्या । बद्धभावा = धृतस्नेहा । रणसहायस्य = युद्धकाले कृतोपकारस्य । राजर्षेः = पुरूरवसः । यथाकामम् = यथामनोरथम् ।

उपतिष्ठस्व = सङ्गतिं कुरुष्व, 'उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इति तङ् ।

सदृशम् = अनुरूपम् । पुरुषान्तरविदः = अन्यपुरुषभावाभिज्ञस्य । नहि कश्चिदसहृदयः परक्लेशानभिज्ञश्चैवं संमन्तुमर्हतीति महेन्द्रस्यौदार्यं प्रशस्यते ।

कथाप्रसङ्गेन = संभाषणेन, वाक्योवाक्यव्यासङ्गेनेत्यर्थः । अपराद्धाऽभिषेकवेला = स्नानसमयस्यातिपातः कृतः, उपाध्यायस्य स्नानसमये तदुचितोपकरणसमाहरणा-

इसलिये तुम्हारा स्थान स्वर्गमें नहीं है ।

इन्द्रने अभिनयके अन्तमें लज्जावनत मुखी उर्वशीसे कहा कि-तुम जिसे चाहती हो वह राजा हमारा युद्ध सहायक है, हमें उसका प्रिय करना है, तुम यथेच्छ पुरूरवाके पास रह सकती हो जब तक वह तुमसे उत्पन्न सन्ततिको नहीं देखलें ।

प्रथम—इन्द्रने दूसरेके दिलकी बात समझी तथा ठीक कहा ।

द्वितीय—बातचीतमें हमलोगोंने गुरुदेवके स्नानका समय बिता दिया । यह तो अपराध हो गया । चलो, उनके पास चलें ।

(इति निष्क्रान्तौ)

विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी—

सर्वः कल्ये वयसि यतते लब्धुमर्थान्कुटुम्बी
पश्चात्पुत्रैरपहृतभरः कल्पते विश्रमाय ।

धिकृताभ्यामावाभ्यामधुनावध्यन्यत्र स्थित्वाऽपराधः कृत इति भावः । उपेत्यास्मादधीयत इत्युपाध्यायः ।

उपाध्यायलक्षणं यथा—'एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः । योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥' इति मनुः ।

विष्कम्भकलक्षणं यथा—'तत्र विष्कम्भको भूतभाविवस्त्वंशसूचकः । अमुख्यपात्ररचितः संक्षेपैकप्रयोजनः । द्विधा स शुद्धो मिश्रश्च मिश्रः स्यान्नीचमध्यमैः । शुद्धः केवलमध्योऽयमेकानेककृतो द्विधा' ॥ अत्र च नीचमध्यमकृतत्वान्मिश्रविष्कम्भकोऽयम् ॥

कञ्चुकी—तल्लक्षणं यथा—'अन्तःपुरचरो राज्ञां वृद्धो विप्रो गुणान्वितः । सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते' ॥

मातृगुप्ताचार्यास्त्वेवमाहुः—ये नित्यं सत्यसम्पन्नाः कामदोषविवर्जिताः ।
ज्ञानविज्ञानकुशलाः कञ्चुकीयास्तु ते स्मृताः ॥ इति ।

सर्वः कल्य इति—सर्वः समस्तः कुटुम्बः पुत्रदारादिपोष्यवर्गः अस्त्यस्येति कुटुम्बी पारिवारिकः कल्ये निरामये यौवने वयसि अवस्थायाम् अर्थात् धनादीन् लब्धुम् अधिगन्तुम् यतते प्रयस्यति । पश्चात्तारुण्योत्तरकाले पुत्रैः सुतैः अपहृतभरः दूरीकृतकुटुम्बपोषणभारः सन् विश्रमाय विश्रान्तये कल्पते प्रभवति । (साधारणीयं व्यवस्था यद् गृहस्थस्तारुण्यावस्थायां यावच्छक्ति धनसङ्ग्रहाय व्यवस्यति, पश्चात्त्वतीते तारुण्ये पुत्रैर्गृहीतकुटुम्बपोषणभारो विश्रान्तये चेष्टते) तु किन्तु (गृहीत-

---

(जाते हैं)

[विष्कम्भक]

[कञ्चुकीका प्रवेश]

कञ्चुकी— जवानीमें सभी सम्पत्ति जोड़ना चाहते हैं, पीछे चलकर पुत्रोंपर

अस्माकं तु प्रतिदिनमियं सादयन्ती शरीरं
सेवाकारा परिणतिरहो स्त्रीषु कष्टोऽधिकारः ॥ १ ॥

(परिक्रम्य) आदिष्टोऽस्मि सनियमया काशिराजपुत्र्या यथा व्रत-संपादनाय मया मानमुत्सृज्य निपुणिकामुखेन पूर्वं याचितो महाराजः । तदेव मद्वचनाद्विज्ञापयेति । यावदिदानीमवसितसंध्याजाप्यं महाराजं पश्यामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) रमणीयः खलु दिवसावसानवृत्तान्तो राजवेश्मनि । इह हि—

कञ्चुकिकार्याणाम्) प्रतिदिनम् दिने दिने शरीरम् देहम् सादयन्ती ग्लपयन्ती शरीरधातूनामपचयात्क्षीणात् क्षीणतरं कुर्वतीत्यर्थः, इयम् सेवा सेवकवृत्तिः कारा-परिणतिः कारागाररूपेण परिणता अभूदिति शेषः । अतः स्त्रीषु स्त्रीणाम् विषये अधिकारः नियोगः कष्टः क्लेशप्रदः । अस्माकं तु न कदापि विश्रान्तिः, किन्तु सदा व्यापृतत्वमेव, तेन चेयं सेवावृत्तिरस्माकं कारावासरूपतां गतेति भावः । 'कुटुम्बं पोष्यवर्गे' इत्यमरमाला, 'कल्यं प्रभाते मधुनि सज्जे दक्षे निरामये' इति हैमः, 'अर्थः प्रयोजने वित्ते हेत्वभिप्रायवस्तुषु । शब्दाभिधेयविषये अस्यान्निवृत्तिप्रकारयोः' इति विश्वलोचनः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् , 'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद् गुरू चेत्' इति च तल्लक्षणम् ॥ १ ॥

सनियमया = गृहीतव्रतया । काशिराजपुत्र्या=काशिराजतनयया राजमहिष्या । आदिष्टः = आज्ञप्तः । व्रतसम्पादनाय = व्रतस्य साङ्गतायाः सिद्ध्यर्थम् । मानम् = ईर्ष्याकृतं कोपम् । निपुणिकामुखेन = निपुणिकाद्वारा । तदेव = यदितः पूर्वं निपुणिकामुखेन प्रार्थितं तदेवेत्यर्थः । अवसितसन्ध्याजाप्यम् = समाप्तसायङ्कृत्यम् । दिवसावसानवृत्तान्तः = दिनात्ययप्रकारः, 'वृत्तान्तः स्यात्प्रकरणे प्रकारे कार्त्स्न्य-वार्त्तयोः' इत्यमरः । राजवेश्मनि = राजप्रासादे ।

भार सौंपकर विश्राम करते हैं, परन्तु हम कञ्चुकियोंकी बात ही दूसरी है, प्रति-दिन सेवा किये चलो, देह खपादो, यह सेवावृत्ति तो कारावास हो गई है । सचमें स्त्रियोंकी सेवामें रहना बड़ा कष्टप्रद होता है ॥ १ ॥

(चलकर) व्रतपरायण काशीराजपुत्रीने कहा है कि मैंने मान त्यागकर निपु-णिकाके द्वारा महाराजसे प्रार्थनाकी है, उसकी याद दिलादें । इस समय महाराज सन्ध्याजप कर चुके होंगे, चलकर देखें । (चलकर तथा देखकर) सायंकालका राजभवन-दृश्य बड़ा सुन्दर है । यहाँ—

उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो
धूपैर्जालविनिःसृतैर्वलभयः संदिग्धपारावताः ।
आचारप्रयतः सपुष्पबलिषु स्थानेषु चार्चिष्मतीः
संध्यामङ्गलदीपिका विभजते शुद्धान्तवृद्धाजनः ॥ २ ॥

(नेपथ्याभिमुखं दृष्ट्वा) अये इत एव प्रस्थितो देवः ।
परिजनवनिताकरार्पिताभिः परिवृत एष विभाति दीपिकाभिः ।

उत्कीर्णा इवेति । निशायां रात्रौ या निद्रा सुषुप्तिस्तया अलसाः अभिभूताः बर्हिणो मयूराः वासयष्टिषु वासार्थमवस्थापितेषु दण्डेषु उत्कीर्णाः खचिता इव दृश्यन्त इति शेषः । जालेभ्यः गवाक्षेभ्यः विनिःसृतै बहिर्भूतैः धूपैः अगुर्वादिसुरभिद्रव्योत्थैर्धूमैः वलभयः सन्दिग्धपारावताः संशयितकपोता इव । अत्रापि दृश्यन्त इति शेषोऽध्याहार्य्यः । आचारप्रयतः आचारशुद्धः शुद्धान्तवृद्धाजनः अन्तःपुरवर्त्तिवृद्धवनितासमूहः सपुष्पबलिषु पुष्पैरुपहारैश्च पूजितेषु स्थानेषु अर्चिष्मतीः सप्रकाशाः सन्ध्यामङ्गलदीपिकाः विभजते तत्तत्स्थानेषु विभज्य निवेशयति । निशानिद्रयाऽभिभूताः शिखिनः स्ववासयष्टिषु तथा शेरते यथा तान्पश्यतां हृदि चित्रोत्थिता एवामी शिखिनो न जीववन्त इति भ्रान्तिरुदेति, गवाक्षविवरनिर्गतधूपपटली च वलभीषु कपोतभ्रमं जनयति । आचारनिष्ठश्च शुद्धान्तवृद्धाजनः पुष्पैर्बलिभिश्च दीपाधारस्थलानि विधिवत्संपूज्य सप्रकाशाः सन्ध्यामङ्गलदीपिका यथायोग्यं विभज्य स्थापयतीत्यर्थः । 'जालं वृन्दगवाक्षयोः' इति रभसः । 'गोपानसी तु वलभी छादने वक्रदारुणि' इति 'पारावतः कलरवः कपोतः' इति चामरः । 'शुद्धान्तोऽन्तःपुरे गृह्यकक्षाभेदेऽथ भूपतेः' इत्यजयः । 'बलिर्दैत्योपहारयोः' इति हैमः । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः, अनुत्कीर्णानामपि मयूराणामुत्कीर्णतासंभावनात् धूमे कपोतसंभावनाच्चेति सुरेन्द्रनाथः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २ ॥

अये इतीह विस्मये-अन्वेष्टुमभीष्टस्य राज्ञो लाभादानन्दे वा ।

परिजनेति । परिजनवनिताकरार्पिताभिः दासीजनहस्तदत्ताभिः दीपिकाभिः

सायंकालिक निद्रासे अलसाये हुए मयूर निवासयष्टिमें चित्रितकी तरह दीखते हैं, धूपका धूम गवाक्ष होकर निकल रहा है वह ऐसा मालूम पड़ता है जैसे पारावत हो । अन्तःपुर वृद्धायें जिनका आचार सतत अक्षुण्ण रहा है, जगमग करती हुई दीपमालिकाओंको यथास्थान रख रही हैं ॥ २ ॥

(नेपथ्यकी ओर देखकर) अहा, महाराज तो इधर ही आरहे हैं ।

हाथोंमें दीपमालिका लिये परिजनसे परिवृत महाराज ऐसा प्रतीत होते हैं मानो

गिरिरिव गतिमानपक्षलोपादनुतटपुष्पितकर्णिकारयष्टिः ॥ ३ ॥
यावदेनमवलोकनमार्गे स्थितः प्रतिपालयामि ।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा विदूषकश्च)

राजा—(आत्मगतम्)

कार्यान्तरितोत्कण्ठं दिनं मया नीतमनतिकृच्छ्रेण ।
अविनोददीर्घयामा कथं नु रात्रिर्गमयितव्या ॥ ४ ॥

आलोकसाधनतया प्रसिद्धाभिः (दीपिकाभिः) परिवृतः वेष्टितः एषः राजा—अनुतटम् तटेषु पुष्पिताः सञ्जातकुसुमविकासाः कर्णिकारयष्टयः द्रुमोत्पलाख्यवृक्षस्तम्भाः यत्र तादृशः पुलिनविकसत्कर्णिकारतरुस्तम्भः अपक्षलोपात् पक्षलोपस्याजातत्वात् गतिमान् चलः गिरिः पर्वत इव विभाति शोभते । परिजनगृहीतदीपिकाभिः परिवेष्टितो देवः सपुष्पयुक्तकर्णिकारयष्टिर्जङ्गमगिरिरिव विराजत इत्याशयः । अत्र राज्ञो गिरितुल्यतोपनिबन्धनेन विशालकायता व्यञ्जिता । उपमाऽलङ्कारः । पुष्पिताग्रावृत्तम् , तल्लक्षणं यथा—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति ॥ ३ ॥

अवलोकनमार्गे = दृष्टिपथे, यत्र स्थित्वा द्रष्टुं क्षमेय तत्रेत्यर्थः । प्रतिपालयामि= इमामेव दिशमागच्छन्तं प्रतीक्षे इत्यर्थः । यथानिर्दिष्टः=दीपिकाभिः परिवृत इत्याशयः ।

कार्यान्तरितोत्कण्ठमिति । कार्येण राजकृत्यव्यवहारावेक्षणप्रभृतिना अन्तरिता आच्छन्ना उत्कण्ठा औत्सुक्यं यत्र तादृशम् दिनम् मया अनतिकृच्छ्रेण नातिकष्टेन नीतमतिवाहितम् । सव्यापारतयोत्कण्ठां विस्मृत्य दिनं यापितं तत्र च कियत्कष्टमप्यनुभूतं परं नातिमहत्तत् । सम्प्रति कार्यान्तराभावेन सततमन्तर्व्यथवन्त्या उत्कण्ठाया असुनिकारणीयतया कथं निशा गमनीया स्यादित्याह—अविनोददीर्घेति । अविनोदात् विनोदजनकव्यापारप्रसङ्गाभावात् दीर्घाः महान्तः यामाः प्रहराः यस्यास्तादृशी रात्रिः कथन्नु केन प्रकारेण नु गमयितव्या व्यतियापनीया ? तमेव प्रकारं न पश्यामीति भावः । 'स्यात् कष्टं कृच्छ्रमाभीलम्' इत्यमरः । आर्याभेदो वृत्तम् ॥

पांखके नहीं कटनेसे जङ्गम पर्वत हों जिसके तटमें कचनारकी डालियाँ फूलसे लदी हों ॥ ३ ॥

तब तक इसी देखनेकी जगहपर ठहरकर उन्हें निहारूं ।

[यथा निर्दिष्ट राजा तथा विदूषकका प्रवेश]

राजा—(स्वगत) कार्यान्तरमें लगे रहनेके दिन तो किसी तरह मैंने बिता दिया, किन्तु विना विनोदके होनेसे लम्बी यह रात्रि किस तरह बिताई जाय ? ॥४॥

कञ्चुकी--(उपगम्य) जयतु जयतु देवः । देव, देवी विज्ञापयति—मणिहर्म्यपृष्ठे सुदर्शनश्चन्द्रः । तत्र संनिहितेन देवेन प्रतिपालयितुमिच्छामि यावद्रोहिणीसंयोग इति ।

राजा—आर्य लातव्य विज्ञाप्यतां देवी यस्ते छन्द इति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः)

राजा—वयस्य किं परमार्थत एव देव्या व्रतनिमित्तोऽयमारम्भः स्यात् ।

विदूषकः--भोः तर्कयामि जातपश्चात्तापा तत्रभवती व्रतापदेशेन भवतः प्रणिपातलङ्घनं प्रमार्ष्टुकामेति । (भो तक्केमि जादपच्चादावा तत्तभोदी वदावदेसेण भवदो पणिपादलङ्घणं पमज्जिदुकामत्ति)

मणिहर्म्यपृष्ठे = मणिनिर्मितप्रासादोपरि । सुदर्शनः = सुखं दृश्यः । तत्र = मणिहर्म्यपृष्ठे । सन्निहितेन = आसन्नवर्त्तिना । देवेनेत्यस्य सहेति शेषः, अत एव तृतीयापि । प्रतिपालयितुम् = प्रतीक्षितुम् । अयमर्थः—चन्द्ररोहिणीसंयोगदर्शनावधिव्रतं कुर्वाणया देव्या प्रासादपृष्ठेऽवस्थातव्यं यत्र स्थित्वा चन्द्रदर्शनं सुकरं स्यात्तत्र स्थितया च तया राज्ञा सह चन्द्ररोहिणीसंयोगः प्रतीक्षितव्योऽतः सा कञ्चुकिमुखेन प्रासादपृष्ठे राज्ञोपस्थितिं प्रार्थयत इति ।

'लातव्य' इति कञ्चुकिनाम । छन्दः = इच्छा । अदन्तोऽयमिच्छार्थश्छन्दशब्दः, अत एव 'मूर्खछन्दानुरोधेन' इत्यादयः प्रयोगाः । 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' इत्यमरः । तवेच्छामनुवर्त्तिष्ये इत्याशयः ।

परमार्थतः = सत्यतः । व्रतनिमित्तः = व्रतं निमित्तीकृत्य । आरम्भः = अनुष्ठानम् । इदं देव्या व्रतमथवाऽन्यत् किमप्यत्र रहस्यमिति राज्ञो जिज्ञासा ।

जातपश्चात्तापा = उपजातानुशया । तत्रभवती = पूज्या देवी । व्रतापदेशेन =

कञ्चुकी—(समीप जाकर) जय हो महाराज, जय हो । महाराज, देवीने कहा है कि मणिहर्म्यपृष्ठपर चन्द्रमाका दृश्य अच्छा रहता है, वहीं महाराजके साथ चन्द्ररोहिणी संयोगकी प्रतीक्षा करना चाहती हूं ।

राजा—आर्य लातव्य, देवीकी जैसी इच्छा ।

कञ्चुकी--जो आज्ञा । (जाता है)

राजा—मित्र, क्या वस्तुतः देवीका यह आयोजन व्रतके लिये है ?

विदूषक--अजी, मुझे मालूम पड़ता है--देवीको आपके अनुनयको न माननेका पश्चात्ताप है, इसीसे व्रतके बहाने उसे मिटा देना चाहती हैं ।

राजा--उपपन्नं भवानाह । तथा हि ।

अवधूतप्रणिपाताः पश्चात्संतप्यमानमनसोऽपि ।
निभृतैर्व्यपत्रपन्ते दयितानुनयैर्मनस्विन्यः ॥ ५ ॥

तदादेशय मणिहर्म्यपृष्ठमार्गम् ।

विदूषकः—इत इतो भवान् । अनेन गङ्गातरङ्गसश्रीकेण स्फटिकमणिसोपानेनारोहतु भवान्प्रदोषावसररमणीयं मणिहर्म्यम् । (इदो इदो भवं । इमिणा गङ्गातरङ्गसस्सिरीएण फलिअमणिसोवाणेण आरोहदु भवं पदोसावसररमणिज्जं मणिहम्मिअं)

व्रतस्यच्छलेन । प्रमार्ष्टुकामा = अपसारयितुमनाः । प्रणिपातलङ्घनम् = अनुनयतिरस्कारम् । देवी वस्तुतो व्रतं नाचरति, किन्तु भवतः प्रणिपातमविगणय्य यद्गता, तद्विषये तस्याः पश्चात्तापो जातः, तदेव प्रणिपातलङ्घनं मार्जयितुं देवस्य सान्निध्यं तथा प्रार्थ्यते तद्भवतोऽभीष्टमनायासेन सिद्धमिति भावः ।

उपपन्नम् = युक्तियुक्तम् ।

अवधूतेति । अवधूतः अनादृतः प्रणिपातः प्रियकृतानुनयः याभिः ताः अवधूतप्रणिपाताः तिरस्कृतप्रियकृतपादपतनाः मनस्विन्यः मानिन्यो वनिताः पश्चात् प्रणिपातलङ्घनादूर्ध्वम् सन्तप्यमानमनसः पश्चात्तापपीडिता अपि निभृतैः प्रच्छन्नभावेन स्थितैः दयितानुनयैः प्रियतमकृतैः पादपतनादिभिः व्यपत्रपन्ते लज्जिता भवन्ति । प्रथमं प्रियानुनयमविगणय्य स्वगौरवं प्रकाशयन्त्योऽपि मानवत्यो वनिताः पश्चादात्मनि जायमानेन तापेन लज्जन्ते, मन्ये, तासां पुरः प्रियाचरितः पादपतनादिः प्रच्छन्नभावेनावस्थित इव स्यात् । आत्मकृते कर्मणि लज्जां तु प्रकाशयितुं नेच्छन्ति मानहानिप्रसङ्गादिति भावः । आर्याभेदो वृत्तम् ॥ ५ ॥

आदेशय = दर्शय ।

गङ्गातरङ्गसश्रीकेण = गङ्गातरङ्गसमानशोभेन । स्फटिकसोपानेन = स्फटिकशिला-

---

राजा--तुम ठीक कहते हो, क्योंकि--

स्त्रियाँ पहले स्वामी द्वारा किये गये अनुनयोंका तिरस्कार कर देती हैं, पीछे उन्हें पश्चात्ताप होने लगता है, और वह छिपा हुआ प्रियानुनय उन्हें लज्जित करता रहता है ॥ ५ ॥

इसलिये हमें मणिहर्म्यका मार्ग तो बताओ ।

विदूषक—महाराज, इधर चलें । इस सीढ़ीसे चलें जो गङ्गातरङ्गकी तरह दीखती है, यही है मणिहर्म्य जो प्रदोष समयमें बहुत सुन्दर मालूम पड़ता है ।

राजा—आरोहाग्रतः ।

(सर्वे सोपानारोहणं नाटयन्ति)

विदूषकः—(निरूप्य) भोः प्रत्यासन्नेन चन्द्रोदयेन भवितव्यम् । यथा तिमिररिच्यमानं पूर्वदिशामुखमालोकसुभगं दृश्यते । (भो पच्चासण्णेण चन्दोदएण होदव्वं । जह तिमिररेईअमाणं पुव्वदिसामुहं आलोअसुहअं दीसदि)

राजा—सम्यगाह भवान् ।

उदयगूढशशाङ्कमरीचिभिस्तमसि दूरमितः प्रतिसारिते ।
अलकसंयमनादिव लोचने हरति मे हरिवाहनदिङ्मुखम् ॥ ६ ॥

निर्मितेनारोहणमार्गेण । आरोहतु=उपरि गच्छतु । प्रदोषावसररमणीयम्=सायङ्कालमनोहरम् । मणिहर्म्यस्य सायङ्कालमनोहरता च स्फटिकनिर्मितत्वे चन्द्रज्योत्स्नामिलितत्वेन बोध्या ।

अग्रतः = पूर्वम् ।

प्रत्यासन्नेन=अदूरभाविना, सन्निहितेनेत्यर्थः । चन्द्रोदयस्य सन्निहितत्वे प्रमाणमाह—यथेति । तिमिररिच्यमानम् = अन्धकारेण मुच्यमानम् । पूर्वदिशामुखम् = पूर्वदिशान्तरालम् । आलोकसुभगम् = रमणीयदर्शनम् ।

उदयगूढेति । उदयेन उदयाचलेन गूढः अन्तरवस्थापितः यः शशाङ्कः चन्द्रः तस्य मरीचिभिः किरणैः इतः अस्मात् प्रदेशात् तमसि ध्वान्ते दूरम् प्रतिसारिते निरस्ते सति—हरिवाहनदिङ्मुखम् प्राचीदिशामुखम् अलकसंयमनात् केशपाशबन्धनात् इव मे मम मनः हरति । अयमाशयः—यथा कस्याश्चन नायिकायाः केशकलापे विकीर्णे सुन्दरमपि तन्मुखं तत्रान्तर्हितत्वेन हृदयं नावर्जयति, परतः

राजा—आगे चलो ।

(सभी सीढ़ीपर चढ़ते हैं)

विदूषक—अजी, चन्द्रोदय शीघ्र ही होनेवाला मालूम पड़ता है, पूर्व दिशाके मुखपरसे अन्धकारका परदा हटता जारहा है ।

राजा—तुम ठीक कहते हो ।

उदयाचलमें छिपे हुए चन्द्रमाकी किरणोंसे अन्धकार दूर भगाया जारहा है । इस समय पूर्व दिशाका मुख मेरा मन इस तरह आकृष्ट कर रहा है मानों उसने अपना केश (तम) समेट रही हो ॥ ६ ॥

विदूषकः—ही ही भोः एष खण्डमोदकसश्रीक उदितो राजा द्विजातीनाम् । (ही हीं भो एसो खण्डमोदअसस्सिरीओ उदिदो राआ दुआदीणं)

राजा—(सस्मितम्) सर्वत्रौदरिकस्याभ्यवहार्यमेव विषयः । (प्राञ्जलिः प्रणम्य) भगवन्क्षपानाथ ।

रविमावसते सतां क्रियायै सुधया तर्पयते सुरान्पितॄंश्च ।

संयमिते तु केशकलापेऽतितरामावर्जयति, तद्वदस्याः प्राच्या मुखं तमस्युदयाचलगूढस्य चन्द्रमसः प्रभाभिरपसारिते नितान्तं मम चित्तमाकर्षतीति । हरिवाहनः इन्द्रः, स च प्राच्याः स्वामीति प्रसिद्धमेव । अत्र तमो दूरापसारणस्य नयनानन्दहेतुकेनालकसंयमनत्वेनोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति ॥ ६ ॥

खण्डमोदकसश्रीकः = खण्डशर्करापिण्डसदृक्षः । द्विजातीनाम् = ब्राह्मणानाम्, 'चन्द्रोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' इति श्रुतिश्चन्द्रमसो ब्राह्मणराजतां समर्थयति । 'द्विजराजः शशधरः' इत्यादिकोषा अप्यत्रानुकूला बोध्याः । औदरिकस्य=आहारप्रियस्य । अभ्यवहार्यम् = भक्ष्यम् । सर्वत्रायं भोजनभट्टस्तद्विषय एव चिन्तयतीत्यर्थः ।

रविमावसते । सताम् सज्जनानाम् क्रियायै दर्शेष्टिपितृयज्ञादिकाय कर्मणे रविमावसते सूर्येण सङ्गच्छमानाय । 'चन्द्रमा वा अमावास्यायामादित्यमनुप्रविशति, सोऽन्तर्धीयते, तं न निर्ज्ञानन्ति' इति ऐतरेयब्राह्मणे । अमावास्यापदस्य—अमा सह वसतः चन्द्रार्कावस्यामिति व्युत्पत्तिरप्यत्रार्थेऽनुकूला । सुधया अमृतेन सुरान् पितॄंश्च तर्पयते आप्याययते । चन्द्रस्य किल षोडशकलाः, तासां पञ्चदशकलाः कृष्णपक्षे देवैः पर्यायेण पीयन्ते, एवं निपीत एकया कलयाऽवशिष्टश्चन्द्रोऽमायां सूर्यं प्रविशति, स च शुक्लपक्षे तं कलाभिर्वर्द्धयत इति शास्त्रसम्मतिः । तथा चोक्तं देवीपुराणे—

'कलाः षोडश चन्द्रस्य शुक्ले वर्धयते रविः ।
अमृतेनामृतं कृष्णे पीयते दैवतैः क्रमात् ॥

विदूषक—हहह ! यह मिश्रीके गोलेके सदृश ब्राह्मणोंके राजा चन्द्रमा उदित हुए ।

राजा—(मुसकिराकर) पेटूको सर्वत्र खाना ही दीखता है । (हाथ जोड़कर) सज्जनोंके यज्ञ आदिका अवसर प्रदान करनेके लिए आप सूर्यमें मिल जाते हैं, देव तथा पितृगण आपकी सुधासे अपनी तृप्ति करते हैं, रातमें फैलनेवाले

तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे हरचूडानिहितात्मने नमस्ते ॥७॥

(इत्युपतिष्ठते)

विदूषकः—भो ब्राह्मणसंक्रामिताक्षरेण ते पितामहेनाभ्यनुज्ञात आसनस्थितो भव यावदहमपि सुखासीनो भवामि । (भो बम्हणसंकामिदक्खरेण दे पिदामहेण अब्भणुण्णादो आसणट्ठिदो होहि जाव अहं वि सुहासीणो होमि)

प्रथमां पिबते वह्निर्द्वितीयां पवनः कलाम् ।
विश्वेदेवास्तृतीयां तु चतुर्थीं तु प्रजापतिः ॥
पञ्चमीं वरुणश्चापि षष्ठीं पिबति वासवः ।
सप्तमीमृषयो दिव्या वसवोऽष्टौ तथाऽष्टमीम् ॥
नवमीं कृष्णपक्षस्य पिबतीन्द्रः कलामपि ।
दशमीं मरुतश्चापि रुद्रा एकादशीं तथा ॥
द्वादशीं तु कलां विष्णुर्धनदश्च त्रयोदशीम् ।
चतुर्दशीं पशुपतिः कलां पिबति नित्यशः ॥
ततः पञ्चदशीं चैव पिबन्ति पितरः कलाम् ।
कलावशिष्टो निष्पीतः प्रविष्टः सूर्यमण्डलम् ॥
अमायां विशते रश्मावमावासी ततः स्मृतः' ॥ इति ।

निशि रात्रौ मूर्च्छतां प्रभवतां तमसाम् अन्धकारस्तोमस्य निहन्त्रे निःशेषभावेन विनाशकाय, हरस्य शिवस्य चूडायाम् शिरोदेशे निहितः स्थापितः आत्मा कलारूपः येन तस्मै ते तुभ्यम् चन्द्राय नमः इति वाक्यार्थः ॥ ७ ॥

ब्राह्मणसङ्क्रामिताक्षरेण=ब्राह्मणे मल्लक्षणे विप्रे सङ्क्रामितानि अक्षराणि स्ववाच्यानि येन तादृशेन, मल्लक्षणब्राह्मणद्वारा स्ववक्तव्यं ब्रुवाणेनेत्यर्थः । ते=तव । पितामहेन=चन्द्रेण । अभ्यनुज्ञातः । त्वत्पितामहाज्ञया ब्राह्मणोऽहं त्वामासनपरिग्रहायानुमन्य इति भावः । सुखासीनः=सूपविष्टः ।

तमका आप नाश करते हैं, महादेवका मस्तक आपसे शोभा प्राप्त करता है, चन्द्रदेव, आपको प्रणाम करता हूँ ॥ ७ ॥

(उपस्थित होते हैं)

विदूषक—अजी, तुम्हारे पितामह चन्द्रदेव मेरे द्वारा तुम्हें बैठनेका आदेश दे रहे हैं, इस आसनपर बैठो, जबतक मैं भी बैठूं ।

राजा—(विदूषकवचनं परिगृह्योपविष्टः । परिजनं विलोक्य) अभिव्यक्तायां चन्द्रिकायां किं दीपिकापौनरुक्त्येन । तद्विश्राम्यन्तु भवत्यः ।

परिजनः—यहेव आज्ञापयति । (जं देवो आणवेदि) (इति निष्क्रान्तः)

राजा—(चन्द्रमसमवलोक्य) वयस्य परं मुहूर्तादागमनं देव्याः । तद्विविक्ते कथयामि स्वामवस्थाम् ।

विदूषकः—ननु दृश्यत एव सा । किं तु तादृशमनुरागं प्रेक्ष्य शक्यं खल्वाशाबन्धेनात्मानं धारयितुम् । (णं दीसदि एव्व सा । किं दु तारिसं अणुराअं पेक्खिअ सक्कं क्खु आसाबन्धेण अत्ताणअं धारेदुं)

राजा—एवमेतत् । बलवान्पुनर्मम मनसोऽभितापः ।

दीपिकापौनरुक्त्येन = दीपिकाकार्यस्य प्रकाशस्याभिव्यक्तया चन्द्रिकयैव कृतत्वाद् व्यर्थाभिर्दीपिकाभिरित्यर्थः ।

विविक्ते = एकान्तस्थाने, 'विविक्तो विजने पूते' इति कोषः । स्वामवस्थाम् = निजमनोदशाम् ।

दृश्यत एव सा = तवावस्थां त्वदङ्गग्लानिरेव व्यञ्जयति तदलं तत्कथनेनेति भावः । तादृशम् = प्ररूढतमम् । अनुरागम् = त्वय्युर्वश्याः प्रेमबन्धम् । आशाबन्धेन = आशारूपसूत्रेण । उर्वशी भवति यादृशमनुरागं धारयति तेनाशा जन्यते यत्सा भवतावश्यं प्राप्स्यते तदलं चिन्तयेति तात्पर्यम् ।

एवमेतत् = आशाजनकस्तस्याः क्रम इति सत्यम् । अभितापः = वियोगप्रभवः खेदः । आर्त्तस्य कालप्रतीक्षा नितान्तमसुकरा सम्पद्यत इति भावः । अत्र दृष्टदृढोर्वश्यनुरागस्य विदूषकवचसोत्तेजितस्योर्वशीप्राप्त्याशाऽवसीयते पुरूरवसः । लक्ष्या-

---

राजा—(विदूषककी बात मानकर बैठ जाता है । परिजन को देखकर) इस स्फुट चांदनीमें दीपक बेकार हैं, अतः आपलोग आराम करें ।

परिजन—जैसी आज्ञा । (जाता है)

राजा—(चन्द्रमाको देखकर) मित्र, देवीके आनेमें अभी घड़ीभरकी देर है, तबतक अपनी अवस्था बताता हूँ ।

विदूषक—वह तो देख ही रहा हूँ, किन्तु उस अनुरागको देखकर आशाके बलपर जीया जा सकता है ।

राजा—यही बात है । फिर भी हमारे मनमें बड़ा सन्ताप है ।

नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासंकटस्खलितवेगः ।
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणो भवति ॥ ८ ॥

विदूषकः—यथा परिहीयमाणैरङ्गैरधिकं शोभसे तथाऽदूरे प्रियासमागमं ते प्रेक्षे । (जहा परिहीअमाणेहिं अङ्गेहिं अहिअं सोहसि तहा अदूरे पिआसमागमं ते पेक्खामि)

राजा—(निमित्तं सूचयित्वा) वयस्य

वचोभिराशाजननैर्भवानिव गुरुव्यथम् ।

लक्ष्यतया किञ्चिदुद्भिन्नस्य बीजस्य मुहुरन्वेषणाद् गर्भसन्धिरपि । तस्य पताकाविरहेऽपि न कापि क्षतिरिति बोध्यम् , तथा चोक्तं दशरूपके—

'गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ।
द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसंभवः' ॥

नद्या इवेति । विघ्नितसमागमसुखः प्रतिबध्यमानसमागमजनितानन्दः मनसिशयः कामः विषमशिलासंकटस्खलितवेगः निम्नोन्नतशिलातलप्रतिहतजवः नद्याः स्रोतस्विन्याः प्रवाहः धारा इव शतगुणः शतधारः शतगुणितश्च भवति । अयमाशयः—कस्याश्चन खरवाहिन्या धाराया अग्रे यदि निम्नोन्नताः शिलाः समापतन्ति तदा तस्याः प्रतिहतः प्रवाहो यथा धाराणां शतैः विशीर्णो भवति तथैव यद्विषयः कामो मनसि मूर्च्छति समागमश्च सान्तरायतया प्रतिबध्यते तद्विषये शतगुणतामिव लभते काम इति । मनसि शेते इति मनसिशयः, 'अधिकरणे शेतेः' इत्यच् प्रत्ययः, 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति सप्तम्या अलुक् । स्पष्टमन्यत् ॥ ८ ॥

परिहीयमाणैः=अनुदिवसमपचीयमानैः । **अदूरे**=समीपे । यथानुदिनं दुर्बलीभवद्भिरपि शरीरावयवैः कान्तिं पुष्णासि तथाऽहमाशुभाविनं ते प्रियासङ्गमं संभावयामि, मनःप्रसादस्य कार्यसिद्ध्यनुमापकत्वादिति भावः ।

वचोभिरिति । (उर्वशीसमागमविषये) आशाजननैः आशोत्पादकैः वचोभिः

शिलाखण्डसे घिरा हुआ नदीका प्रवाह जिस तरह सहस्रधार होकर बहता है, समागमसुखमें विघ्न पड़नेपर काम भी उसी तरह शतगुण हो जाता है ॥ ८ ॥

विदूषक—आप इस दुर्बल देहसे जितने सुन्दर दीखते हैं, इससे तो आपका प्रियाके साथ समागम आसन्न ज्ञात होता है ।

राजा—(शकुन देखकर) आशाजनक बातोंसे तुम जिस तरह अतिसन्तप्त

अयं मां स्पन्दितैर्बाहुराश्वासयति दक्षिणः ॥ ९ ॥

विदूषकः—न खल्वन्यथा ब्राह्मणस्य वचनम् । (ण खु अण्णहा बम्हणस्स वअणं)

राजा—(सप्रत्याशस्तिष्ठति)

(ततः प्रविशत्याकाशयानेनाभिसारिकावेषोर्वशी चित्रलेखा च)

उर्वशी—(आत्मानं विलोक्य) हला चित्रलेखे ? अपि रोचते तेऽयं मेऽल्पाभरणभूषितो नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेषः । (हला चित्तलेहे अवि रोअदि दे अअं मे अप्पाभरणभूसिदो णीलंसुअपरिग्गहो अहिसारिआवेसो)

वचनैः भवान् इव अयम् दक्षिणः वामेतरः बाहुः भुजः गुरुव्यथम् दुःसहसन्तापम् माम् स्पन्दितैः चलनैः (स्फुरणैः) आश्वासयति प्रबोधयति । यथा तवाशाजनकैर्वाक्यैरुर्वशीसमागविषये भिन्नमर्माप्यहमाश्वासनामनुभवामि, तथैवायं दक्षिणो बाहुरपि स्फुरन्नाशां तद्विषयामुत्पाद्याश्वासयतीति भावः । दक्षिणो भवान् दक्षिणश्च बाहुर्मामाश्वासयति, भवानाशाजननैर्वचोभिः, बाहुश्चाशाजननैः स्फुरणैरिति विवेकः ॥९॥

अत्र बाहुस्पन्दनलिङ्गेनोर्वशीप्राप्त्यनुमानात् अनुमानं नाम सन्ध्यङ्गमुपक्षिप्तं वेदितव्यम् ।

अन्यथा = व्यर्थम् ।

आकाशयानेन = आकाशवर्त्मना, व्योमयानेन वा । अभिसारिकावेषा = श्यामलपरिधाना, तथाकरणं चात्मगोपनार्थम् , कृष्णाभिसारिका शुक्लाभिसारिका चेति तासां द्वे कोटी, तत्रेयं कृष्णाभिसारिकेत्यग्रे ज्ञास्यते । अल्पाभरणभूषितः = स्वल्पालङ्कारः । नीलांशुकपरिग्रहः = श्यामवस्त्रपरिधानशोभी । अभिसारिकालक्षणं यथा साहित्यदर्पणे—

मेरे हृदयको धीरज बंधाते हो उसी तरह फरकनेवाला यह दहिना हाथ भी आशा पैदा करके धीरज बंधाता है ॥ ९ ॥

विदूषक—ब्राह्मणकी वाणी झूठ नहीं हुआ करती ।

राजा—(आशावान् होता है)

(आकाशमार्गसे अभिसारिकावेशमें उर्वशी तथा चित्रलेखा का प्रवेश)

उर्वशी—(अपनी ओर देखकर) सखी चित्रलेखा, मैंने थोड़ेसे ही गहने रखे हैं, काली साड़ी पहनली है, क्या यह हमारा अभिसारिकावेश तुम्हें भला लगता है ?

चित्रलेखा—नास्ति मे वाग्विभवः प्रशंसितुम् । इदं तु चिन्तयामि-अपि नामाहं पुरूरवा भवेयमिति । (णत्थि मे वाआविहवो पसंसिदुं । इदं तु चिन्तेमि-अवि णाम अहं पुरूरवा भवेअंति)

उर्वशी—सखि मदनः खलु त्वामाज्ञापयति-शीघ्रं नय मां तस्य सुभगस्य वसतिम् । (सहि मदणो खु तुमं आणवेदि-सिघ्घं णेहि मं तस्स सुहअस्स वसदिं)

चित्रलेखा—नन्वेतत्परिवर्तितमिव कैलासशिखरं प्रियतमस्य ते भवनमुपगते स्वः । (णं एदं परिवत्तिदं विअ केलाससिहरं पिअदमस्स दे भवणं उवगदम्ह)

उर्वशी—तेन हि प्रभावाज्जानीहि तावत्क स मम हृदयचोरः किं वानुतिष्ठतीति । (तेण हि पहावदो जाणीहि दाव कहिं सो मम हिअअचोरो किं

'अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा ।
स्वयं वाऽभिसरत्येषा धीरैरुक्ताऽभिसारिका' ।

वाग्विभवः = वर्णनसामर्थ्यम् । भवेयमिति संभावनायां लिङ् । यद्यहं पुरूरवा भवेयं तदैवास्या रूपसम्पदो यथार्थं रामणीयकं वर्णयितुं प्रभवेयम्, स्नेहस्यापि रूपपरीक्षणे कारणत्वादिति भावः ।

मदनः = मम हृदये समुज्जृम्भमाणः कामः, त्वामाज्ञापयति = मन्मुखेनादिशति । अनया चोक्त्या औत्सुक्यातिशयो व्यज्यते ।

परिवर्त्तितम् = रूपान्तरपरिणतम् । ते प्रियतमस्य = तव वल्लभस्य राज्ञः पुरूरवसः । भवनस्य कैलासशिखरोपमयोच्चतरता धवलता च व्यज्यते ।

प्रभावात् = देवयोनिलभ्यशक्तिविशेषात् । हृदयचोरः = प्रियो यो हृदयं वशी-

---

चित्रलेखा—मेरी वाणीमें इतनी शक्ति नहीं है कि इसकी प्रशंसा कर सकूं । मैं तो सोचती हूँ—अगर मैं पुरूरवा होती ।

उर्वशी—सखी, तुम्हें कन्दर्प आदेश कर रहा है, तुम शीघ्र उर्वशीको उस सुपुरुषके घर ले चलो ।

चित्रलेखा—तुम्हारे प्रेमीके घर आ ही तो गई, यही दूसरा कैलास तो उनका घर है ।

उर्वशी—तब अपने प्रभावसे ज्ञात करो कि हमारा वह हृदयचोर कहाँ है ।

वा अणुचिट्ठदित्ति)

चित्रलेखा—(ध्यात्वा । आत्मगतम्) भवतु क्रीडिष्यामि तावदेतया । (प्रकाशम्) हला एष मनोरथलब्धप्रियासमागमसुखमनुभवन्नुपभोगक्षमेऽवकाशे तिष्ठति । (भोदु कीलिस्सं दाव एदाए । हला एसो मणोरहलद्धपिआसमाअमसुहं अणुहवन्तो उवहोअक्खमे ओआसे चिट्ठदि)

उर्वशी—(विषादं नाटयति)

चित्रलेखा—मुग्धे का पुनरन्या चिन्ता प्रियासमागमस्य । (मुद्धे का उण अण्णा चिन्ता पिआसमाअमस्स)

कृत्य स्थितः ।

मनोरथलब्धप्रियासमागमसुखम्—मनोरथानुरूपं लब्धा या प्रिया वनिता तस्याः समागमसुखम् । अथवा—मनोरथेन सङ्कल्पमात्रेण न तु वस्तुतत्त्वेन लब्धो यः प्रियाया उर्वश्याः समागमः सङ्कल्पसमागमस्तस्य सुखम् आनन्दम् । उपभोगक्षमे = संभोगोपयुक्ते । अत्राद्येनार्थेनोर्वश्या असन्तोषः स्यात्ततश्च किमपि मनोगतमियं वदेदिति क्रीडा चित्रलेखायाः । अत्र सव्याजवचनाश्रयणात् अभूताहरणं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तमित्यनुसन्धेयम् । तदुक्तम्—'अत्र व्याजाश्रयं वाक्यमभूताहरणं मतम्' इति ।

विषादम् = मानसिकीं चिन्ताम् । नाटयति = मुखाकृत्या प्रकाशयति । चित्रलेखया मनोरथलब्धप्रियासमागमसुखमनुभवंस्तिष्ठतीत्युक्तं तस्यार्थद्वयमत्र प्रागुक्तं तत्रार्थमाद्यमवधार्य विषीदतीत्याशयः ।

अन्या चिन्ता = त्वामन्तरेण कामपि रमणीं समासाद्य विलसत्यसाविति न मया विवक्षितं किन्तु तवैव ध्यानं कृत्वा ध्यानोपस्थापितायास्तव समागमे मग्नस्ते प्रिय इति मयोक्तमिति भावः । अत्र यथार्थकथनात् मार्गो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तं वेदितव्यम् ।

और क्या करता है ?

चित्रलेखा—(ध्यानकरके, स्वगत) इसके साथ मजाक किया जाय । सखी, मनोरथोपनीत प्रियासमागमसुखका उपभोग कर रहे हैं, उपभोगके योग्य स्थानमें ही तो हैं ।

उर्वशी—(खेद प्रकट करती है)

चित्रलेखा—पगली, दूसरी प्रियाकी बात क्यों सोचने लगी ?

उर्वशी—(सोच्छ्वासम्) अदक्खिणं संदिग्धे मे हृदयम् । (अदक्खिणं संदेहदि मे हिअअं)

चित्रलेखा—(विलोक्य) एष मणिहर्म्यगतो वयस्यमात्रसहायो राजर्षिः । तदेहि । उपसर्पाव एनम् । (एसो मणिहम्मिअगदो वअस्समेत्तसहाओ राएसी । ता एहि उवसप्पाव णं)

(उभे अवतरतः)

राजा—वयस्य रजन्या सह विजृम्भते मदनबाधा ।

उर्वशी—अनिर्भिन्नार्थेनानेन वचनेनाकम्पितं मम हृदयम् । अन्तरिते एव शृणुवोऽस्य स्वैरालापं यावदावयोः संशयच्छेदो भवति । (अणिम्भिण्णत्थेण इमिणा वअणेण आकम्पिदं मे हिअअं । अन्तरिदा एव्व सुणाम से सेरालावं जाव णो संसअच्छेदो होदि)

अदक्षिणम् = अनुदारम् , अनुदारमिदं ते वचनं सन्दिग्धार्थमिदमेवास्य तात्पर्यमिति परिच्छेत्तुमशक्यमतः सन्दिग्धे मम मानसमिति भावः ।

वयस्यमात्रसहायः = विदूषकद्वितीयः । एतेन गमनस्यौचित्यं व्यञ्जितं, विदूषकस्येदृशेषु रहस्येषु सन्निधानेऽप्यक्षतेः, तस्य राज्ञो नर्मसचिवरूपत्वात् ॥

विजृम्भते=वर्धते, यथा यथा रजनी वर्धते तथा तथा मदनबाधाऽपीति तात्पर्यम् ।

अनिर्भिन्नार्थेन = अस्फुटप्रतिपाद्येन । कामुद्दिश्य रमणीमस्य मदनबाधेत्यस्यास्फुटत्वादित्थमुक्तम् । आकम्पितम् = ईषदान्दोलितम् । स्वैरालापम् = स्वच्छन्दभाषणम् । तदाकर्णनेन कदाचिच्छेत्तुं शक्येत संशय इत्याशयः ।

उर्वशी—मेरा यह अनुदार हृदय संदेहमें पड़ जाता है ।

चित्रलेखा—(देखकर) केवल एक मित्रके साथ इसी मणिहर्म्य पर तो महाराज हैं । आओ, उनके पास चलें ।

[दोनों उतरती हैं]

राजा—जैसे जैसे रात बढ़ती जाती है वैसे वैसे काम पीड़ा भी बढ़ती जारही है ।

उर्वशी—इन अस्फुटार्थक वचनोंसे हमारा हृदय कांप उठा । छिपकर हम इनका विश्रम्भालाप सुनें जिससे हमारा संदेह दूर हो ।

चित्रलेखा—यत्ते रोचते । (जं दे रोअदि)

विदूषकः—नन्वेतेऽमृतगर्भाः सेव्यन्तां चन्द्रपादाः । (णं इमे अमिअगब्भा सेवीअन्दु चन्दपादा)

राजा—वयस्य एवमादिभिरनुपक्रम्योऽयमातङ्कः । पश्य-

कुसुमशयनं न प्रत्यग्रं न चन्द्रमरीचयो
न च मलयजं सर्वाङ्गीणं न वा मणियष्टयः ।
मनसिजरुजं सा वा दिव्या ममालमपोहितुं—

उर्वशी—का वापरा । (का वा अवरा)

राजा—

-रहसि लघयेदारब्धा वा तदाश्रयिणी कथा ॥ १० ॥

अमृतगर्भाः = सुधाकिरः । चन्द्रपादाः = शशिकराः ।

एवमादिभिः = चन्द्रपादसेवनादिभिः, अस्य 'उपायैः' इति विशेष्यमध्याहार्यम् । अनुपक्रम्यः = चिकित्सितुमशक्यः । आतङ्कः = पीडा । 'आतङ्को रोगसन्तापशङ्कासु मुरजध्वनौ' इति विश्वलोचनः ।

कुसुमशयनमिति । न प्रत्यग्रम् नवीनम् कुसुमशयनम् पुष्पशय्या, (सद्यस्त्रोटितकुसुमकल्पितं शयनीयम्) न चन्द्रमरीचयः शशिकरा अपि, न सर्वाङ्गीणम् अवयवावच्छेदेन लिप्यमानम् मलयजम् चन्दनम, न वा मणियष्टयः मणिगुम्फिताः हाराः मम मनसिजरुजम् कामबाधाम् अपोहितुम् दूरीकर्त्तुम् अलम् समर्थाः । (मम मनसिजरुजमपोहितुं) सा अनुभूतसमागमा दिव्या स्वर्गीया रमणी (अलम्) रहसि एकान्ते तदाश्रयिणी तद्विषया कथा वा मनसिजरुजं लघयेत् न्यूनीकुर्यात् ।

चित्रलेखा—जैसी तुम्हारी इच्छा ।

विदूषक—अमृतसे सनी इस चांदनीका तो उपयोग किया जाय ।

राजा—मित्र, इन सब उपायोंसे इस रोगकी चिकित्सा नहीं हो सकेगी, देखो—न ताजे फूलोंकी सेज, न चन्द्रमाकी रोशनी, न समूचे शरीरमें लगाया गया चन्दनका लेप, न मणियोंके हार हमारे कामसन्तापको दूर कर सकते हैं । केवल वही स्वर्गीया, अथवा—

उर्वशी—दूसरी कौन ?

राजा—एकान्तमें चलाई गई उसकी चर्चा हमारे सन्तापको दूर कर सकती है ॥ १० ॥

उर्वशी—हृदय, इदानीं मामुज्झित्वेतः संक्रान्तेन त्वया फलमुपलब्धम् । (हिअअ दाणिं मं उज्झिअ इदो संकन्तेण तुए फलं उवलद्धं)

विदूषकः—आम । अहमपि यदा शिखरिणीं रसालं च न लभे तदैतत्प्रार्थयमानः संकीर्तयन्नाश्वसिमि । (आम । हंवि जदा सिहरिणीं रसालं अ ण लहे तदा णं पत्थयन्तो संकित्तअन्तो आसासेमि)

राजा—संपद्यत इदं भवतः ।

अयमर्थः—इमां मदनव्यथामपसारयितुं न मृदुशीतलं कुसुमास्तरणं शक्नोति, नापि चन्द्रकरसेवनम्, न चन्दनचर्चा, नापि मुक्ताहारपरिधानम् । केवलं सा स्वर्गीया नायिकोर्वश्येव मम मदनबाधां शमयितुमलम् । तत्प्राप्तेरशक्यत्वे मज्जीवितावलम्बनोपायस्तु यदि कश्चिदस्ति तदा तदाश्रया रहःकथैव कथञ्चित्, सा हि तापापनुत्तयेऽक्षममाणाऽपि तन्न्यूनतासम्पादने कथञ्चित्समर्थेति । अत्र कुसुमशयनस्य प्रत्यग्रविशेषणेन शीतलताऽऽधिक्यम्, सर्वाङ्गीणमिति व्यापकस्यापि चन्दनलेपस्याक्षमत्वेन तापाधिक्यम्, मणियष्ट्य इति मौक्तिकहाराणां बाहुल्येऽपि तापानपगमात्तदेव व्यङ्ग्यमिति बोध्यम् । हरिणीवृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति ॥ १० ॥

इतः सङ्क्रान्तेन = पुरूरवसि गतेन । यन्मां विहाय त्वमत्र राजनि सँल्लग्नमभूत्तस्य फलमस्य त्वयि रक्तत्वमुपलब्धं त्वया, तन्मा शुचः, सफलप्रयासं त्वमसीति भावः ।

शिखरिणी = भक्ष्यद्रव्यविशेषः । एलालवङ्गकर्पूरादिसुरभिद्रव्यमिश्रितं दुग्धेन सह गालितं सितासङ्गतं दधि शिखरिणीत्युच्यते । दध्यतिरिक्तपूर्वोक्तद्रव्यमिश्रितः पक्वकदलीफलान्तःसारोऽपि शिखरिणीपदवाच्यः । रसालम् = आम्रफलम् । अयमाशयः—राज्ञा पूर्वपद्येन दिव्याङ्गनालाभेन मम तापापनुत्तिः, तदाश्रयकथया चांशिकी तापनिवृत्तिरित्युक्तं तदुपहासायेयं विदूषकोक्तिः, अत्र शिखरिण्याम्रफलयोरलाभे तन्नामसंकीर्त्तनाश्वासनकथनं परिहासफलकमेवेति ।

इदम् = शिखरिण्याम्रफलयोः प्राप्तिरूपम् । यथा तवायं शिखरिण्याम्रफलविषयोऽभिलाषः सुपूरो न तथा ममेति भावः ।

उर्वशी—हृदय, तुमनें हमे छोड़कर इनका जो साथ दिया था उसका फल तुम्हें मिल गया ।

विदूषक—हाँ, मुझे भी जब शिखरिणी या आम नहीं मिलते तो मैं उनका नाम लेकर तसल्ली हासिल किया करता हूँ ।

राजा—ऐसा तुमसे हो सकता है ।

विदूषकः—भवानपि तामचिरेण प्राप्स्यति । (भवंपि तं अचिरेण पाविस्सदि)

राजा—सखे एवं मन्ये—

चित्रलेखा—शृणु असंतुष्टे शृणु । (सुणु असंतुट्ठे सुणु)

विदूषकः—कथमिव । (कहं विअ)

राजा—

अयं तस्या रथक्षोभादंसेनांसो निपीडितः ।
एकः कृती शरीरेऽस्मिञ्शेषमङ्गं भुवो भरः ॥ ११ ॥

चित्रलेखा—सखि किमिदानीं विलम्ब्यते (सहि किं दाणिं विलम्बीअदि)

उर्वशी—(सहसोपसृत्य) हला अग्रतोऽपि मम गताया उदासीन इव महाराजः । (हला अग्गदोवि मम गदाए उदासीणो विअ महाराओ)

अयमिति । रथक्षोभात् रथचक्रस्य वेगवच्चलनकृतादुद्घातात् तस्याः उर्वश्याः अंसेन स्कन्धदेशेन निपीडितः सङ्घट्टितः अयम् (मम) अंसः स्कन्धदेशः एकः अस्मिन् मम शरीरे कृती धन्यः । शेषम् अंसातिरिक्तम् अङ्गम् भुवः पृथिव्याः भरः भारभूतः । मम सर्वेष्वङ्गेषु केवलमंसदेश एव तदङ्गसंलग्नतया लब्धजीवितफलस्तद्-तिरिक्तान्यङ्गानि तु व्यर्थान्येवेति भावः ॥ ११ ॥

अत्रांसस्योत्कर्षाभिधानात् उदाहृतिर्नाम सन्ध्यङ्गमुक्तं वेदितव्यम् ।

अग्रतो गतायाः = पुरो गतां मामनादृत्येत्यर्थः । 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी ।

विदूषक—आपको भी वह शीघ्र मिलेगी ।

राजा—मित्र, मुझे ऐसा लगता है—

चित्रलेखा—सुन, भरपेट सुन ले ।

विदूषक—कैसे ?

राजा—रथके हिलने डुलनेसे हमारे कन्धेसे उसका कन्धा भिड़गया, अतः हमारे अङ्गोंमें सिर्फ कन्धा ही कृती है, और अङ्ग तो पृथ्वीके भारभूत हैं ॥ ११ ॥

चित्रलेखा—सखी, अब क्यों देर कर रही है ?

उर्वशी—(शीघ्र समीप जाकर) सखी, मैं आगेमें चली जाती हूँ फिर भी महाराज उदास ही रहते हैं ।

चित्रलेखा—(हसित्वा) अतिस्वरिते अनुत्क्षिप्ततिरस्करिणीकासि ।
(अदितुवरिदे अणुक्खित्ततिरक्करिणीआ सि)

(नेपथ्ये)

इत इतो भर्त्री । (इदो इदो भट्टिणी)

(सर्वे कर्णं ददति । उर्वशी सह सख्या विषण्णा)

विदूषकः—अविहा अविहा उपस्थिता देवी । तद्वाचंयमो भव ।
(अविहा अविहा उवट्ठिदा देवी । ता वाचंजमो होहि)

राजा—भवानपि संवृताकारमास्ताम् ।

उर्वशी—हला किमत्र करणीयम् । (हला किं एत्थ करणिज्जं)

चित्रलेखा—अलमावेगेन । अन्तर्हिते आवाम् । उपवासनियमवेषा राजर्षिमहिषी दृश्यते । तन्नैवेह चिरं स्थास्यति । (अलं आवेएण । अन्तरिदा वयं । उववासणिअमवेसा राएसिमहिसी दीसदि । ता ण एसा इह चिरं चिट्ठिस्सदि)

अतिस्वरिते = राजसङ्गमायातिशीघ्रताकारिणि । अनुत्क्षिप्ततिरस्करिणीका = असंहृततिरस्करिणीप्रयोगा । त्वया शीघ्रतावशाद् व्यवधायकतयाऽवस्थिता तिरस्करिणी तु नैव संहृता तत्कथं राजा त्वामाद्रियेत, स तु तिरस्करिणीप्रभावेण त्वां नैव पश्यति, तद्युक्तमेव तस्योदासीनवदवस्थानमिति तात्पर्यम् ।

'अविहा' इत्यव्ययमनर्थोपनिपाते । वाचंयमः = मौनव्रती । वचसि प्रवर्त्तमाने रहस्यमुद्भिद्येतेति भिया तथाऽनुरोधः । अत्र देव्यागमनजनितभीतेर्गम्यमानत्वात् 'संभ्रमो' नाम सन्ध्यङ्गमुपक्षिप्तम् ।

आवेगेन = संभ्रमेण, राजमहिष्या दृष्टिपथं गतयोरावयोः कापि विषमा परि-

---

चित्रलेखा—(हंसकर) अरी जल्दबाज, तुमने तिरस्करिणी तो हटाई नहीं ।

(नेपथ्यमें)

महारानी इधर चलें, इधर ।

(सभी सुनते हैं, उर्वशी सखीके साथ उदास होती है)

विदूषक—हाय हाय !! देवी आ गईं । जबान बन्द करो !

राजा—तुम भी अपनेको संभालकर रखना ।

उर्वशी—सखी, अब यहाँ क्या करना चाहिये ।

चित्रलेखा—भयकी क्या बात है, हम दोनों तो छिपी हैं । देवीके वेषसे मालूम होता है, वे कोई व्रत कर रही हैं, वे यहाँ देरतक नहीं टिकेंगी ।

(ततः प्रविशति औपहारिकहस्तपरिजना देवी)

देवी—(चन्द्रमसमवलोक्य) हञ्जे निपुणिके एष रोहिणीसंयोगेनाधिकं शोभते भगवान्मृगलाञ्छनः । (हञ्जे णिउणिए एसो रोहिणीसंजोएण अहिअं सोहदि भअवं मिअलञ्छणो)

चेटी—ननु देवीसहितो भर्ता विशेषरमणीयः । (णं देवीसहिदो भट्टा विसेसरमणिज्जो) (इति परिक्रामतः)

विदूषकः—(दृष्ट्वा) भो न जानामि स्वस्तिवाचनं मे ददातीति, अथवा भवतो व्रतव्यपदेशेन मुक्तरोषा प्रणिपातलङ्घनं प्रमार्ष्टुकामेति, अद्य ममाक्ष्णोः शुभदर्शना देवी । (भो ण जाणामि सोत्थिवाअणं मे देइत्ति आदु भवदो वदव्ववदेसेण मुक्करोसा पणिपादलङ्घणं पमज्जिदुकाणत्ति अज्ज मे अक्खीणं सुहदंसणा देवी)

स्थितिः स्वादिति चिन्ता व्यर्थेत्यर्थः । तत्र कारणमाह—अन्तर्हिते इति । तिरस्करिणीशात् प्रावृते इत्यर्थः । उपवासनियमवेषा = व्रतोचितपरिधाना ।

औपहारिकहस्तपरिजना = उपहाराणां समूह औपहारिकम्, औपहारिकं हस्तेषु येषां ते औपहारिकहस्ताः, औपहारिकहस्ताः परिजना यस्याः सा तथोक्ता । औपहारिकशब्दे 'अचित्रहस्तिधेनोष्ठक्' इति ठक् ।

रोहिणीसंयोगेन = नक्षत्रविशेषभूताया रोहिण्याः संयोगेन संबन्धेन ।

मृगलाञ्छनः = चन्द्रः ।

भर्त्ता = राजा । विशेषरमणीयः = रोहिणीसंयुक्तचन्द्रापेक्षया सुन्दरः ।

शुभदर्शना = रमणीयावलोकना । देवी विशेषमनोज्ञाऽद्य दृश्यते, तत्र मह्यं स्वस्तिवाचनं दास्यतीति हेतोः त्वयि प्रणिपातलङ्घनकृतमात्मापराधं प्रमार्ष्टुमागतेति हेतोर्वा मम समधिका प्रीतिरिति निश्चेतुं न पारयामीति भावः ।

(देवी और उपहार हाथमें लिये परिजनका प्रवेश)

देवी—अरी निपुणिका, रोहिणीके संयोगसे इस समय चन्द्रमा अधिक शोभते हैं ।

चेटी—देवीसे युक्त महाराज अधिक शोभते हैं । (जाती हैं)

विदूषक—(देखकर) अजी मैं नहीं जानता क्यों मुझे देवी आज अधिक अच्छी दीख पड़ती हैं ? मुझे स्वस्तिवाचनोपहार देगीं इसलिये, या व्रतके छलसे क्रोध त्यागकर आपके प्रति किये अपने रूक्ष व्यवहारको मिटाने आरही हैं इसलिये ?

राजा—(सस्मितम्) उभयमपि घटते । तथापि भवता यत्पश्चादभिहितं तन्मां प्रति भाति । यदत्रभवती—

सितांशुका मङ्गलमात्रभूषणा
पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका ।
व्रतापदेशोज्झितगर्ववृत्तिना
मयि प्रसन्ना वपुषेव लक्ष्यते ॥ १२ ॥

देवी—(उपगम्य) जयतु जयत्वार्यपुत्रः । (जेदु जेदु अज्जउत्ता)

परिजनः—जयतु जयतु भर्ता । (जेदु जेदु भट्टा)

विदूषकः—स्वस्ति भवत्यै । (सत्थि भोदीए)

घटते = युज्यते । पश्चादभिहितम् = प्रणिपातलङ्घनापराधं प्रमार्ष्टुकामेति । मां प्रति भाति = मया प्रतीयते, 'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चि'दित्यत्रेव प्रतियोगे कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीयोपपाद्या ।

सितांशुकेति । सितांशुका धवलवसनपरिधाना मङ्गलमात्रभूषणा मङ्गलसूत्रककुङ्कुमकज्जलादिमात्रालङ्कारा पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका पवित्रदूर्वादलशोभिकेशा इयं व्रतापदेशोज्झितगर्ववृत्तिना व्रतचर्याव्याजत्यक्ताभिमानादिगौरवेण वपुषा शरीरेण मयि महिषये प्रसन्ना प्रसादयुता इव लक्ष्यते । धवलश्लक्ष्णवसनपरिधानाया निराभरणाया दूर्वाङ्कुरशोभिकेशपाशायाश्चास्या देव्या व्रतव्याजविस्मृतमानं वपुरेव मयि प्रसन्नतां व्यञ्जयति, किमु वक्तव्यं तदन्तःकरणस्य प्रसन्नताया इति भावः । अंशुकं श्लक्ष्णवस्त्रे स्याद्वस्त्रमाप्तोत्तरीययोः इति मेदिनी ॥ १२ ॥

भर्ता = राजा ।

राजा—(हंसकर) दोनों हो सकते हैं, फिर भी मुझे दूसरी बात ही जंचती है । क्योंकि—देवी उजले वस्त्र, और मंगल सूत्र मात्र पहने, केवल दूबकी शिखा केशमें लगाये, व्रतके बहाने अपने गर्वका त्यागकर आ रही हैं, उनका रूप रंग ही कह रहा है कि वे मेरे ऊपर प्रसन्न हैं ॥ १२ ॥

देवी—(समीप आकर) जय हो महाराजकी ।

परिजन—जय हो, महाराजकी जय हो ।

विदूषक—आपका कल्याण हो ।

राजा—स्वागतं देव्यै । (तां हस्तेन गृहीत्वोपवेशयति)

उर्वशी—हला स्थाने खल्विय देवीशब्देनोपचर्यते । न किमपि परिहीयते शच्या ओजस्वितया । (हला ठाणे क्खु इअं देवीसद्देण उवअरीअदि । ण किंपि परिहीअदि सचीए ओजस्सिदाए)

चित्रलेखा—साधु असूयापराङ्मुखं मन्त्रितम् । (साहु असूआपरम्मुहं मन्तिदं)

देवी—आर्यपुत्रं पुरस्कृत्य कोऽपि व्रतविशेषो मया संपादनीयः । तन्मुहूर्तमुपरोधः सह्यताम् । (अज्जउत्तं पुरोकरिअ कोवि वदविसेसो मए संपादणीओ । ता मुहुत्तं उवरोधो सहीअदु)

राजा—मा मैवम् । अनुग्रहः खलु नोपरोधः ।

भवत्यै = देव्यै । अत्र 'चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः' इति चतुर्थी, स्वागतपदस्यैव कथञ्चिदाशिषि वृत्तिमास्थायोपपाद्या । ताम् = देवीम् ।

स्थाने = युक्तम्, 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः । उपचर्यते = आमन्त्र्यते, आद्रियते इति वा । परिहीयते = न्यूना भवति । ओजस्वितया = दीप्तिशालितया ।

असूयापराङ्मुखम् = दोषाविष्करणकामनारहितम्, 'असूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि' इत्यमरः ।

पुरस्कृत्य = अग्रेकृत्वा । मुहूर्त्तम् = क्षणम् । उपरोधः = प्रतिबन्धः, मया सह भवता स्थातव्यमित्येवंरूप एव प्रतिबन्धो बोध्यः, इत्थमुक्तिश्च मानस्यान्तर्गतत्वं व्यञ्जयतीति बोध्यम् ।

मा मैवम् = वक्तव्यमिति पूरणीयं, तत्र युक्तिमाह—अनुग्रह इति । अनुग्रहः = कृपा । अयमाशयः—व्रतेऽपेक्षितत्वेन भवती मां स्वसहचरमिच्छतीति मयि कृपा भवत्या नायं मयि प्रतिबन्धस्तन्मुहूर्त्तमुपरोधः सह्यतामिति मा वोच इति भावः ।

राजा—स्वागत हो देवीका । (हाथ पकड़कर बैठाता है)

उर्वशी—ठीक ही इसे देवी शब्दसे पुकारते हैं, शचीसे इसमें कोई कमी नहीं है ।

चित्रलेखा—ठीक कहा है, असूया छोड़कर कहा है ।

देवी—आर्यपुत्रको साथ लेकर मैं कोई व्रत करना चाहती हूँ, इसलिये घड़ी भरका यह विघ्न क्षमा करें ।

राजा—नहीं नहीं, यह तो अनुग्रह है, विघ्न नहीं है ।

विदूषकः—ईदृशः स्वस्तिवाचनवानुपरोधो बहुशो भवतु (ईरिसो सोत्थिवाअणवन्तो उवरोहो बहुसो होदु)

राजा—किंनामधेयमेतद्देव्या व्रतम् ।

देवी—(निपुणिकामवेक्षते)

निपुणिका—भर्तः ? प्रियानुप्रसादनं नाम । (भट्टा पिआणुप्पसादणं णाम)

राजा—(देवीं विलोक्य) यद्येवम् ।

अनेन कल्याणि मृणालकोमलं
व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यकारणम् ।
प्रसादमाकाङ्क्षति यस्तवोत्सुकः
स किं त्वया दासजनः प्रसाद्यते ॥ १३ ॥

स्वस्तिवाचनवान् = यत्र स्वस्तिवाचनस्य कृते मिष्टं वितीर्यते तादृशः । उपरोधः = प्रतिबन्धः, स्थानविशेषेऽवस्थानरूपः प्रतिबन्धो जायतां परं मिष्टं लभ्यतां तदा न कापि क्षतिरिति तदाशयः ।

किं नामधेयम् = किन्नामकम् । 'भागरूपनामभ्यो धेयः' इति धेयप्रत्ययः ।

निपुणिकामवेक्षते—एतेन स्वयमुत्तरदानासामर्थ्यं, तेन चोत्तरस्यान्तर्निहितकटुभावत्वं व्यक्तम् ।

प्रियानुप्रसादनम् = प्रियस्य दयितस्य अनुप्रसादनम् प्रसन्नताजननम्, येन भर्ता प्रसन्नतां लभेत तादृशम् ।

अनेनेति । कल्याणि, शोभने, अनेन प्रकृतेन व्रतेन व्रतचर्यया आत्मनः स्वस्या मृणालकोमलम् कमलनालसुकुमारम् गात्रम् शरीरम् अकारणम् व्यर्थम् एव ग्लपयसि खेदयसि, वृथा तवायमायासो मृणालकोमलकायलताग्लपक इत्यर्थः । नन्वस्ति प्रयोजनं प्रियप्रसादनरूपं यदुद्दिश्यायमारम्भ इति चेदत्राह—प्रसादमिति । यः

विदूषक—इस तरहका मिठाईवाला विघ्न बार बार हुआ करे ।

राजा—देवीके इस व्रतका नाम क्या है ?

देवी—(निपुणिकाको देखती हैं)

निपुणिका—महाराज, प्रियानुप्रसादन नामका व्रत है ।

राजा—(देवीकी ओर देखकर) यदि ऐसी बात है—तो-हे कल्याणि अपने मृणालकोमल इन अङ्गोंको इस व्रतसे निरर्थक कष्ट दे रही हो । जो दास तुम्हारी प्रसन्नताके लिये लालायित है उसे तुम क्या प्रसन्न करना चाहती हो ? १३ ॥

उर्वशी—महान्स्नेहस्तस्यैतस्यां बहुमानः । (महन्तो खु से इमस्सिं बहुमाणो)

चित्रलेखा—अयि मुग्धे अन्यसंक्रान्तप्रेमाणो नागरिका अधिकं दक्षिणा भवन्ति । (अइ मुद्धे अण्णसंकन्तपेम्माणो णाअरिआ अहिअं दक्खिणा होन्ति)

देवी—(सस्मितम्) नन्वेतस्य व्रतपरिग्रहस्यायं प्रभावो यदेतावन्मन्त्रित आर्यपुत्रः । (णं इमस्स वदपरिग्गहस्स अअं पहावो जं एत्तिअं मन्ताविदो अज्जउत्तो)

विदूषकः—विरमतु भवान् । न युक्तं सुभाषितं प्रत्याचरितुम् । (विरमदु भवं । ण जुत्तं सुहासिदं पच्चाचरिदुं)

तव (प्रियः) उत्सुकः (सन्) उत्कण्ठितः सन् प्रसादम् आकाङ्क्षति अपेक्षते सः दासजनः सेवकः त्वया किम् प्रसाद्यते तपसा प्रसन्नतां लम्भयितुमिष्यते । योऽहं तव सेवकः सदैवोत्कः सन् तव प्रसादमपेक्षे तस्य मम प्रसादनाय त्वया व्रतमाचर्यत इति कथोपहासजननी, तद्विरमास्मादायासादिति भावः । 'कल्याणी' पदे बह्वादिभ्यश्चेति ङीष् ॥ १३ ॥

बहुमानः = आदरः । एतस्याम् = देव्याम् । अत्रेर्ष्यास्यो भावो व्यज्यते ।

अन्यसङ्क्रान्तप्रेमाणः=अन्यत्र रमण्यामासक्ताः । नागरिकाः=विदग्धकामुकाः । दक्षिणाः = वनितोपचारचतुराः । नागरा हि परस्त्र्यासक्तिमात्मनो गोपयितुं स्वस्त्रीषु समधिकमनुरागं प्रदर्शयन्ति, तदयं राजकृतोदेवीबहुमानो राज्ञस्त्वय्यासक्तिं प्रमापयति तन्मा वृथेर्ष्याकलुषितस्वान्तत्वमवलम्बनीयमिति चित्रलेखाभिप्रायः ।

व्रतपरिग्रहस्य = व्रतचर्यायाः । प्रभावः = सामर्थ्यम् । एतावत् = पूर्वोक्तरूपम् । मन्त्रितः = वादितः । यदीदं व्रतं नाकरिष्यत तदा तव मुखादिदमुपचारवचनमपि न निरसरिष्यदिति भावः ।

विरमतु = निवर्त्तताम् , व्रतानुष्ठाननिराकरणादिति भावः । प्रत्याचरितुम् = प्रत्याख्यातुम् । 'राजपुत्रमुद्दिश्य कोपि व्रतविशेषो मया संपादनीयः' इति राज्योक्तं

उर्वशी—इसके लिये इसके हृदयमें बड़ा स्नेह है ।

चित्रलेखा—अरी पगली, जब नागरिक दूसरी स्त्रीपर आसक्त होते हैं तब उनका व्यवहार पहली स्त्रीके प्रति और मधुर हो जाता है ।

देवी—(हंसकर) इस व्रतका ही यह प्रभाव है कि आप इस तरह कह रहे हैं ।

विदूषक—आप ठहर जायें । अच्छी बातका निषेध नहीं किया जाना चाहिये ।

देवी—दारिका उपनयतौपहारिकं यावन्मणिहर्म्यगतांश्चन्द्रपादानर्चामि । (दारिआओ उवणेध ओवहारिअं जाव मणिहम्मिअगदे चन्दपादे अच्चेमि)

परिजनः—यद्देव्याज्ञापयति । एष गन्धकुसुमाद्युपहारः । (जं देवी आणवेदि । एसो गन्धकुसुमादिउवहारो)

देवी—(नाट्येन गन्धपुष्पादिभिश्चन्द्रपादानभ्यर्च्य) हञ्जे एतानौपहारिकमोदकानार्यमाणवकं लम्भय । (हञ्जे इमे ओवहारिअमोदए अज्जमाणवअं लम्भावेहि)

परिजनः—यद्देव्याज्ञापयति । आर्यमाणवक एतत्तावत्ते । (जं देवी आणवेदि । अज्ज माणवअ एदं दाव दे)

विदूषकः—(मोदकशरावं गृहीत्वा) स्वस्ति भवत्यै । बहुफलस्तवोपवासो भवतु । (सोत्थि भोदीए । बहुफलो दे उववासो होदु)

देवी—आर्यपुत्र इतस्तावत् । (अज्जउत्त इदो दाव)

'प्रियानुप्रसादनं नाम' इति निपुणिकोक्तं च प्रत्याख्याय व्रतादस्या निवारणं न युक्तमिति भावः । मिष्टान्नलोभश्चेदगुप्तौ विदूषकस्य प्रेरक इति बोध्यम् ।

उपनयत = समीपं प्रापयत । औपहारिकम् = उपहारसमूहम् । मणिहर्म्यगतान् = मणिमयप्रासादवर्त्तिनः । चन्द्रपादान् = शशिकरान् । पादशब्दः पूजनीयतां द्योतयितुम् ।

लम्भय = प्रापय, तस्मै देहीत्यर्थः ।

बहुफलः = अनेकविधफलयुक्तः ।

देवी—दासियो, पूजा सामग्री लाओ, तब तक मणिहर्म्यपर फैलनेवाले चन्द्रमयूखोंकी पूजा करलें ।

परिजन—जो आज्ञा । यह है गन्ध पुष्पादि पूजा सामग्री ।

देवी—(अभिनय मुद्रामें फूलचन्दनसे चन्द्रकिरणोंकी पूजा करके) इस नैवेद्यके मिष्टान्नको आर्यमाणवकके हवाले करो ।

परिजन—जो आज्ञा । आर्यमाणवक, इतना आपका हुआ ।

विदूषक—(मिठाईका पात्र लेकर) आपका भला हो । आपका व्रत सफल हो ।

देवी—आर्यपुत्र, तनिक इधर कष्ट करें ।

राजा—अयमस्मि ।

देवी—(राज्ञः पूजामभिनीय प्राञ्जलिः प्रणिपत्य) एषाहं देवतामिथुनं रोहिणीमृगलाञ्छनं साक्षीकृत्य आर्यपुत्रमनुप्रसादयामि । अद्यप्रभृति यां स्त्रियमार्यपुत्रः प्रार्थयते या चार्यपुत्रस्य समागमप्रणयिनी तया सह मया प्रीतिबन्धेन वर्तितव्यमिति । (एसा अहं देवदामिहुणं रोहिणीमिअलञ्छणं सक्खीकरिअ अज्जउत्तं अणुप्पसादेमि । अज्जप्पहुदि जं इत्थिअं अज्जउत्तो पत्थेदि जा अ अज्जउत्तस्स समाअमप्पणइणी ताए सह मए पीदिबन्धेण वत्तिदव्वंति)

उर्वशी—अहो न जाने किंपरमस्या वचनमिति । मम पुनर्विश्वास-विशदं हृदयं संवृत्तम् । (अम्हहे ण आणे किंपरं से वअणं त्ति । मम उण वीसासविसदं हिअअं संवुत्तं)

चित्रलेखा—सखि महानुभावया पतिव्रतयाऽभ्यनुज्ञातोऽनन्तरायस्ते प्रियसमागमो भविष्यति । (सहि महाणुहावाए पदिव्वदाए अब्भणुण्णादो अणन्तराओ दे पिअसमाअमो हविस्सदि)

देवतामिथुनम् = देवदम्पती । समागमप्रणयिनी = समागमेच्छावती । प्रीति-बन्धेन = स्नेहेन । वर्तितव्यम् = व्यवहर्त्तव्यम् ।

किंपरम् = किन्तात्पर्यकम् , यथानयोक्तं तत्परमार्थतस्तथाऽथवा सोल्लुण्ठनं तदिति नावधार्यते इति । विश्वासविशदम् = प्रतीतिप्रसन्नम् । यथा मम चित्तमस्यां विश्वसिति तथा प्रत्येमि नेयं किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयते, यतः 'सतां हि सन्देह-पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' इति ।

महानुभावया = अकलुषाशयवत्या । अभ्यनुज्ञातः = अनुमतः । अनन्तरायः = निष्प्रत्यूहः । 'विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः' इत्यमरः ।

राजा—हाजिर हूँ ।

देवी—(राजाका पूजन करके, हाथ जोड़कर प्रणाम करके) मैं देवयुगल चन्द्र और रोहिणीको साक्षी करके आर्यपुत्रको प्रसन्न करती हूँ । आजसे जिस स्त्रीको आर्यपुत्र प्रेम करें, उसके साथ मैं स्नेहका व्यवहार करूँगी ।

उर्वशी—न जाने किसे लक्ष्य करके यह ऐसा कह रही है ? मुझे तो इसपर विश्वास है ।

चित्रलेखा—सखी, महान् हृदयवाली इस पतिव्रताने अनुमति दे दी है, अब तुम्हारे समागममें कोई विघ्न नहीं रह गया ।

विदूषकः—(अपवार्य) छिन्नहस्तो मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणति धर्मो मे भविष्यतीति । (प्रकाशम्) भवति किं तादृशः प्रियस्तत्रभवान् । (छिन्नहत्थो मच्छे पलाइदे णिव्विण्णो धीवरो भणादि धम्मो मे हविस्सदिति । भोदि किं तारिसो पिओ तत्तभवं)

देवी—मूढ अहं खल्वात्मनः सुखावसानेनार्यपुत्रं निर्वृतशरीरं कर्तुमिच्छामि । एतावता चिन्तय तावत्प्रियो न वेति । (मूढ अहं खु अत्तणो सुहावसाणेण अज्जउत्तं णिव्वुदसरीरं कादुं इच्छामि । एत्तिएण चिन्तेहि दाव पिओ ण वत्ति)

छिन्नहस्तः=व्यर्थीकृतहस्तकौशलः, क्वचित्पुस्तके छिन्नबन्ध इति पाठः, तस्य स्फुटोऽर्थः । पलायिते = प्रस्थिते, निर्विण्णः = सञ्जातनिर्वेदः, मत्स्यलाभाशाया दूरापास्तत्वेन गतोत्साह इत्यर्थः । धीवरः = मत्स्यग्रहणतद्विक्रयणजीविकः । अयमाशयः—यथा हस्तात्प्रभ्रष्टं गभीरं जलराशिं प्रविष्टं मत्स्यं पुनर्ग्रहीतुमक्षमो धीवरो मयाऽस्मै जीवनदानं कृतमिति पुण्यमेव लभ्यमिति मत्वा बहिः सन्तोषं प्रकटयति, अन्तस्तु तदलाभेन विषीदति, तथेयमपि प्रियतमं दिष्ट्याङ्गनायाः प्रार्थनातो व्यावर्त्तयितुमशक्ता 'अद्यप्रभृति यां स्त्रियम्' इति बहिरभिनयति, मर्मणि तु चेखिद्यत एवेति । तादृशः=यथाऽस्य प्रियमाचरितुमस्यान्यप्रियानुरागमपि त्वमनुमन्तुं प्रवृत्ता, अथवा तादृशः=यथा त्वमिममन्यासक्तमुत्प्रेक्ष्यैवं ब्रवीषि । तत्रभवान्=पूज्यो राजा ।

सुखावसानेन = सुखस्य समाप्त्या । आर्यपुत्रम् = राजानम् । निर्वृतशरीरम् = समाप्तसन्तापतया स्वस्थम् । मत्कृतयेर्ष्ययाऽयं प्रकटं काञ्चन हृदिकृतामपि नायिकां न सेवितुं क्षममाणोऽन्तःसन्तापेन दूयेत, तदनेनाहमस्य स्वातन्त्र्यमनुमन्य इति । एतावता = अनेन मदाचरणेन, यदहं स्त्रीजातिरपि स्वस्याः सौख्यमविगणय्य प्रेयसोऽन्यवनितासङ्गमनुजाने, तेनैव मम तस्मिन्प्रेयसि कियानुराग इति प्रमापितं भवति, स्वार्थत्याग एव हि स्नेहस्य चरममुत्कृष्टत्वमिति भावः ।

विदूषक—(छिपाकर) जब मछली हाथसे छूटकर पानीमें चली जाती है तब उदासमुख धीवर कह उठता है कि मुझे धर्म ही होगा । (प्रकट) देवि क्या हमारे मित्रपर आपका इतना प्रेम है ?

देवी—बेवकूफ, मैं अपने सुखोंको बलि देकर आर्यपुत्रका सन्ताप दूरकर देना चाहती हूँ, इसीसे सोचो कि उतने प्रिय हैं या नहीं ।

दातुं वा प्रभवसि मामन्यस्यै हर्तुमेव वा दासम् ।
नाहं पुनस्तथा त्वं यथा हि मां शङ्कसे भीरु ॥ १४ ॥

देवी—भव वा मा वा । यथानिर्दिष्टं संपादितं प्रियानुप्रसादनं व्रतम् । दारिका एत गच्छामः । (होहि वा मा वा । जधाणिद्दिट्ठं संपाइदं पिआणुप्पसादणं वदं । दारिआओ एध गच्छम्ह) (इति प्रस्थिता)

राजा—प्रिये न खलु प्रसादितोऽस्मि यदि संप्रति विहाय गम्यते ।

देवी—आर्यपुत्र अलङ्घितपूर्वो मया नियमः । (अज्जउत्त अलङ्घिदपुव्वो मए णिअमो) (इति सपरिवारा निष्क्रान्ता)

दातुमिति । दासम् सेवापरायणम् माम् अन्यस्यै स्त्रियै दातुं वा प्रभवसि क्षमसे, (अन्यस्याः स्त्रियः) हर्तुमेव व्यवच्छिद्य स्वायत्तीकर्तुमेव वा (प्रभवसि)। दासे मयि यथेच्छाचारिता तव, मामन्यस्यै स्त्रिये समर्पय स्वाधिकारे वा स्थापयेत्यर्थः। अहं पुनः त्वं मां यथा यादृशं शङ्कसे यादृशभावेन सम्भावयसि, अयि भीरु भयशीले, तथा न अस्मीति शेषः। त्वं मां यादृशमन्यवनिताऽऽसक्तं सम्भावयसि स्वीयया भयशीलस्वभावतया तादृशोऽहं नास्मि, इयं त्वन्या कथा, तवाहं दासः, त्वं मां स्ववशे स्थापयितुमन्यवनितायै दातुं वा यथेच्छमधिकरोषि, तत्र तव कामवृत्तिः, मम तु सदैव त्वमेव प्रभुरिति भावः ॥ १४ ॥

'भव वा मा वा' इत्यस्य अन्यवनिताऽऽसक्त इति शेषः। अनेनोत्तरेण देव्या विधीयमानं व्रतं केवलं दाक्षिण्यप्रदर्शनम्, न परमार्थतो मानव्यपगमकृतमिति व्यज्यते। यथानिर्दिष्टम् = उक्तप्रकारकम् ।

अलङ्घितपूर्वः = कदापि पूर्वं न लङ्घितः, व्रतनियमस्य मया कदापि लङ्घनं न

राजा—तुम चाहो तो मुझे दूसरी स्त्रीको दे सकती हो या उससे छीन ले सकती हो, परन्तु तुम मुझे जैसा समझ रही हो मैं वैसा नहीं हूँ ॥ १४ ॥

देवी—आप रहें या न रहें। यथोक्त प्रियानुप्रसादन व्रत मैंने पूरा कर लिया। दासियो, आओ चलें। (जाती है)

राजा—प्रिये, यदि इस समय छोड़कर चली जाती हो तो तुमने मुझे प्रसादित नहीं किया।

देवी—आर्यपुत्र, मैं अपना नियम नहीं बदलती।

(सपरिवार देवीका प्रस्थान)

उर्वशी—हला प्रियकलत्रो राजर्षिः । न पुनर्हृदयं निवर्तयितुं शक्नोमि । (हला पिअकलत्तो राएसि । ण उण हिअअं णिवत्तेदुं सक्कुणोमि)

चित्रलेखा—किं पुनस्त्वया निराशया निवर्त्यते । (किं उण तुए णिराआए णिवत्तीअदि)

राजा—(आसनमुपेत्य) वयस्य न खलु दूरं गता देवी ।

विदूषकः—भण विश्रब्धं यदसि वक्तुकामः । असाध्य इति वैद्येनातुर इव स्वैरं मुक्तो भवांस्तत्रभवत्या । (भण वीसद्धं जं सि वत्तुकामो । असज्झोत्ति वेज्जेण आदुरो विअ सेरं मुत्तो भवं तत्तहोदीए)

कृतमतोऽधुनापि तल्लङ्घनं न कर्त्तुं शक्यमतोऽतः परमत्र नाहं स्थातुं क्षमा, तदलमनुरोधेनेति तदाशयः ।

प्रियकलत्रः = स्वस्त्रीस्नेहपरः, अनेनास्य हृदि स्वविषयं प्रेम जागरयित्वेदमीयदाम्पत्यस्नेहविघटनं न युक्तमतोऽनुचितोऽयं ममाभिसारः, किन्तु किं करोमि, स्वमपि मनो नाहं क्षमे निवर्त्तयितुमिति भावः ।

निराशया = भग्नाशया, अयं प्रियकलत्रतया मयि न रंस्यत इति मनोरथभङ्गेनेत्यर्थः, निवर्त्यते = पृथक्क्रियते, अस्मात्प्रणयव्यापारादात्मेति शेषः ।

विश्रब्धम् = निर्भयतापूर्वकम् , देवी श्रोष्यतीति भयं मनसि मा कृथाः, सा हि त्वरितगमना दूरं गतेति भावः, असाध्यः=अचिकित्सार्हः । अयमाशयः=त्रिविधो रोगः, साध्यः, याप्यः, असाध्यश्चेति, तत्र प्रथमश्चिकित्स्यते तत्फलं च भवति नैरुज्यम् , द्वितीयोऽपि चिकित्स्यते, तत्फलं भवति वेदनाशान्तिरनुद्रेकश्च । तृतीयस्तु न चिकित्स्यते, फलाभावात् । यथा कश्चनासाध्यरोग आतुरो निष्फलत्वभिया वैद्येन त्यज्यते तद्वत्त्वामपि परस्त्रीप्ररूढप्रेमतया स्वस्मिन्ननुरक्तं विधातुमशक्नुवती सा देवी त्यक्तवती, तदलं तद्भयेन, यथेच्छं वदेति ।

उर्वशी—सखी, राजाको अपनी स्त्रीसे बड़ा प्रेम है, फिर भी मैं अपने दिलको नहीं लौटा सकती ।

चित्रलेखा—तुम क्यों निराश होकर लौटने लगी ?

राजा—(आसनपर बैठकर) मित्र, देवी दूर तो नहीं चली गई ?

विदूषक—जो कहना चाहते हो खुशीसे कहो । जिस प्रकार वैद्य किसी रोगीको असाध्य कहकर छोड़ देता है, उसी प्रकार देवीने भी तुमको असाध्य कहकर स्वच्छन्द छोड़ दिया है ।

राजा—अपि नामोर्वशी—

उर्वशी—अद्य कृतार्था भवेत् । (अज्ज किदत्था भवे)

राजा—

गूढा नूपुरशब्दमात्रमपि मे कान्ता श्रुतौ पातये-
त्पश्चादेत्य शनैः कराम्बुजवृते कुर्वीत वा लोचने ।
हर्म्येऽस्मिन्नवतीर्य साध्वसवशान्मन्दायमाना बला-
दानीयेत पदात्पदं चतुरया सख्या ममोपान्तिकम् ॥ १५ ॥

'अपि नामोर्वशी' इदं राजवचनमग्रेतनेन राजोक्तेन पद्येनान्वेति ।

गूढेति । अपि नाम उर्वशी कान्ता प्रिया गूढा अन्तर्हितशरीरावयवा मे मम श्रुतौ श्रोत्रेन्द्रिये नूपुरशब्दमात्रम् मञ्जीररवम् केवलं कुर्यात् विदध्यात् । पश्चात् मम पृष्ठतः शनैः मन्दपदन्यासमुपेत्य समीपमागत्य वा (मम) लोचने नयने कराम्बुजवृते करकमलच्छन्ने कुर्वीत विदधीत । अस्मिन् हर्म्ये प्रासादे अवतीर्य स्वर्गादागत्य साध्वसवशात् प्रथमसमागमजनितभयवशात् मन्दायमाना अचञ्चलपदन्यासा चतुरया तत्कालोचितव्यापारपण्डितया सख्या चित्रलेखया बलात् बलपूर्वकं ममोपान्तिकम् मत्पार्श्वम् पदात्पदम् शनैरानीयेत वा । इयं राज्ञो मनःकथा, तत्रासौ मम कान्तोर्वशी गूढतनुः सती केवलं मञ्जीररवमपि तृषितयोरनयोः श्रुत्योरुपायनीकुर्यात्, पश्चादागत्य शोणशोभाभ्यां कमलाभ्यामिव निजकराभ्यां वा मदीये चक्षुषी पिदधीत, येन तत्स्पर्शलाभेन तनुरियं जनुषः फलमाप्नुयात्, अथवा प्रासादेऽत्र स्वर्गादवतीर्य लज्जामन्दगमना तत्कालकर्त्तव्यज्ञानवत्या सख्या बलान्मदन्तिकमानीयेत वा, त्रिष्वेष्वन्यतमेन संभवति मन्मनोविनोदनमिति तदाशयः । 'हर्म्यादि धनिनां वासः' इति कोषः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १५ ॥

राजा—अगर उर्वशी—

उर्वशी—आज कृतार्थ हो जाती ।

राजा—छिपे छिपे अपने नूपुरकी ध्वनि इन कानों तक पहुँचा देती या पीछेसे आकर अपने कमलकोमल करोंसे हमारी आँखोंको मूंद ले, अथवा इस प्रासादपर उतरकर लज्जावश मन्द-मन्द चलती हुई सखीके द्वारा बलपूर्वक हमारे पास जाय ॥ १५ ॥

उर्वशी—हला इमं तावदस्य मनोरथं संपादयिष्यामि । (हला इमं दाव से मणोरहं संपाइइस्सं)

(पृष्ठतो गत्वा राज्ञो नयने संवृणोति)

चित्रलेखा—(विदूषकं संज्ञापयति)

राजा—(स्पर्शं रूपयित्वा) सखे नारायणोरुसंभवा सेयं वरोरूः ।

विदूषकः—कथं भवानवगच्छति । (कहं भवं अवगच्छदि)

राजा—किमत्राज्ञेयम् ।

अङ्गमनङ्गक्लिष्टं सुखयेदन्या न मे करस्पर्शात् ।
नोच्छ्वसिति तपनकिरणैश्चन्द्रस्यैवांशुभिः कुमुदम् ॥ १६ ॥

इमम् = पृष्ठदेशादागत्य नयनपिधानरूपम् । सम्पादयिष्यामि = पूरयिष्यामि । संज्ञापयति=चेतयते, उपस्थिते आवामिति बोधयतीत्यर्थः । आह्वयतीत्यर्थो वा । नारायणोरुसंभवा = नारायणाख्यस्य ऋषेः प्रमथ्यमानादूरुदेशादुत्पन्ना उर्वशी । वरोरूः = सुन्दरी ।

अङ्गमिति । अनङ्गक्लिष्टं स्मरशरतापितम् मे अङ्गम् शरीरम् अन्या उर्वश्याः अतिरिक्ता रमणी करस्पर्शात् करस्पर्शं विधाय न सुखयेत् शीतलयेत् । दृष्टान्तेनोक्तमर्थं समर्थयते—नोच्छ्वसितीति । कुमुदम् कैरवम् तपन-किरणैः सूर्यकरैः नोच्छ्वसिति न विकसति, चन्द्रस्यैवांशुभिः पादैः उच्छ्वसिति । यथा कुमुदं रवेः किरणैर्न विकसितं भवति, केवलं चन्द्रपादैरेव विकसति तद्वन्ममापि स्मरशरसन्तापितमिदं शरीरम् अन्यरमणीकरस्पर्शमवाप्य न निर्वृणुयात्, केवलमुर्वशीकरस्पर्श एवास्य निर्वृतिकरः, भवति चास्य निर्वृतिरतोऽयं करस्पर्श उर्वशीकृत एवेति इदमाविष्टस्येत्याशयः ॥ १६ ॥

उर्वशी—सखी, इनके अन्तिम मनोरथको पूर्ण करूंगी ।

(पीछेसे आकर राजाकी आँखें बन्द करती है)

चित्रलेखा—(विदूषकको सजग करती है)

राजा—(स्पर्श पहचानकर) मित्र, यह तो सुन्दरी उर्वशी है ।

विदूषक—आप कैसे समझते हैं ?

राजा—इसमें नहीं जाननेकी क्या बात है ?

अनङ्ग सन्तप्त हमारे अङ्गको कौन दूसरी स्त्री शीतल कर सकती है ? कुमुद सूर्यकी किरणोंसे नहीं, चन्द्र करसे ही खिलेगा ॥ १६ ॥

उर्वशी--(हस्तावपनीय किंचिदपसृत्य) जयतु जयतु महाराजः । (जेदु जेदु महाराओ)

राजा--सुन्दरि स्वागतम् । (एकासन उपवेशयति)

चित्रलेखा—अपि सुखं वयस्यस्य । (अवि सुहं वअस्सस्स)

राजा--नन्वेतदुपपन्नम् ।

उर्वशी--हला देव्या दत्तो महाराजः । अतोऽस्याः प्रणयवतीव शरीरसंपर्कं गतास्मि । मा खलु मां पुरोभागिनीं समर्थयस्व । (हला देवीए दिण्णो महाराओ । अदो से पणअवदी विअ सरीरसंपक्कं गदम्हि । मा खु मं पुरोभाइणिं समत्थेहि)

अपनीय = अपसार्य । किञ्चिदपसृत्य = किञ्चिदन्यतो गत्वा ।

वयस्यस्य = मित्रभूतस्य भवतो राज्ञः ।

एतत् = उर्वशीप्राप्तिरूपं सुखम् । उपपन्नम्=प्राप्तम् । अधुना त्वत्सख्या उर्वश्याः प्राप्त्या सुखी सम्पन्नोऽस्मीति भावः । अत्र येषां मते सञ्चिन्त्यमानार्थसिद्धिः क्रमस्तन्मतेन क्रमो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तं वेदितव्यम्, यथोक्तं दशरूपके—'क्रमः सञ्चिन्त्यमानाप्तिर्भावज्ञानमथापरे' इति ॥

दत्तः = समर्पितः, मह्यमिति शेषः । प्रणयवती = प्रियतमा । शरीरसम्पर्कम् = अङ्गसङ्गमम् । पुरोभागिनीम् = स्वयं स्वभागग्रहणप्रवृत्ताम् । अयमाशयः—यतोऽयं महाराजो मह्यं देव्या दत्तोऽस्याङ्गसङ्गे मम न कापि चिप्रकारिता, अत्र देहे मदधिकारस्य देवीकर्तृकदानकाल एवोत्पादितत्वात्, अतोऽहं स्वं भागमेव गृहीत्वा नापराध्यामि । पुरोभागिनीशब्दस्य क्षिप्रं स्वभागग्रहणप्रवृत्ता, स्वयं स्वभागग्रहणप्रवृत्ता इत्येव वात्रार्थः कवेरभिमतः, न दोषैकदृक् पुरोभागीति कोषसमर्थितः, तस्यानन्वितत्वेन काव्यान्तर्गतदुष्टतापत्तेः । शाकुन्तलेऽपि कालिदासः 'पुरोभागशब्दस्य' स्वयं स्वकार्यप्रवृत्तत्वे प्रयोगं कृतवान्, यथा—'किं पुरोभागे, स्वातन्त्र्यमवलम्बसे' इति ॥

उर्वशी—(हाथ हटाकर, कुछ दूर जाकर) जय हो महाराजकी, जय हो ।

राजा—सुन्दरि, स्वागत है । (अपने आसनपर बैठाता है)

चित्रलेखा—अब तो तुम्हारे मित्रको प्रसन्नता है ?

राजा—यह तो युक्त ही है ।

उर्वशी—सखी देवीने महाराजको दानकर मुझे दे दिया है, इसलिये इनकी प्रेमिकाकी तरह इनके शरीरसे सट गई हूँ । मुझे दोष मत देना ।

विदूषकः—कथमिहैव युवयोरस्तमितः सूर्यः । (कहं इह ज्जेव तुम्हाणं अत्थमिदो सुज्जो)

राजा—(उर्वशीमवलोक्य)

देव्या दत्त इति यदि व्यापारं व्रजसि मे शरीरेऽस्मिन् ।
प्रथमं कस्यानुमते चोरितमेतत्त्वया हृदयम् ॥ १७ ॥

चित्रलेखा—वयस्य निरुत्तरैषा । सांप्रतं मम विज्ञाप्यं श्रूयताम् । (वअस्स निरुत्तरा एसा । संपदं मह विण्णप्पं सुणीअदु)

राजा—अवहितोऽस्मि ।

अस्तमितः = अस्तंगतः, सायङ्कालादेव ततोऽपि पूर्वतो वा भवत्यावत्र वर्त्तेते, यतः सर्वमपि वृत्तमत्रत्यमेतदन्तराले जातं जानीतः, अत्याश्चर्यकरमिदमिति कथंपदव्यङ्ग्यम् ।

देव्येति । देव्या दत्तः राजमहिष्या समर्पितः इति हेतोः यदि अस्मिन् मे मम शरीरे देहे व्यापारम् आलिङ्गनादिकं सम्पर्कम् व्रजसि गच्छसि, तर्हि पूर्वम् देवीकर्त्तृकदानात् प्राक् कस्यानुमते केन समर्पिते (अत्र देहे) एतत् हृदयम् मनः त्वया चोरितम् अपहृतम् । अयमाशयः—अधुना देव्या दत्तमिदं वपुरिति हेतोरालिङ्गसीदमिति त्वदुक्तिर्न सत्या, यत इतो बहोः कालात्पूर्वत एवात्र तव व्यापारः प्रवृत्तः, अन्तरैव कस्याप्यनुमतिं मम हृदयं त्वयाऽपहृतं तदवध्येव तवात्राधिकृतिर्न देवीकर्त्तृकदानात्परत इति भावः ॥ १७ ॥

अत्र देवीप्रसङ्गेन व्यवहितस्य बीजस्य पुनर्योजनात् आक्षेपो नाम सन्ध्यङ्गमुपक्षिप्तं वेदितव्यम् ॥

निरुत्तरा = अप्रतिवचना । अत्र विकृतं नाम नाट्यालङ्कारः, तदुक्तम्—'वक्तव्यकालेऽप्यवचो व्रीडया विकृतं मतम्' इति । मम विज्ञाप्यम् = मया वक्तव्यम् ।

अवहितः = सावधानः, सज्जकर्ण इति वा, एतेनादरो व्यज्यते ।

विदूषक—आप दोनोंका यहीं सूर्यास्त कैसे हुआ ?

राजा—(उर्वशीको देखकर) देवीने दे दिया है इसीलिये अगर इस शरीरसे सरोकार है तो इससे पहले हमारा हृदय किसके कहनेसे चुराया था ॥ १७ ॥

चित्रलेखा—भाई, इसके पास इसका कोई उत्तर नहीं है । अब मेरी बात सुनें ।

राजा—सावधान हूँ ।

चित्रलेखा—वसन्तानन्तरमुष्णसमये भगवान्सूर्यो मयोपचरितव्यः । तद्यथेयं मे प्रियसखी स्वर्गस्य नोत्कण्ठते तथा वयस्येन कर्तव्यम् । (वसन्ताणन्तरं उण्हसमए भअवं सुज्जो मए उवचरिदव्वो । ता जहा इअं मे पिअसही सग्गस्स ण उक्कण्ठेदि तहा वअस्सेण कादव्वं)

विदूषकः—भवति किं वा स्वर्गे स्मर्तव्यम् । न वाऽश्यते न वा पीयते । केवलमनिमिषैर्नयनैर्मीना विडम्ब्यन्ते । (भोदि किं वा सग्गे सुमरिदव्वं । ण वा अण्हीअदि ण वा पीअदि । केवलं अणिमिसेहिं णअणेहिं मीणा विडम्बीअन्दि)

राजा—भद्रे !

अनिर्देश्यसुखः स्वर्गः कस्तं विस्मारयिष्यति ।

उपचरितव्यः = पूजनीयः सेवनीयो वा । अप्सरसो नृत्यादिना पर्यायेण सूर्यमुपचरन्तीति प्रसिद्धिमनुरुध्य ग्रन्थोऽयम् । स्वर्गस्य नोत्कण्ठते = स्वर्गं नानुध्यायेत् । स्वर्गस्मरणं न कुर्यादित्याशयः, उत्कण्ठतेः स्मरणार्थकत्वमास्थाय 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति षष्ठी । अनेन भाविविरहसूचनं कृतमिति अग्रिमाङ्कार्थोपक्षेपादङ्कावतारोऽमिति रङ्गनाथः ।

किं वा स्वर्गे स्मर्त्तव्यम् = किन्तत्स्वर्गे स्थितं यदत्र स्थितया तव सख्या स्मर्येत, न किञ्चिदपि तत्र तादृशमिति । पूर्वोक्तमेव प्रमाणयितुमाह—न वेति । अश्यते = भुज्यते । देवा हि यज्ञेषु दर्भैर्हविर्भागैरेव तुष्यन्ति, न किमप्यन्यददन्ति पिबन्ति वेति प्रसिद्धिमनुरुध्यायं ग्रन्थः । अनिमिषैर्नयनैः = निर्निमेषदृष्टिभिः । मीनाः=मत्स्याः विडम्ब्यन्ते = अनुक्रियन्ते । देवानां मत्स्यानाञ्चाक्षिस्पन्दो न भवति, तेन देवा मत्स्याश्च 'अनिमिषाः' इत्युच्यन्ते, 'सुरमत्स्यावनिमिषौ' इत्यमरः । एतेन च स्वर्गनिन्दनेन तत्स्मरणस्यायुक्तत्वं गमितम् ।

अनिर्देश्येति । स्वर्गः देवलोकः अनिर्देश्यसुखः अनिर्देश्यम् वर्णयितुमशक्यं सुखम् आनन्दो यत्र तादृशः, अत एव चाहुः—'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्' इति । कः तम् स्वर्गम्

चित्रलेखा—वसन्तके बाद ग्रीष्म ऋतुमें मैं सूर्योपस्थानमें जाऊँगी, इस लिये जिस प्रकार हमारी सखी स्वर्गके लिये उत्कण्ठित न हो, आप वैसा करें ।

विदूषक—स्वर्गमें क्या है जिसे याद करेगी, न खाना न पीना, केवल मछलीकी तरह निर्निमेष रहना ।

राजा—सुन्दरि, स्वर्गके सुखका वर्णन नहीं किया जा सकता है, उसे भुलावेगा

अनन्यनारीसामान्यो दासस्त्वस्याः पुरूरवाः ॥ १८ ॥

चित्रलेखा—अनुगृहीतास्मि । हला उर्वशि अकातरा भूत्वा विसर्जय माम् । (अणुगहिदम्हि । हला उव्वसि अकादरा भविअ विसज्जेहि मं)

उर्वशी—(चित्रलेखां परिष्वज्य) सखि मा खलु मां विस्मर । (सहि मा खु मं विसुमरेहि)

चित्रलेखा—(सस्मितम्) वयस्येन संगता त्वमेवैतन्मया याचितव्या । (वअस्सेण संगदा तुमं एव्व एदं मए याचिदव्वा) (इति राजानं प्रणम्य निष्क्रान्ता)

विदूषकः—दिष्ट्या मनोरथसंपत्त्या वर्धते भवान् । (दिट्ठिआ मणोरह-संपत्तीए वड्ढदि भवं)

विस्मारयिष्यति = विस्मरणं कारयिष्यति । नास्ति कोपि तादृशः पदार्थो यमवाप्य स्वर्गाय न स्पृहयेन्मानसमिति भावः । नन्वेवं स्वर्गायोत्कण्ठमानाया उर्वश्याः कथं प्रयोधनं कर्त्तव्यमिति चेत्तत्राह—तु किन्तु पुरूरवाः अनन्यनारीसामान्यः अन्याभिः नारीभिः सह सामान्यो न भवतीति अनितरवनितासाधारण इत्यर्थः, दासः अनवरतसेवापरः अस्याः उर्वश्याः । पुरूरवा अस्या अत्र दासः, यस्य सेवामन्या काचन वनिता नाप्स्यति, अयमेवैकोऽत्रैतादृशो विषयो यमुपादाय तव सखी कदाचिदत्र रमेत, अन्यथा तु स्वर्गः स्वर्ग एव, का कथा तस्याश्च सादृश्यस्येति भावः ॥१८॥

अनुगृहीता = अनुकम्पिता, अनुकम्पा चात्र तत्सख्यामुर्वश्यामनुरागातिशय-प्रकाशनरूपा । अकातरा = विरहेणादूना । विसर्जय = गन्तुमनुजानीहि ।

याचितव्या = प्रार्थनीया । राज्ञा पुरूरवसा सह तिष्ठत्यास्तव स्मृतिर्मामेव न स्प्रक्ष्यतीति संभाव्यतेऽतस्त्वामेवेदमहं याचेयेति प्राप्तकालमिति भावः ।

मनोरथसम्पत्त्या = अभिलषितसिद्ध्या । सा चात्रोर्वशीप्राप्तिरूपा बोध्या ।

कौन ? फिर भी अनन्य भावसे पुरूरवा तो इसका दास रहेगा ही ॥ १८ ॥

चित्रलेखा—सखी उर्वशी, खुश होकर मुझे विदा दो ।

उर्वशी—(चित्रलेखासे लिपटकर) सखी, मुझे भूल मत जाना ।

चित्रलेखा—प्रियबन्धुके साथ रहनेपर मुझे ही तुमसे ऐसी प्रार्थना करनी होगी । (राजाको प्रणाम करके जाती है)

विदूषक—भाग्यवश आपका मनोरथ पूरा हुआ । यह आपका अभ्युदय है ।

राजा--इयं तावद्वृद्धिर्मम । पश्य ।

सामन्तमौलिमणिरञ्जितशासनाङ्क-
मेकातपत्रमवनेर्न तथा प्रभुत्वम् ।
अस्याः सखे चरणयोरहमद्य कान्त-
माज्ञाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः ॥ १९ ॥

उर्वशी—नास्ति मे विभवोऽतः प्रियतरं मन्त्रयितुम् । (णत्थि मे विहवो अदो पिअदरं मन्तिदुं)

राजा—(उर्वशीं हस्तेनावलम्ब्य) अहो विरुद्धार्थसंपादयितेप्सित-

वृद्धिः = समृद्धिः, अस्या लाभो मम कृतेऽवश्यं समृद्धिरूप इत्यर्थः ।

सामन्तेति । सखे, प्रियमित्र, अस्याः उर्वश्याः चरणयोः पादयोः कान्तम् चिराभिलषितत्वेन मनोहरम् आज्ञाकरत्वम् दासभावम् अधिगम्य आसाद्य अद्य अहम् यथा यावता रूपेण कृतार्थः सफलजीवितः, अस्मीति योजनीयम्, तथा तावता रूपेण सामन्ताः प्रत्यन्तवर्त्तिनो राजानः तेषाम् मौलिषु किरीटेषु ये मणयः रत्नानि तैः रञ्जितम् रागं प्रापितम् शासनम् आज्ञा तदेव अङ्कः चिह्नम् यस्य तत् सामन्तमौलिमणिरञ्जितशासनाङ्कम् प्रत्यन्तवर्त्तिभूपालशिरोभूषणरत्नरागरक्ताज्ञापत्राङ्कितम् एकातपत्रम् एकच्छत्रम् अवनेः पृथिव्याः प्रभुत्वम् अधिपतित्वम् प्राप्य न कृतार्थ इत्यन्वेति । अयमर्थः-अस्याः समुद्रवसनाया भुवोऽखण्डस्वामित्वं, यत्र सामन्तैर्माल्यमिव मदीयं शासनमुह्यते, ममासाद्यापि न मम तादृशी कृतार्थता यादृश्यस्या दास्यमवाप्येति महतीयं मम समृद्धिरिति । 'मौलिः किरीटे धम्मिल्ले' इति मेदिनी । वसन्ततिलकं वृत्तम् , लक्षणं यथा—'उक्तं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' इति ॥१९॥

विभवः = वाग्बलम् , यन्महाराजेनोक्तं तदेव प्रियभाषणस्य परां काष्ठामुपगतमितोऽपि प्रियभाषणे न मे सामर्थ्यमिति भावः ।

विरुद्धार्थसम्पादयिता = विपरीतकार्यकरः । ईप्सितलाभः = अभीष्टाधिगमः ।

राजा—सचमुच यह मेरा अभ्युदय है, देखो—

जिसमें सामन्त लोग हमारी आज्ञाको शिरपर धारण करते थे, ऐसा एकातपत्र पृथ्वीका राज्य मुझे जितना आनन्दित नहीं कर सका था, उतना इसकी आज्ञा पालनका अवसर प्राप्त करके आज आनन्दित हो रहा हूं ॥ १९ ॥

उर्वशी—इससे अधिक प्रिय कह सकूं इतनी शक्ति मेरी जिह्वामें नहीं है ।

राजा--(उर्वशीका हाथ पकड़कर) इष्ट वस्तुका लाभ स्थितिमें आश्चर्यजनक

लाभो नाम ।

पादास्त एव शशिनः सुखयन्ति गात्रं
बाणास्त एव मदनस्य ममानुकूलाः ।
संरम्भरूक्षमिव सुन्दरि यद्यदासी-
त्त्वत्संगमेन मम तत्तदिधानुनीतम् ॥ २० ॥

उर्वशी—अपराद्धास्मि चिरकारिका महाराजस्य । (अवरद्धम्हि चिरकारिआ महाराअस्स)

राजा—मा मैवम् ।

यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरम् ।

उक्तमर्थमुपपादयति—

पादा इति । ते एव शशिनः चन्द्रमसः पादाः मयूखाः (अधुना) गात्रम् शरीरम् सुखयन्ति हर्षयन्ति (ये त्वदधिगमात्पूर्वं मर्मातुदन्) ते एव मदनस्य कामस्य बाणाः मम अनुकूलाः प्रियङ्कराः (ये मम पीडामजनयन् पूर्वं त्वद्विरहे) (इत्थम्) सुन्दरि, हे सर्वानवद्याकृते, (त्वदासेः प्राक्) यद्यत् संरंभरूक्षम् कोपकलुषम् इव आसीत् तत्तत् त्वत्सङ्गमेन त्वत्सम्पर्केण मम अनुनीतम् कृतसान्त्वनमिव । त्वद्वियोगे येषां कोपकलुषता मयानुभूता सम्प्रति त्वत्समागमस्ताननुनीयेव अदिमानमानीतवानिति सर्वेऽपि ते ममानुकूला अजनिषतेति भावः । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥२०॥

अपराद्धा=विहितापराधा । चिरकारिका=विलम्बकारिणी । मया कालक्षेपः कृतोऽत एव च महाराजेन विरहकष्टमनुभूतमतोऽहं महाराजस्यापराधिन्यस्मीति भावः ।

यदेवेति । यदेव सुखम् दुःखात् दुःखानुभूतेरनन्तरम् उपनतम् उपलब्धम् तदेव सुखम् रसवत्तरम् अतिस्वादु । भवतीति शेषः, दुःखोपभोगात्परतो लभ्यमानं सुखमधिकानन्दप्रदं भवतीति तात्पर्यम् , तदुक्तमपि—'न बिना विप्रलम्भेन संभोगः

परिवर्त्तन ला देता है ।

आज वेही चन्द्र किरणें हमारे शरीरको आनन्दित करती हैं, वेही कामबाण मेरे अनुकूल हो रहे हैं, प्रिये, तुम्हारे वियोग कालमें जो हमारे प्रतिकूल थे, वे सभी अब अनुनीतसे हो रहे हैं ॥ २० ॥

उर्वशी—देर करके मैंने महाराजके प्रति अपराध कर दिया ।

राजा—नहीं कोई बात नहीं ।

दुःखके बाद जो सुख प्राप्त होता है वह अधिक आनन्द देता है, धूपमें खूब

निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः ॥ २१ ॥

विदूषकः—भोः सेविताः प्रदोषरमणीयाश्चन्द्रपादाः । समयः खलु ते वासगृहप्रवेशस्य । (भो सेविदा पदोसरमणीआ चन्दवादा । समओ खु दे वासघरपवसस्स)

राजा—तेन हि सख्यास्ते मार्गमादेशय ।

विदूषकः—इत इतो भवती । (इदो इदो भवदी)

(इति परिक्रामन्ति)

राजा—सुन्दरि ! इयमिदानीमभ्यर्थना ।

उर्वशी—कथमिव । (कहं विअ)

राजा—

अनुपनतमनोरथस्य पूर्वं शतगुणितेव गता मम त्रियामा ।

पुष्टिमश्नुते । कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागोऽभिवर्द्धते' ॥ उक्तमर्थं दृष्टान्तेन समर्थयते—निर्वाणायेति । तप्तस्य घर्मक्लिष्टस्य जनस्य विशेषतो विशेषभावेन निर्वाणाय शान्तये पादपच्छाया तरुच्छाया भवति, तरुच्छाया यथाऽऽतपक्लिष्टं पान्थं शमयति न तथा सद्यो विहितस्नानमिति भावः ॥ २१ ॥

प्रदोषरमणीयाः = निशामुखमनोहराः । चन्द्रपादाः = शीतांशुमयूखाः । वासगृहप्रवेशस्य=गर्भागारं गन्तुम् । सख्यास्ते=तव सख्या उर्वश्याः । आदेशय=प्रदर्शय ।

अनुपनतेति । अनुपनतमनोरथस्य अनवाप्तत्वत्समागमरूपाभिलषितार्थस्य मम पूर्वम् त्वत्समागमात् प्राक् शतगुणिता शतधा वर्द्धितेव त्रियामा गता व्यतीता, हे

तप जानेपर मिली छाया अधिक शान्ति देती है ॥ २१ ॥

विदूषक—अजी, सायङ्कालमें रमणीय चन्द्रिकाका उपभोग कर लिया गया, अब आपको महलमें जाना चाहिये ।

राजा—तब अपनी सखीको मार्ग बताओ ।

विदूषक—आप इधर चलें ।

(सब जाते हैं)

राजा—इस समय यही प्रार्थना है ।

उर्वशी—क्या ?

राजा—जब तक हमारे मनोरथ पूर्ण नहीं हुए थे तब रात्रियाँ सौ गुनी सी

यदि तु तव समागमे तथैव प्रसरति सुभ्रु ततः कृती भवेयम् ॥२२॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति तृतीयोऽङ्कः ।

सुभ्रु, यदि तु तव समागमे मिलने (जातेऽधुना) तथैव शतगुणितेव प्रसरति ततः तस्यास्तथा प्रसरणात् कृती कृतार्थो भवेयम् । अयमाशयः—यथेयं रात्रिस्त्वद्विरहे दूनस्य मम कृते रात्रिशततुल्याऽत एव दुःक्षपाऽभवत्, तथैवाधुना त्वत्सङ्गमे यदि दीर्घतां यायात्तदा चिरविहारावसरलाभेन परिणतचन्द्रकलाया उपभोगं कृत्वा कृतार्थतां लभेयेति । कष्टमयक्षणस्य क्षपयितुमशक्यतया रात्रिर्युगसहस्रायते वियोगिनः, सैव च संयोगिनः समयः सातिशयत्वरयाऽपसरति—सङ्कल्पाशामन्दक्षणस्य त्वरितापसारितानियमादिति बोध्यम् । 'त्रियामा' रात्रिः, आद्यन्तयोर्यामार्धयोश्चेष्टाकालत्वाद्दिनप्रायत्वेन रात्रावगणनम् । भानुदीक्षितस्तु—त्रीन् धर्मादीन् यापयति कामप्राधान्यस्थापनेन निरवकाशीकरोतीति त्रियामेति व्युत्पत्तिमाह । 'सुभ्रु' इत्यत्र 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति नदीत्वप्रतिषेधाद्ध्रस्वत्वमसङ्गतमिति बहवः । अन्ये तु 'अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनामुपसंख्यानम्' इत्यत्र भाष्ये 'अलावूः' 'कर्कन्धूः' इत्युकारान्तस्याप्यूङ्प्रत्यय उदाहृतो भाष्ये, एतस्मादेव ज्ञापकात् क्वचिदूकारान्तस्याप्यूङ्प्रत्ययान्तत्वान्नदीत्वे ह्रस्वत्वमाहुः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ २२ ॥

अत्रेयं रात्रेर्दीर्घत्वसूचनोत्तराङ्ककथोपयोगित्वाद्विन्दुरित्यवगन्तव्यमिति काटयवेमः ।

इति मैथिलपण्डित श्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते विक्रमोर्वशीय 'प्रकाशे'
तृतीयाङ्क-प्रकाशः ।

होती रहीं, अब तुम्हारे मिलनेके बाद भी यदि रात्रियाँ वैसी ही हों तो मैं कृतार्थ हो जाऊं ॥ २२ ॥

(सबका प्रस्थान)

तृतीय अङ्क समाप्त

चतुर्थोऽङ्कः

(नेपथ्ये सहजन्याचित्रलेखयोः प्रावेशिक्याक्षिप्तिका)

प्रिय सखीवियोगविमनाः सखीसहिता व्याकुला समुल्लपति ।
सूर्यकरस्पर्शविकसिततामरसे सरोवरोत्सङ्गे ॥ १ ॥

(पिअसहीविओअविमणा सहिसहिआव्वाउला समुल्लवइ ।
सूरकरफंसविअसिअतामरसे सरवरुच्छङ्गे ॥ १ ॥)

(ततः प्रविशति विमनस्का सहजन्या चित्रलेखा च)

चित्रलेखा—(प्रवेशानन्तरं द्विपदिकया दिशोऽवलोक्य)

आक्षिप्तिका = गीतिभेदः, तल्लक्षणं यथा—चञ्चत्पुटादितालेन मार्गत्रयविभूषिता । आक्षिप्तिका स्वरपदग्रथिता कथिता बुधैः' इति । पात्रप्रवेशावसर एवैतस्या प्रयोगः ।

प्रियसखीति । प्रियसखीवियोगविमनाः प्रियसख्याः उर्वश्याः वियोगेन विरहेण विमनाः खिन्नहृदया सखीसहिता सहजन्याभिधसख्यन्तरयुक्ता व्याकुला विह्वला (चित्रलेखा) सूर्यकरस्पर्शविकसिततामरसे रविकिरणसम्पर्कस्मेरकमले सरोवरोत्सङ्गे कासारप्रान्ते समुल्लपति विलपति । प्रियसखीविरहाकुलहृदया चित्रलेखा सहजन्याभिधयाऽन्यया सख्या सहिता सरस्तटे विलापं करोतीत्याशयः । सूर्यकरेत्यादिसरोविशेषणेन कदा मम सखी रविकरमिव प्रियमवाप्य प्रसादं गमिष्यतीति चिन्ताध्वनिः । गाथाछन्दः, तल्लक्षणं यथा—'यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या' । आर्या गाथेति शब्दान्तरम् ॥ १ ॥

द्विपदिकया = द्विपदिकाख्यगीतविशेषेण । तल्लक्षणमाह भरतः—शुद्धा खण्डा च मात्रा सम्पूर्णेति चतुर्विधा । द्विपदी करणाख्येन तालेन परिगीयते ॥ पादे छः पञ्चभागोऽन्ते जौ रतः षष्ठद्वितीयकौ । चतुर्भिरीदृशैः पादैः शुद्धा द्विपदिकोच्यते ॥

(नेपथ्यमें सहजन्या और चित्रलेखाके प्रवेशका उपक्रम)

प्रिय सखीके वियोगमें उदासीन सखी सहित व्याकुल, सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे विकसित कमलवाले सरोवरकी गोदमें विलापकर रही है ॥ १ ॥

(विमन सहजन्या और चित्रलेखाका प्रवेश)

चित्रलेखा—सङ्गिनीके दुःखसे दुःखिनी होकर प्रेममें पगी रोती हुई दो हंसियाँ

सहचरीदुःखालीढं सरोवरे स्निग्धम् ।
बाष्पावल्गितनयनं ताम्यति हंसीयुगलम् ॥ २ ॥
(सहअरिदुक्खालिद्धअं सरवरअम्मि सिणिद्धअम् ।
बाहोवग्गिअणअणअं तम्मई हंसीजुअलअम् ॥ २ ॥)

सहजन्या—(चित्रलेखां विलोक्य सखेदम्) सखि म्लायमानशतपत्रस्येव ते मुखस्य च्छाया हृदयस्यास्वस्थतां सूचयति । तत्कथय निर्वेदकारणम् । समदुःखा भवितुमिच्छामि । (सहि मिलाअमाणसदवत्तस्स विअ दे मुहस्स छाआ हिअअस्स अस्सत्थदं सूएदि । ता कहेहि णिव्वेदकारणं । समदुक्खा होदुं इच्छामि)

चित्रलेखा—सखि अप्सरोवारपर्यायेणेह भगवतः सूर्यस्य पादमूलो-

अर्धान्तेऽन्ये स्वरानाहुः खण्डा स्याच्छुद्धयार्धया । षष्ठे नैकेन गुरुणा मात्रा द्विपदिका मता ॥ ज्ञेया शुद्धैव सम्पूर्णा गुरुणान्तेऽधिकेन तु' । इति ।

सहचरीति । इयं हंस्यन्योक्तिः, तया च स्वपीडाव्यञ्जना । सहचरीदुःखालीढम् प्रेयस्यन्तरवियोगजन्यक्लेशयुतम् स्निग्धम् स्नेहभृतान्तःकरणम् बाष्पावल्गितनयनम् सबाष्पनेत्रम् (अश्रुपूर्णेक्षणम्) हंसीयुगलम् ताम्यति ग्लायति । अत्र हंसीयुगलम् सहजन्याचित्रलेखयोः सखीपदञ्चोर्वश्यां पर्यवस्यति ॥ २ ॥

विमनस्का = विमनायमाना ।

म्लायमानशतपत्रस्य = म्लायतः-कमलस्य । 'सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यमरः । छाया = कान्तिः । 'छाया सूर्यप्रिया कान्ता' इत्यमरः । अस्वस्थताम् = व्याकुलताम् । सूचयति = प्रकाशयति, म्लानं मुखं तव वीक्ष्य तव हृदयं कुतोऽपि हेतोराकुलमिति स्फुटं प्रकाशत इत्यर्थः । निर्वेदकारणम् = खेदहेतुम् । समदुःखा = त्वदीये दुःखे सहयोगिनी ।

अप्सरोवारपर्यायेण = अप्सरसां वाराः सेवावसराः तत्पर्यायेण तत्क्रमेण । पाद-

---

सरोवरमें तकलीफ पारही हैं ॥ २ ॥

सहजन्या—(चित्रलेखाकी ओर देखकर) सखी, मुरझाये हुए कमलके समान तुम्हारे मुखकी ओर देखनेसे ज्ञात होता है कि तुम्हारा हृदय दुःखी है, इसलिये अपने दुःखका कारण तो बता । तुम्हारे दुःखमें हिस्सा बटाना चाहती हूँ ।

चित्रलेखा—अप्सराओंकी वारीके क्रमसे सूर्योपस्थानमें रहते समय उर्वशीके

पस्थाने वर्तमाना बलवत्खलूर्वश्या उत्कण्ठितास्मि । (हला अच्छरावारप-ज्जाएण इह भवअदो सुज्जस्स पादमूलोवट्ठाणे वट्टन्ती बलिअं खु उव्वसीए उक्कण्ठिदम्हि)

मूलोपस्थाने = चरणसेवायाम् । बलवत् = अत्यर्थम् । उर्वश्यां उत्कण्ठितास्मि = उर्वशीविषयकोत्कलिकया सचिन्तास्मि । भगवन्तं सूर्यं परितस्तिष्ठन्तो मुन्यप्सरो-गन्धर्वादयः पर्यायेण तदुपस्थानं कुर्वन्तीति प्रसिद्धिमेवानुरुध्यायं ग्रन्थः । उक्तं च भागवते द्वादशस्कन्धस्यैकादशाध्याये—

'मध्वादिषु द्वादशसु भगवान् कालरूपधृक् ।
लोकतन्त्राय चरति पृथग् द्वादशभिर्गणैः ॥
धाता कृतस्थली हेतिर्वासुकी रथकृन्मुने ।
पुलस्त्यस्तुम्बुरुरिति मधुमासं नयन्त्यमी ॥
अर्यमा पुलहोऽथौजाः प्रहेतिः पुञ्जिकस्थली ।
नारदः कच्छनीरश्च नयन्त्येते स्म माधवम् ॥
मित्रोऽत्रिः पौरुषेयोऽथ तक्षको मेनका हहाः ।
रथस्वन इति ह्येते शुक्रमासं नयन्त्यमी ॥
वसिष्ठो वरुणो रम्भा सहजन्या तथा हुहूः ।
शुक्रश्चित्रस्वनश्चैव शुचिमासं नयन्त्यमी ॥
इन्द्रो विश्वावसुः श्रोता एलापत्रस्तथाङ्गिराः ।
प्रम्लोचा राक्षसो वर्यो नभोमासं नयन्त्यमी ॥
विवस्वानुग्रसेनश्च व्याघ्र आसारणो भृगुः ।
अनुम्लोचा शङ्खपालो नभस्याख्यं नयन्त्यमी ॥
पूषा धनञ्जयो वातः सुषेणः सुरुचिस्तथा । घृताची गौतमश्चेति तपोमासं नयन्त्यमी ॥
क्रतुर्वर्चा भरद्वाजः पर्जन्यः सेनजित्तथा । विश्व ऐरावतश्चैव तपस्याख्यं नयन्त्यमी ॥
अथांशुः कश्यपस्तार्क्ष्य ऋतुसेनस्तथोर्वशी । विद्युच्छत्रुर्महाशङ्खः सहोमासं नयन्त्यमी ॥
भगः स्फूर्जोऽरिष्टनेमिरूर्ण आयुश्च पञ्चमः । कर्कोटकः पूर्वचित्तिः पुष्यमासं नयन्त्यमी ॥
त्वष्टा ऋचीकतनयः कम्बलश्च तिलोत्तमा । ब्रह्मापेतोऽथ शतचिद्धृतराष्ट्र इषंभराः ॥
विष्णुरश्वतरो रम्भा सूर्यवर्चाश्च सत्यजित् । विश्वामित्रो मखापेत ऊर्जमासं नयन्त्यमी ॥
एता भगवतो विष्णोरादित्यस्य विभूतयः ।
स्मरतां सन्ध्ययोर्नणां हरन्त्यंहो दिने दिने ॥
द्वादशस्वपि मासेषु देवोऽसौ षड्भिरस्य वै ।
जरन्समन्तात्तनुते परत्रेह च सन्मतिम् ॥

लिये बहुत उत्कण्ठित हो गई हूँ ।

सहजन्या--जाने युवयोरन्योन्यस्नेहम् । ततस्ततः । (जाणे वो अण्णोण्णसिणेहं । तदो तदो)

चित्रलेखा--तत एतेषु दिवसेषु को नु खलु वृत्तान्त इति प्रणिधानस्थितया मयाऽत्याहितमुपलब्धम् । (तदो इमाइं दिवसाइं को णु खु वुत्तन्तोत्ति पणिधाणट्ठिदाए मए अच्चाहिदं उवलद्धं)

सहजन्या--(सावेगम्) कीदृशमिव । (कीरिसं विअ)

चित्रलेखा--उर्वशी किल तं रतिसहायं राजर्षिममात्येषु निवेशितराज्यधुरं गृहीत्वा गन्धमादनवनं विहर्तुं गता । (उव्वसी किल तं रदिसहाअं राएसिं अमच्चेसु णिवेसिदरज्जधुरं गेण्हिअ गन्धमादणवणं विहरिदुं गदा)

सामर्ग्यजुभिस्तल्लिङ्गैः ऋषयः संस्तुवन्त्यमुम् ।
गन्धर्वास्तं प्रगायन्ति नृत्यन्त्यप्सरसोऽग्रतः ॥
उन्नह्यन्ति रथं नागा ग्रामण्यो रथयोजकाः ।
चोदयन्ति रथं पृष्ठे नैर्ऋता बलशालिनः ॥
बालखिल्याः सहस्राणि षष्टिर्ब्रह्मर्षयोऽमलाः ।
पुरतोऽभिमुखं यान्ति स्तुवन्ति स्तुतिभिर्विभुम्' ॥ इति ॥

अन्योऽन्यस्नेहम् = परस्परप्रेमाणम् ।

प्रणिधानस्थितया = देवयोनिप्रभावाद् व्यवहितवस्तुज्ञानार्थं ध्यानावस्थितया । अत्याहितम् = भयजनकम्, ध्याने मयोर्वश्या विषये तादृशं दृष्टं येन मम महती चिन्ता समजनीति भावः ॥

सावेगम् = चित्तव्याकुलतया सह ।

रतिसहायम् = क्रीडासखायम् । राजर्षिम् = पुरूरवसम् । अमात्येषु = मन्त्रिषु । निवेशितराज्यधुरम् = स्थापितराज्यसञ्चालनभारम् । गृहीत्वा = सहादाय । गन्धमादनवनम् = गन्धेन मादयतीति गन्धमादनो नाम गिरिः तस्य वनम् हिमालयैकदेशस्थौषधिप्रस्थस्योपवनम् । विहर्तुम् = क्रीडामहोत्सवसुखान्यनुभवितुम् ॥

सहजन्या—तुम दोनोंकी अन्योन्य प्रीतिको मैं जानती हूँ ।

चित्रलेखा—इन दिनों उसकी क्या खबर है इस बातका पता पानेके लिये जब मैंने ध्यान किया तो मुझे बहुत खराब बात मालूम हुई ।

सहजन्या--(सहमकर) कैसी बुरी बात ?

चित्रलेखा--उर्वशी अपने क्रीड़ा बन्धु राजाको, जिसने राज्य भार मन्त्रियोंके ऊपर रख दिया, लेकर गन्धमादनपर्वतपर विहार करने गई थी ।

सहजन्या—स नाम संभोगो यस्तादृशेषु प्रदेशेषु । ततस्ततः । (सो णाम संभोओ जो तारिसेसु पदेसेसु । तदो तदो)

चित्रलेखा—तत्र खलु मन्दाकिन्याः पुलिनेषु सिकतापर्वतकेलीभिः क्रीडन्ती विद्याधरदारिकोदयवती नाम तेन राजर्षिणा चिरं निध्यातेति कुपितोर्वशी । (तहिं खु मन्दाइणीए पुलिणेसु सिअदापव्वदकेलीहिं कीलमाणा विज्जाधरदारिआ उदयवदी णाम देण राएसिणा चिरं णिज्झाइदत्ति कुविदा उव्वसी)

सहजन्या—भवितव्यम् । दूरारूढः खलु प्रणयोऽसहनः । ततस्ततः । (होदव्वं । दूरारूढो खु पणओ असहणो । तदो तदो)

चित्रलेखा—ततो भर्तुरनुनयमप्रतिपद्यमाना गुरुशापसंमूढहृदया विस्मृ-

---

संभोगः = रतिक्रीडा । सैव रतिः स्तुत्या या तादृशेषु तदुपयुक्तेषु प्रदेशेषु क्रियते, यत्र तत्र कृता तु रतिः क्षतिरिति भावः ।

मन्दाकिन्याः = गङ्गायाः । पुलिनेषु = तटवर्त्तिसैकतेषु । सिकतापर्वतकेलीभिः = सिकताकृतपर्वतनिर्माणक्रीडाभिः । विद्याधरदारिका = विद्याधरतनया । निध्याता = सानुरागं दृष्टा । तत्र गन्धमादने मन्दाकिनीपुलिने सैकतमयपर्वतनिर्माणक्रीडया रममाणां विद्याधरबालिकां सानुरागं पश्यते पुरूरवसेऽकुप्यदुर्वशीति भावः ।

भवितव्यम् = संभाव्यत एतत्, दूरारूढः = परां कोटिमनुप्राप्तः । प्रणयः = अनुरागः । असहनः = सहिष्णुताशून्यः । गाढं प्रेम स्खलितं न सहत इति, तथा चोक्तमत्रैव—'प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितविषह्यं हि भवति' इति ॥

अनुनयम् = प्रसन्ना भवेत्येवं रूपां प्रार्थनाम् । अप्रतिपद्यमाना = अनङ्गीकुर्वाणा । गुरुशापसंमूढहृदया = भरतमुनिप्रदत्तशापजनिताज्ञानोपहतचित्ता । विस्मृतदेवतानियमा = ध्यानापगतकार्त्तिकेयप्रतिज्ञा । स हि या स्त्री प्रदेशमेनं प्रवेक्ष्यति

सहजन्या—उसे ही संभोग कहा जा सकता है जो वैसे प्रदेशोंमें रहकर किया जाय । इसके बाद ?

चित्रलेखा—वहाँपर मन्दाकिनीके किनारे बालूके पहाड़ बनाकर खेलनेवाली विद्याधर कुमारी उदयवतीको राजा देर तक देखते रहे इसीपर उर्वशी क्रुद्ध हो उठी ।

सहजन्या—हो सकता है । दूरतक पहुँचा हुआ प्रेम बड़ा असहिष्णु हुआ करता है । इसके बाद ?

चित्रलेखा—इसके बाद उर्वशीने स्वामीका अनुनय नहीं सुना, गुरुके शापसे

तदेवतानियमा स्त्रीजनपरिहरणीयं कुमारवनं प्रविष्टा । प्रवेशानन्तरं च काननोपान्तवर्तिलताभावेन परिणतमस्या रूपम् । (तदो भट्टिणो अणुणअं अप्पडिवज्जमाणा गुरुसावसंमूढहिअआ विसुमरिददेवतानिअमा इत्थिआजणपरिहरणिज्जं कुमारवणं पइट्ठा । पवेसाणन्तरं अ काणणोवन्तवत्तिलदाभावेण परिणदं से रूवं)

सहजन्या—नास्ति विधेरलङ्घनीयं नाम । तस्यानुरागस्यायं नामैकपद ईदृशोऽनर्थः । अथ किमवस्थः स राजर्षिः । (णत्थि विहिणो अलङ्घणिअं णाम । तस्स अणुराअस्स अअं णाम एक्कपदे ईरिसो अणत्थो । अह किमवत्थो सो राएसी)

चित्रलेखा—तस्मिन्नेव कानने प्रियतमां विचिन्वन्नहोरात्रानतिवाहयति । एतेन पुनर्निर्वृतानामप्युत्कण्ठाकारिणा मेघोदयेनानर्थाधीनो भविष्यति ।

सा लताभावं प्रतिपत्स्यते इत्येवं नियमं कृतवानासीत्तमियं गुरुशापप्रभावान्नास्मार्षीत्प्रविवेश च तं प्रदेशमिति हृदयम् । काननोपान्तवर्तिलताभावेन = वनप्रान्तावस्थितवल्लरीरूपेण । उर्वश्या रूपं लतात्वमगमदिति भावः ।

विधेः = भाग्यस्य । अलङ्घनीयम् = अनतिक्रमणीयम् । विधिः सर्वमपि कृतकं प्रबन्धमतिक्रमितुं समर्थ इत्यर्थः । ईदृशोऽनर्थः = प्रेयस्या लताभावेन परिणतिरूपा विपत् ।

विचिन्वन् = अन्वेषयन् । अहोरात्रान् = दिवसान् । अतिवाहयति = गमयति । निर्वृतानाम् = सुखिनाम् । उत्कण्ठाकारिणा = औत्सुक्यजनकेन । मेघालोके सुखिनोऽप्युत्कण्ठन्ते का कथा तथाविधावस्थस्येति भावः । आहामुमेवार्थं कविरयं मेघदूतेऽपि—'मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः । कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे' । अनर्थाधीनः = विपत्तिमग्नः ॥

उसका हृदय शून्य हो रहा था, उसने देवताके नियम भुलादिये, और स्त्रियोंके नहीं जाने योग्य कुमार वनमें प्रवेश किया । पैठते ही उसका वह रूप जंगली लताके रूपमें परिणत हो गया ।

सहजन्या—भाग्य सब कुछ कर सकता है । उस तरहके प्रेमका ऐसा अनर्थमय परिणाम । अब उस राजाकी क्या दशा है ?

चित्रलेखा—उसी वनमें प्रियाकी खोजमें दिन रात बिता रहा है, यह मेघ समय आरहा है, इसमें तो सुखी जन भी उत्कण्ठित हो उठते हैं, राजा पर तो

(तस्सिं एव्व काणणे पियदमं विचिण्णन्तो अहोरत्ते अदिवाहेदि । इमिणा उग णिव्वुदाणंपि उक्कण्ठाकारिणा मेहोदएण अणत्थाहीणो हविस्सदि)

(अनन्तरे जम्भलिका)

सहचरीदुःखालीढं सरोवरे स्निग्धम् ।
अविरलबाष्पजलार्द्रं ताम्यति हंसीयुगलम् ॥ ३ ॥

(सहअरीदुक्खालिद्धअं सरवरअम्मि सिणिद्धअम् ।
अविरलवाहजलोल्लअं तम्मइ हंसीजुअलम् ॥ ३ ॥)

सहजन्या—सखि अस्ति कोऽपि समागमोपायः । (सहि अत्थि कोवि समागमोवाओ)

चित्रलेखा—गौरीचरणरागसंभवं संगममणिं वर्जयित्वा कुतोऽस्याः समागमोपायः । (गोरीचरणराअसंभवं संगममणि वज्जिअ कुदो से समागमोवाओ)

जम्भलिका = गीतिभेदः, तथाह भरतः—'उद्ग्राहो द्विःसकृद्वैकखण्डे द्विशकलोऽथवा । यत्र ध्रुवो द्विराभोगो ध्रुवेऽमुक्तिः स जम्भकः' । इति । एतस्यैव संज्ञान्तरं जम्भलिकेति मतङ्गमतम् । 'ध्रुवे मुक्तिरहिता पूर्वोक्तलक्षणलक्षिता सा' इति श्रीमद्भट्टसोमचरणाः ।

सहचरीति । अत्र तृतीयपादे-'अविरलबाष्पजलार्द्रम्' इत्यस्य सततप्रवृत्ताश्रुसिक्तम् इत्यर्थः, सममन्यद् द्वितीयगाथयेति तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥ ३ ॥

समागमोपायः = उर्वश्याः पुरूरवसा मेलनस्य मार्गः ।

गौरीचरणरागसम्भवम् = पार्वतीपादोपयुक्तलाक्षारागप्रभवम् । वर्जयित्वा = विहाय । कुतोऽस्याः समागमोपायः, नास्त्यन्य उपाय इत्यर्थः ।

विपत्ति आजायगी ।

सहचरीके दुःखसे दुःखिनी होकर प्रेममें पगी दो हंसियाँ रोरोकर सरोवरमें तकलीफ उठा रही हैं ॥ ३ ॥

सहजन्या—सखि, क्या समागमका कोई उपाय है ?

चित्रलेखा—गौरीचरणरागसंभव संगमनीय मणिको छोड़कर संगमका कौन उपाय है ?

सहजन्या—सखि न तादृशा आकृतिविशेषाश्चिरं दुःखभागिनो भवन्ति । अवश्यं किमप्यनुग्रहनिमित्तं भूयोऽपि समागमकारणं भविष्यति । तदेहि । उदयोन्मुखस्य भगवतः सूर्यस्योपस्थानं कुर्वः । (सहि ण तारिसा आकिदिविसेसा चिरं दुक्खभाइणो होन्ति । अवस्सं किंपि अणुग्गहणिमित्तं भूओवि समाअमकारणं हविस्सदि । ता एहि । उदअम्मुहस्स भअवदो सुज्जस्स उवट्ठाणं करेम्ह)

(अनन्तरे खण्डधारा)

चिन्तादूनमानसा सहचरीदर्शनलालसा ।
विकसितकमलमनोहरे विहरति हंसी सरोवरे ॥ ४ ॥

(चिन्तादुम्मिअमाणिसिआ सहअरीदंसणलालसिआ ।
विअसिअकमलमणोहरए विहरइ हंसी सरवरए ॥ ४ ॥)

(इति निष्क्रान्ते)

तादृशाः = पुरूरवःसदृशाः । आकृतिविशेषाः = विशिष्टाः पुरुषाः । चिरम् = बहुकालपर्यन्तम् । अनुग्रहनिमित्तम् = अनुग्रहः कृपा निमित्तं यस्य तत् कृपाजनितम् इत्यर्थः । अत्रावश्यं समागमो भविष्यतीत्यादिनोर्वशीसमागमस्यावश्यं भाविता सूचनान्नियतासिर्नाम चतुर्थावस्था सूचितेति बोध्यम् ।

खण्डधारा = खण्डधाराख्यो गीति विशेषः, तल्लक्षणं यथा—यद्गीतं गुणचर्या च रागेण क्रीडनेन च । तालेन सा खण्डधारा यष्टिकेन प्रकाशिता ॥

चिन्तादूनमानसेति । चिन्तादूनमानसा चिन्तया प्रियसखीविरहकृतया दूनम् परितप्तम् मानसं यस्याः सा तादृशी सहचरीदर्शनलालसा सखीं दिदृक्षुः हंसी विकसितकमलमनोहरे स्मेरसरोरुहमनोज्ञे सरोवरे सरसि विहरति भ्रमति । अत्र हस्यपदेशेन चित्रलेखया स्वावस्था निवेदिता ॥ ४ ॥

सहजन्या—सखी, उस तरहके महानुभाव अधिक समय तक दुःखमें नहीं रहा करते । अवश्य कोई न कोई मिलानेका कारण निकल आवेगा । चलो, उदयोन्मुख सूर्यका उपस्थान करें ।

चिन्तासे दुःखित मनवाली और सहचरीके दर्शनोंकी इच्छावाली हंसी फूले हुए कमलोंसे मनोहर सरोवरमें इधर उधर घूम रही है ॥ ४ ॥

(दोनों जाती हैं)

प्रवेशकः ।

(नेपथ्ये पुरूरवसः प्रावेशिक्याक्षिप्तिका)

गहनं गजेन्द्रनाथः प्रियाविरहोन्मादप्रकटितविकारः ।
विशति तरुकुसुमकिसलयभूषितनिजदेहप्राग्भारः ॥ ५ ॥

(गहणं गइन्दणाहो पिअविरहुम्माअपअडिअविआरो ।
विसई तरुकुसुमकिसलअभूसिअणिअदेहपब्भारो ॥ ५ ॥)

(ततः प्रविशत्युन्मत्तवेषो राजा)

राजा—आः दुरात्मन् रक्षस्तिष्ठ तिष्ठ । क्व मे प्रियतमामादाय गच्छसि । हन्त शैलशिखराद्गगनमुत्पत्य बाणैर्मामभिवर्षति ।

(लोष्टं गृहीत्वा हन्तुं धावन् । अनन्तरे द्विपदिकया दिशोऽवलोक्य)

गहनमिति । प्रियाविरहोन्मादप्रकटितविकारः प्रियतमावियोगाविष्कृतचित्तविभ्रमः तरुकुसुमकिसलयभूषितनिजदेहप्राग्भारः वृक्षाणां पुष्पैः पत्रैश्च निजदेहाभोगमलङ्कुर्वाणः गजेन्द्रनाथः करिवरः गहनं काननं विशति प्रविशति । अत्र गजान्योक्त्योर्वशीविरहकातरस्य सञ्जातोन्मादावस्थस्य च पुरूरवसो रङ्गभूमौ प्रवेश उक्तः ॥ ५ ॥

उन्मत्तवेषः = उन्मत्तस्य उन्मादिन इव वेषः परिधानादिर्यस्येति विग्रहः ।

शैलशिखरात् = पर्वतशृङ्गात् । अत्र राज्ञो मेघे राक्षसबुद्धिर्धारासु च बाणबुद्धिर्विरहोन्मादकृता, तदाधारा चेयमुक्तिः ।

लोष्टम् = मृत्पिण्डम् । एतेनोन्मादः स्फुटीभवति ।

[प्रवेशक]

प्रियाके विरहसे प्रकट हो रहा है पागलपनका चिह्न जिसका, ऐसा गजेन्द्र पेड़ पौधेके फूल-पत्तोंसे अपनी विशाल देहको भूषित किये वनमें प्रवेश कर रहा है ॥५॥

(उन्मत्तवेषमें राजाका प्रवेश)

राजा—अरे दुष्ट राक्षस, ठहर ठहर, मेरी प्रियाको लेकर कहाँ जा रहा है ? हाय ! पहाड़परसे आकाशमें जाकर मुझपर बाण बरसा रहा है ।

(ढेला लेकर मारने दौड़ता है)

हृदयाहितप्रियादुःखः सरोवरे धुतपक्षः ।
व्याधापवल्गितनयनस्ताम्यति हंसयुवा ॥ ६ ॥
(हिअआहिअपिअदुक्खओ सरवरए धुदपक्खओ ।
वाहोवग्गिअणअणओ तम्मइ हंसजुआणओ ॥ ६ ॥)
कथं विप्रलब्धोऽस्मि (विभाव्य सकरुणम्)
नवजलधरः संनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न नाम शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरंपरा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥ ७ ॥

हृदयेति । हृदयाहितप्रियादुःखः चित्तस्थापितप्रेयसीविरहजन्यक्लेशः धुतपक्षः कम्पितपक्षः व्याधापवल्गितनयनः व्याधत्रासितदृष्टिः (पक्षे बाष्परुद्धनयनः) हंसयुवा ताम्यति दुःखायते । अत्र राजपक्षे धुतपक्षः-कम्पितपक्षः इत्यस्यासहाय इत्यर्थः करणीयः । अन्यत्सुयोजम् । अत्र हंसान्यापदेशेन राज्ञा स्वदशातिरेक एवाभिहितो बोध्यः ॥ ६ ॥

नवजलधर इति । अयम् सन्नद्धः युद्धाय कृतसन्नाहः नवः सद्यःसंभृतसलिलः जलधरः मेघः, दृप्तनिशाचरः अतिगर्वितराक्षसः न । भवतीति शेषः । इदम् यत्पुरतो दृश्यते तत् दूराकृष्टम् दूरं नमितम् सुरधनुः इन्द्रधनुः, तस्य निशाचरस्य शरासनम् धनुः न नाम । नामेति वितर्के । अयम् सद्योऽनुभूयमानः पटुः तीव्रः धारासारः वर्षप्रसरः (एव) (तस्य) बाणपरम्परा शरावली न । (इयमपि पुरोदीप्यमाना) कनकनिकषस्निग्धा स्वर्णमयकषणरेखा रुचिरा विद्युत् तडिदेव, मम प्रियोर्वशी न । अत्र वाक्यचतुष्टयेऽपि प्रथमं भ्रमः, पश्चाच्च विशेषदर्शनात् तन्निरासः,

---

हृदयमें प्यारीकी जुदाईका दुःख लिये, पङ्ख कंपाता हुआ, व्याध द्वारा त्रासित दृष्टि युवा हंस सरोवरमें छटपट कर रहा है ॥ ६ ॥

(देखकर)

यह उमड़ा हुआ मेघ है, क्रूरराक्षस नहीं है, यह भी इन्द्रधनुष है, तना हुआ उसका शरासन नहीं, यह भी पानीकी झड़ी लग रही है, बाण परम्परा नहीं है, और यह कसौटीपर कसे गये सोनेकी लीकके समान दीखनेवाली बिजली है, मेरी प्यारी उर्वशी नहीं है ॥ ७ ॥

(इति मूर्च्छितः पतति । पुनर्द्विपदिकयोत्थाय निःश्वस्य)

मया ज्ञातं मृगलोचनां नशाचरः कोऽपि हरति ।
यावन्नु नवतडिच्छ्यामलो धाराधरो वर्षति ॥ ८ ॥

(मइ जाणिअ मिअलोअणि णिसिअरु कोइ हरेइ ।
जाव णु णवतडिसामलि धाराहरु वीरसेइ ॥ ८ ॥)

(इति सकरुणं विचिन्त्य)

क नु खलु रम्भोरूर्गता स्यात् ?
तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति

स एव च चमत्कारकारी । इहाविमृष्टविधेयांशत्वं न दोषः, नञोऽर्थस्याभावस्य प्राधान्यात् । स्पष्टमन्यत् । हरिणी वृत्तम् , तल्लक्षणं यथा—'न समरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति ॥ ७ ॥

मयेति । यावत् नवतडिद् अचिरोदितविद्युत्कृतः श्यामलः कृष्णवर्णः धाराधरः मेघः वर्षति (तावत्) कोपि निशाचरः राक्षसः मृगलोचनाम् उर्वशीं हरिणाक्षीम् हरति इति मया ज्ञातम् नु । अत्र मेघे श्यामलत्वं राक्षसत्वोपपत्तये 'नवतडित्' इति च ह्रियमाणमृगलोचनासौन्दर्यद्योतनाय । यावन्मेघो वृष्टिं न प्रारभत केवलमाटोपमेवाकुरुत, तावत्तस्य श्यामता नवतडित्सङ्गमश्चापहत्तु राक्षसस्य श्यामत्वं सुवर्णवर्णप्रेयसीशरीरसम्पर्कं च प्रत्याय्य मामवञ्चयत् , वर्षणानन्तरं तु मेघोऽयमिति मम बुद्धिरजायतेति भावः ॥ ८ ॥

रम्भोरूः = रम्भे कदलीस्तम्भाविव वृत्तौ सरलौ च ऊरू यस्याः सा तादृशी । 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' इत्यूङ् प्रत्ययः ।

तिष्ठेदिति । सा उर्वशी कोपवशात् क्रोधबलात् प्रभावपिहिता अन्तर्धानविद्यया देवशक्त्या वा पिहिता छन्ना सती (अत्रैव) तिष्ठेत् , (एष वितर्कः) (एतदुत्तरं 'नैतद्युक्तं—यतः' इति पूरणीयम्) सा उर्वशी दीर्घम् चिरकालपर्यन्तम् न कुप्यति

(मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है)

यह नई बिजलीवाला काला मेघ बरस रहा है, मैंने समझा कि हमारी मृगलोचनाको कोई निशाचर हरकर लिये जा रहा है ॥ ८ ॥

(सोचकर) कदलीवृक्षके समान जंघावाली वह जा कहाँ सकती है ?

क्रोधवश प्रभावके बलसे कहीं छिपी हो, (ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि)

स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमदर्शनं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥ ९ ॥

(इति मूर्च्छितः पतति)

(संज्ञां लब्ध्वा दिशोऽवलोक्य । सनिःश्वासम्)

अये परावृत्तभागधेयानां दुःखं दुःखानुबन्धि । कुतः—

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।

कोपवती तिष्ठति । स्वर्गाय स्वर्गं गन्तुम् उत्पतिता ऊर्ध्वगमनानुकूलव्यापारवती भवेत् (इतः परमपि 'नैतदपि युक्तं—यतः' इति योजनीयम्) अस्याः उर्वश्याः मनः पुनः मयि मद्विषये भावार्द्रम् स्नेहसरसम् । मे मम पुरोवर्त्तिनीम् अग्रतः स्थिताम् तां प्रियामुर्वशीम् हर्त्तुम् अपहर्त्तुम् विबुधानाम् देवानाम् द्विषः शत्रवः असुराः अपि न शक्ताः समर्थाः (किमुतान्ये) सा च अत्यन्तम् अतिशयेन नयनयोः अगोचरम् अविषयताम् प्राप्तेति कोऽयं विधिः प्रकारो वा दैवम् वर्त्तत इति शेषः । चिरकोपनास्वाभावेन तस्याः प्रभावपिहितत्वं मयि स्नेहसरसस्वान्तत्वेन च स्वर्गायोत्पतनं च न संभाव्यते, मत्पुरतः स्थितायाश्च तस्या हरणेऽसुरा अप्यशक्ता इति तत्कृतहरणद्वारकादर्शनस्यापि नास्ति संभावना, न दृश्यते च सा तदयं विषमः प्रकार इति भावः । स्वर्गायेत्यत्र 'तुमर्थाच्च भाववचनादि'ति चतुर्थीति कालेमहाशयस्तदयुक्तम्—स्वर्गशब्दस्य भाववाचकत्वाभावात् । अतश्च—'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इति सूत्रेण चतुर्थी ज्ञेया । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ९ ॥

अये, इति व्यञ्जकम् । परावृत्तभागधेयानाम् = विपरीतभाग्यानाम् । दुःखानुबन्धि = दुःखान्तरसहचरितम् । भाग्यहीनानामेका विपद्विपदन्तरानुबन्धवती भवत्येवेति भावः ।

अयमिति । अयम् प्रतिक्षणं मर्म व्यथयन् तया मे मम प्रिययोर्वश्या सुदुःसहः

उसका क्रोध देरतक नहीं ठहरता । स्वर्ग चली गई हो (ऐसी बात भी नहीं हो सकती, क्योंकि) उसका हृदय मुझपर अनुरक्त है । मेरे सामनेमें उसे दानव गण हरकर भी नहीं ले जासकते हैं, फिर भी वह आंखोंके सामनेसे एकदम हट गई, न जाने भाग्य कैसा है ? ॥ ९ ॥ (मूर्छित होकर गिर पड़ता है)

(फिर होशमें आकर चारो ओर ताककर और सांस लेकर) जिनका भाग्य खराब होजाता है उनके एक दुःखमें दूसरा दुःख लगा रहता है, क्योंकि—इधर

नवधारिवरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपर्द्धिरम्यैः ॥ १० ॥

(अनन्तरे चर्चरी)

जलंधर संहरात्र कोपमाज्ञप्तः
अविरलधारासारदिशामुखकान्तः ।
ए अहं पृथ्वीं भ्रमन्यदि प्रियां प्रेक्षिष्ये
तदा यद्यत्करिष्यसि तत्तत्सहिष्ये ॥ ११ ॥

(जलहर संहर एहु कोपमि आढत्तओ
अविरलधारासारदिशामुहकंतओ ।
ए मइं पुहविं भमन्ते जइ पिअं पेक्खिहिमि
तच्छे जं जु करीहसि तं तु सहीहिमि ॥ ११ ॥)

सुतरां सोढुमशक्यः वियोगः विरहः एकपदे सद्यः उपनतः उपस्थितः, 'तत्समैकपदे तुल्ये सद्यः सपदि च स्मृतम्' इति हलायुधः । नववारिधरोदयात् नवीनघनसंभ्रमात् अहोभिः दिवसैः निरातपर्द्धिरम्यैः रविकरसंपदभावरमणीयैः भवितव्यम् भूतञ्च । असह्यः प्रियाविरहो वर्षासमयश्च सममेवोपनत इति विषमो मम दैवविपर्यास इति भावः ॥ अत्र भवितव्यमित्यस्य भूतमित्यर्थ इत्यवाचकमिदम् । समुच्चयोऽलङ्कारः । मालभारिणी वृत्तम् ॥ १० ॥

चर्चरी = तत्संज्ञो गीतिविशेषः, तदुक्तम्—'द्रुतमध्यलयं समाश्रिता पठतिप्रेमभरान्नटी यदि । प्रतिमण्ठकरामकेन वा द्रुतमध्या प्रथमा हि चर्चरी' इति । 'सोमो वा प्रतिमण्ठकः । लघ्वादितालो लोकेऽसौ रास इत्यभिधीयते' इति ॥

जलधरेति । हे जलधर, मेघ, आज्ञप्तः मया आदिष्टः त्वं मेघः अविरलः सन्ततप्रवृत्तः यः धारासारः वर्षः यत्र तादृशं यत् दिशामुखम् दिगवकाशस्तत्र कान्तः सततजायमानवृष्टिदिगवकाशे रमणीयवदवभासमानः (त्वम्) अत्र मरुलक्षणे जने कोपम् क्रोधम् संहर संवृणु । ए इति संबोधने । पृथ्वीम् भ्रमन् पर्यटन् अहम्

हमको प्रेयसीका वियोग प्राप्त हुआ जो मेरे लिये अति असह्य है, और इधर मेघका समय आगया जिसमें धूपरहित होनेसे दिन रमणीय हुआ करते हैं ॥ १० ॥

मेघ, इसपर किये गये क्रोधको संभालो, मैं आज्ञा देता हूँ । अनवरत वृष्टिसे दिशामुखको रमणीय बनाओ, आओ पृथ्वीपर उतरो, अगर घूमते घूमते कहीं प्यारीको पागया तो जो जो उत्पात करोगे सहलूंगा ॥ ११ ॥

(विहस्य) मुधैव खलु मया मनसः परितापवृद्धिरुपेक्ष्यते । यथा मुनयोऽपि व्याहरन्ति 'राजा कालस्य कारणम्' इति । तत्किमहं जलदसमयं न प्रत्यादिशामि ।

(अनन्तरे चर्चरी)

गन्धोन्मादितमधुकरगीतै-
र्वाद्यमानैः परभृततूर्यैः ।
प्रसृतपवनोद्वेल्लितवल्लवनिकरः
सुललितविविधप्रकारैर्नृत्यति कल्पतरुः ॥ १२ ॥

यदि प्रियाम् उर्वशीम् प्रक्षिप्ये द्रक्ष्यामि तदा तद्दर्शनानन्तरम् यद्यत् करिष्यसि तत्तत् सहिष्ये मर्षयिष्यामि । प्रियाविरहिणी मयि कोपं मा कुरु, वर्षासारं संहरेति त्वामहमाज्ञापयामि, यदि तव वर्षणेच्छा तथा मयि प्रियासङ्गते यावत्सामर्थ्यं वृष्टिं कुर्या नाहं तदा किमपि कथयिष्यामीति भावः ॥ ११ ॥

परितापवृद्धिः = दुःखदीर्घता । उपेक्ष्यते = त्यज्यते । मदीयेच्छामात्रसाध्योऽस्यास्तापवृद्धेर्निग्रहस्तदह वृथैव न निगृह्णामितामिति भावः । 'राजा कालस्य कारणम्' इत्यस्य राजा यादृश कालमिच्छति तादृश एवासावुपतिष्ठते इत्यर्थः । इदं च महाभारते—'कालो वा कारण राज्ञो राजा वा कालकारणम् । इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम्' इति । राजा कालस्य कारणमिति मुन्युक्तदिशा ममादेशादेवायं प्रावृट्समयः प्रवृत्तस्तमहं निवारयितुमपि क्षम इति भावः । प्रत्यादिशामि=निषेधामि ।

गन्धोन्मादितेति । गन्धेन मधुमासकुसुमसमृद्धिसौरभेण उन्मादिताः मत्ताः ये मधुकराः भ्रमराः तेषां गीतैः सङ्गीतैः (उपलक्षितः) वाद्यमानैः आहन्यमानैः परभृततूर्यैः कोकिलरवरूपवाद्यैः (उपलक्षितश्च) प्रसृतपवनोद्वेल्लितपल्लवनिकरः वहमानपवनचञ्चलनवपत्रः कल्पतरुः सुललितविविधप्रकारैः नृत्यति । नर्त्तकोऽत्र कल्पतरुः, भ्रमरगुञ्जितमत्र तन्नृत्यंऽपेक्षितं गीतम्, कोकिलानां रवो वाद्यम्, वायुस-

---

(हँसकर) व्यर्थ ही मैं मनस्तापकी उपेक्षा कर रहा हूँ । जैसा कि मुनियोंने कहा है— राजा ही कालका कारण है । फिर क्यों न मैं इस वरसातको रोक दूं ?

मनोहर विविध प्रकारसे कल्पवृक्ष नृत्यकर रहा है, पुष्पगन्धसे बौराये भ्रमर गीत मारहें हैं, कोयलें क्या बोल रहा हैं—बाजे बज रहे हैं, और हवामें उसके पत्ते चल रहे हैं (मानों उसके हाथ पैर चल रहे हों) ॥ १२ ॥

(गन्धुम्माइअमहुअरगीएहिं
वज्जं तेहिं परहुअतूरेहिं ।
पसरिअपवणुव्वेल्लिअपल्लवणिअरु
सुललिअविविहपारेहिं णच्चइ कप्पअरु ॥ १२ ॥)

(इति नर्तित्वा)

अथवा न प्रत्यादिशामि यत्प्रावृषेण्यैरेव लिङ्गैर्मम राजोपचारः सम्प्रति ! कथमिव—

विद्युल्लेखाकनकरुचिरं श्रीवितानं ममाभ्रं
व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मञ्जरीचामराणि ।
घर्मच्छेदात्पटुतरगिरो बन्दिनो नीलकण्ठा
धारासारोपनयनपरा नैगमाः सानुमन्तः ॥ १३ ॥

स्खलितपल्लवकम्प एव हस्ततालदानम्, तदेवमुपस्थिता सर्वापि नृत्यसामग्रीति बोध्यम् । सर्वमिदं विप्रलम्भशृङ्गार पोषकम् ॥ १२ ॥

प्रावृषेण्यैः = वर्षाकालिकैः, प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः, 'प्रावृष एण्यः' इत्येण्यप्रत्ययः । लिङ्गैः = चिह्नैः । राजोपचारः = राजोपकरणम् । अधुना मेघसमयोपकल्पितैरेव तैस्तैः पदार्थैर्मम वितानचामरवन्दिनैगमाद्युपकरणजातं प्रतिनिधीयत इति भावः । उक्तमर्थमुपपादयिष्यति—विद्युल्लेखेत्यादिना श्लोकेन ।

विद्युदिति । विद्युल्लेखा चपला सैव कनकम् सुवर्णम् तेन रुचिरम् शोभायुतम् अभ्रम् मेघः मम श्रीवितानम् श्रीयुतोल्लोचः । निचुलतरुभिः वेत्रवृक्षैः (मम चामरवाहकैः) मञ्जरीचामराणि व्याधूयन्ते वीज्यन्ते । घर्मच्छेदात् ग्रीष्मापायात् पटुतरगिरः तीक्ष्णीभूतकेकारवाः नीलकण्ठाः मयूराः एव (मम) वन्दिनः स्तुतिपाठकाः । धारासारस्य धारावर्षस्य उपनयनम् प्रापणम् तत्पराः सानुमन्तः पर्वताः

(नाचकर)

अथवा—इस समय तो मेरे राजचिह्नोंको बरसात ही प्रस्तुत कर रही है । क्योंकि—

बिजलीरूपी सोनेसे खचित मेघ मेरा चंदवा बना है, वेत्रवृक्ष अपनी मञ्जरी रूप चामर झला करते हैं, गर्मी घट जानेसे मधुरशब्द मयूर बन्दीका काम देते हैं, और धारासाररूप धन देनेवाले मेघ व्यापारी बन रहे हैं ॥ १३ ॥

(पुनश्चर्चरी) भवतु किमेवं परिच्छदश्लाघया । यावदस्मिन्कानने तां प्रियामन्वेषयामि । (पाठस्यान्ते भिन्नकः)

दयितारहितोऽधिकं दुःखितो विरहानुगतः परिमन्थरः ।
गिरिकानने कुसुमोज्ज्वले गजयूथपतिस्तथा क्षीणगतिः ॥ १४ ॥

(दइआरहिओ अहिअं दुहिओ विरहाणुगओ परिमन्थरओ ।
गिरिकाणणए कुसुमुज्जलए गअजूहवई तह क्षीणगई ॥ १४ ॥)

नैगमाः वणिजः, तेऽपि धारारूपं यत्सारं धनं तस्योपनयनपरा भवन्ति । अयमाशयः—विद्युत्कनकरेखाशोभि यदभ्रं तदेवाधुना मम स्वर्णखचितं वितानम्, निचुलतरुभिर्मञ्जर्यो यद्व्याधूयन्ते तन्मम चामरव्यजनम्, ग्रीष्मापाये वर्षाप्रवेशवशाद्गतकण्ठाः कलापिनो मम वन्दिनः, पर्वताश्च यद्धारासारोपहारपरास्तन्मन्ये मम वणिजो धनान्युपहरन्ति, तदधुना राज्याद्दूरापेतस्यापि मम राजपरिच्छदपूर्तिः प्रावृषैव सम्पाद्यत इति । 'पटुस्तीक्ष्णे स्फुटे दक्षे' इति रुद्रः । 'आसारस्तु प्रसरणे धारावृष्टौ सुहृद्बले' इति 'नैगमः क्षुरवेदान्तवणिग्वाणिज्यनागरे' इति च विश्वलोचनः । 'सारोबले स्थिरांशे च मज्जि पुंसि जले धने' इति मेदिनी । मन्दाक्रान्ता वृत्तं, लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ १३ ॥

परिच्छदश्लाघया = उपकरणप्रशंसया । कानने = वने ।

पाठस्यान्ते भिन्नकः = 'पाठो वाद्याक्षरोत्करः' इति भरतः । भिन्नको रागविशेषः, तथाचोक्तं माघे 'भिन्नकीकृत्यषड्जम्' इति । तल्लक्षणमुक्तं यथा—'षड्जमध्यमिकोत्पन्नो भिन्नको मध्यमो बहुः । षड्जग्रहांशे मन्यासो मद्रसोऽन्तोऽथवा भवेत् ॥ षड्जादिमूर्च्छनः शुद्धः संचारिणिसकाकलिः । प्रसन्नादियुतो दानवीरे रौद्रेऽद्भुते रसे । दिनस्य पश्चिमे यामे प्रयोज्यः सामदैवतः' ॥ इति ॥

दयितेति दयितया प्राणप्रियया रहितः वियुक्तः, अतः अधिकम् दुःखितः, पुनरपि विरहानुगतः अतः परिमन्थरः स्थाणुवद्गतिः क्षीणगतिः कदाचिदुत्साहवशेनचलन्नपि मन्दगमनः गजयूथपतिः प्रधानद्विपः तथा कुसुमोज्ज्वले पुष्पावभासितेगिरिकानने पर्वतपरिसरवर्त्तिवने । (भ्रमतीति शेषोऽध्याहार्यः) अत्र गजान्यापदेशेन स्वावस्थामेवाह राजा । गजयूथपतिरिव लोकयतोऽहं स्वां प्रियामपि रक्षितुं न शक्तः, धिङ्मे यूथपतित्वं धिक् च मामिति व्यङ्ग्यम् ॥ १४ ॥

अस्तु, अपने सम्मानकी प्रशंसासे क्या लाभ ? तबतक इस जंगलमें अपनी प्रियाको ढूंढूं ।

स्त्रीसे विरहित अधिक दुःखी, विरहसे पीडित, थका हुआ गजपति फूलोंसे चमकते हुए गिरिकाननमें मन्दगति हो रहा है ॥ १४ ॥

(अनन्तरे द्विपदिकया परिक्रम्यालोक्य च सहर्षम्)

हन्त हन्त ! व्यवसितस्य मे संदीपनमिव संवृत्तम् । कुतः—

आरक्तराजिभिरियं कुसुमैर्नवकन्दली सलिलगर्भैः ।
कोपादन्तर्बाष्पे स्मरयति मां लोचने तस्याः ॥ १५ ॥

इतो गतेति कथं नु तत्रभवती मया सूचयितव्या । यतः—

पद्भ्यां स्पृशेद्वसुमतीं यति सा सुगात्री
मेघाभिवृष्टसिकतासु घनस्थलीषु ।

व्यवसितस्य = प्रियामन्वेषयितुमुद्युक्तस्य । सन्दीपनम् = विरहानलसन्धुक्षणम् । संवृत्तम् = जातम् । सादृश्यदर्शनादुद्बुद्धसंस्कारस्य मम प्रियाविरहो नितान्तासह्यो भवतीत्यर्थः ।

आरक्तेति । इयम् नवकन्दली भूकदली आरक्तराजिभिः ईषद्रक्तरेखाशालिभिः सलिलगर्भैः जलयुक्तमध्यभागैः कुसुमैः कोपात् क्रोधोदयात् अन्तर्बाष्पे तस्या उर्वश्याः लोचने नयने मां स्मरयति उत्कण्ठापूर्वकं ध्यानाध्वनि नयतीत्यर्थः । अत्र रक्तरेखापूर्णस्यान्तर्गतसलिलस्य च भूकदलीकुसुमस्य दर्शनात् कोपवशाद्रक्तस्य बाष्पपूर्णस्य च प्रियालोचनस्य स्मरणं जायमानं राज्ञः क्लेशं समेधयतीति प्रघट्टकार्थः । 'द्रोणपर्णी स्निग्धकन्दा कन्दली भूकदल्यपि' इति शब्दार्णवः । आर्याभेदो वृत्तम् ॥ १५ ॥

मया सूचयितव्या = ज्ञातव्या । तस्या इतः प्रस्थानस्य सूचकं किमप्यनासाद्य तद्गमनानुमानमयुक्तमित्यर्थः । तदेवोपपादयितुं वक्ष्यति—पद्भ्यामिति ।

पद्भ्यां स्पृशेदिति । यदि सा सुगात्री अनवद्यसर्वशरीरावयवा उर्वशी पद्भ्याम् चरणाभ्याम् वसुमतीं स्पृशेत् आश्रयेत् ततः तदा मेघाभिवृष्टसिकतासु धाराधर-

---

(देखकर) अहा ! मैंने उद्योग किया तो प्रोत्साहन भी मिलने लगा । क्योंकि—

सलिलपूर्ण तथा रक्तवर्ण फूलोंसे युक्त यह कन्दली वृक्ष क्रोधसे रक्तवर्ण तथा सबाष्प उर्वशीकी आंखोंको याद दिलाते हैं ॥ १५ ॥

यहांसे दूसरी जगह गई इसको मैं कैसे समझूं ? क्योंकि—

मेघसे भींगी हुई सिकतामय भूमि पर अगर वह सुन्दरी चरण रखती तो

पश्चान्नता गुरुनितम्बतया ततोऽस्या
दृश्येत चारुपदपङ्क्तिरलक्तकाङ्का ॥ १६ ॥

(परिक्रम्यावलोक्य च सहर्षम्)

उपलब्धमुपलक्षणं येन तस्याः कोपनाया मार्गोऽनुमीयते ।
हृतौष्ठरागैर्नयनोदबिन्दुभिर्निमग्ननाभेर्निपतद्भिरङ्कितम् ।
च्युतं रुषा भिन्नगतेरसंशयं शुकोदरश्याममिदं स्तनांशुकम् ॥१७॥

सिक्तवालुकासु वनस्थलीषु अस्या उर्वश्याः गुरुनितम्बतया बृहच्छ्रोणितया पश्चान्नता पश्चाद्भागे निम्ना अलक्तकाङ्का लाक्षारागचिह्ना च चारुपदपङ्क्तिः सुन्दरचरणचिह्नपरम्परादृश्येत । यत्र सा दृश्यतेऽतस्तस्या हृतो गमनस्यानुमानमयुक्तमिति तात्पर्यम् । अत्र सुगात्रीपदेन गात्रावच्छेदेन सौन्दर्यम् , स्पृशेदिति मन्दपदन्यासेऽपि चिह्ननिम्नताप्रतिपत्त्या नितम्बगौरवातिशयः, अभिवृष्टपदमलक्तकाङ्कनोपपादनाय, स्थलीपदेन जनसंचारवैरल्यं तेन च चरणान्तरनिपातकृतचिह्नलोपशङ्कानिरासः, सिकताशब्देन यथागौरवं निम्नतापत्तियोग्यतेत्याद्यर्था आकलनीयाः । 'पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः' इत्यमरः । 'पदं शब्दे च वाक्ये च पदतच्चिह्नयोरपि' इति विश्वः । वसन्ततिलकं वृत्तम् । लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ १६ ॥

उपलक्षणम् = प्रत्यायकं चिह्नम् । कोपनायाः = क्रोधवत्याः मार्गः = पन्थाः । अयमाशयः—तादृशमेकं चिह्नं मया प्राप्तं येन तस्याः पन्था मया ज्ञातुं शक्येतेति । अयमपि तस्य भ्रम एवेति त्वरितमेव स्फुटीभविष्यति ॥

हृतौष्ठेति । इदम् पुरोवर्त्ति असंशयम् निश्चयेन निमग्ननाभेः निम्नतया गभीरनाभेः रुषा क्रोधेन भिन्नगतेः अस्वाभाविकगमनायाः विसंष्ठुलचरणसंचारायाः इत्यर्थः

महावरके चिह्नवाले उसके पैरनिखर आते, जिसमें पीछे की ओर कुछ अधिक गहरापन होता, क्योंकि उसके नितम्बका भार उधर अधिक पड़ता है ॥ १६ ॥

(चलकर तथा देखकर हर्षसे)

मैंने कुछ निशान पालिये हैं जिनसे उस रूठी हुई प्रेयसीके मार्गका ज्ञान होता है ।

गभीर नाभिवाली उस प्रेयसीके अश्रुबिन्दु ओष्ठरागको लिये हुए जिसपर पड़ा है ऐसा यह मेरी प्रेयसीका स्तनावरण वस्त्र है, जो गिरा पड़ा है, क्योंकि क्रोधवश उसकी गति भिन्नप्रकारकी हो गई रही होगी । यह स्तनावरण शुकके वर्णका है ॥ १७ ॥

(विभाव्य) कथं सेन्द्रगोपं नवशाद्वलमिदम् । कुतो नु खलु निर्जने वने प्रियाप्रवृत्तिरवगमयितव्या । (दृष्ट्वा) अये आसारोच्छ्वसितशैलेयस्थलीपाषाणमारूढः—

आलोकयति पयोदान्प्रबलपुरोवाततादितशिखण्डः ।
केकागर्भेण शिखी दूरोन्नमितेन कण्ठेन ॥ १८ ॥

(तस्याः उर्वश्याः) निपतद्भिः क्षरद्भिः अत एव च हृतोष्ठरागैः अपहृताधररागैः नयनोदबिन्दुभिः अश्रुजलकणैः अङ्कितम् चिह्नितम् च्युतम् पतितम् शुकोदरश्यामम् शुकानामुदरमिव श्यामलवर्णम् स्तनांशुकम् कुचपिधानवस्त्रम् अस्तीति शेषः । अयमर्थः—कोपनोर्वशी पथैतेन प्रयाता, तस्याः स्तनांशुकमत्र पथि पतितमत्र न संशयः । अत्र स्तनांशुके नयनबिन्दुभिर्ह्रियमाणमधरारुणत्वं सङ्क्रान्तं विद्यते, क्रोधवशाच्चपलचरणन्यासं गच्छन्त्या च तया नैतत्पतनं ज्ञातम् । निम्ननाभितया कटिप्रदेशस्य क्षीणता प्रतीयते, तया च प्रतीयमानया पततः स्तनांशुकस्याधोदेशे क्वचनशरीरे संबन्धाभावः तेन च तत्पतनाज्ञानस्यौचित्यम् , शुकादेरश्यामत्वविशेषणेन नेत्राकर्षकता च तस्य प्रत्याय्यते । वंशस्थं वृत्तम् ॥ १७ ॥

सेन्द्रगोपम् = इन्द्रगोपो वर्षासंभवो रक्तवर्णः कीटविशेषः । तेन सहितं सेन्द्रगोपम् । नवशाद्वलम् = शाद्वलं शादहरिते इत्यमरणे हरितवर्णो घासः । निर्जने = एकान्ते । प्रियाप्रवृत्तिः = उर्वशीवृत्तान्तः । अवगमयितव्या = ज्ञातव्या । आसारोच्छ्वसितशैलेयस्थलीपाषाणम् = आसरेण धारापातेन उच्छ्वसिता धृतोच्छ्वासा (प्रसन्ना—प्रसादश्चात्र शैलेयाचितायाः स्थल्यानिदाघकृतमलिनताया धारापातेनापनयने स्फीततापाप्तिरेव) शैलेयस्थली शिलाजतुचिताभूमिः तत्र पाषाणः पर्वतशिला, तम् । आरूढः = आक्रामन् । इदं शिखिनो विशेषणम् ।

आलोकयतीति । प्रबलपुरोवाततादितशिखण्डः प्रबलेन पुरोवातेन पौरस्त्यवायुना ताडितः आहतः शिखण्डः बर्हः यस्य तादृशः शिखी मयूरः दूरोन्नमितेन अत्युच्छ्रितेन केकागर्भेण अन्तर्गतकेकाध्वनिना कण्ठेन आलोकयति पश्यति । 'प्रबल-

(विचारकर) क्या यह इन्द्रगोपोंसे भरी हरी घासे हैं ? फिर इस निर्जन वनमें प्रेयसीका पता कहाँ पावें ? (देखकर) अहा ! वर्षासे प्रभावित शिलाजतुकी शिलापर चढ़कर—

यह मयूर, जिसके पङ्ख जोरदार पुरवैया हवासे आहत हो रहे हैं, केकायुक्त अपने गलेको ऊंचा उठाकर मेघोंको निहार रहा है ॥ १८ ॥

यावदेनं पृच्छामि । (उपेत्य)

(अनन्तरे खण्डकः)

संप्राप्तखेदस्त्वरितं परवारणः ।
प्रियतमादर्शनलालसो गजवरो विस्मितमानसः ॥ १९ ॥

(संपत्तविसूरणओ तुरिअं परवारणओ ।
पिअतमदंसणलालसओ गअवरु विम्हिअमाणसओ ॥ १९ ॥)

(तेना खण्डकान्तरे चर्चरी)

बर्हिण परमित्यभ्यर्थये आचक्ष्व मम ताम्
अत्रारण्ये भ्रमता यदि त्वया दृष्टा सा मम कान्ता ।

पुरोवाततादितशिखण्डः एतेन बर्हाणामस्तव्यस्तता अचिरभाविता च वृष्टेः, दूरोन्नमितेनेत्यनेन शिखिहृदये धाराधरदर्शनोत्कण्ठाभूमा, केकागर्भेणेति समागच्छतः सुहृदो मेघस्य स्वागतार्थं सन्नद्धता चेत्यादि व्यङ्ग्यम् ॥ १८ ॥

खण्डकः = गीतिविशेषः तल्लक्षणं यथा—विरहव्यापृता या तु पठेद् गीतिं कुशीलवी प्राकृतेन प्रबन्धेन खण्डकः स उदाहृतः' ॥

संप्राप्तेति । संप्राप्तखेदः विषण्णचेताः त्वरितम् आशु परवारणः शत्रुनिबर्हणः प्रियतमादर्शनलालसः प्रियादर्शनोत्सुकः विस्मितमानसः उदासीनहृदयः गजवर' दृश्यत इति योजनीयम् । परवारणोऽप्यहं स्वप्रेयसीसंरक्षणेऽपि क्षमो नास्मीति खेदो व्यङ्ग्यः । अत्र गजान्यापदेशेन स्वावस्था निवेद्यते ॥ १९ ॥

तेना = इदं मङ्गलार्थकमक्षरद्वयम्, यथाह भरतमुनिः 'ओं तत्सदिति निर्देशात्त्वमस्यादिवाक्यतः । तदिति ब्रह्मतेनायं ब्रह्मणा मङ्गलात्मकः ॥ लक्षितस्तेन तेना' इति । अन्यत्रापि—'तेकारः शङ्करः प्रोक्तो नाकारश्च उमा तथा । गीतादौ तेन वक्तव्यं तेना इत्यक्षरद्वयम् ॥' इति ।

बर्हिण इति । हे बर्हिण, मयूर, यदि अत्र अरण्ये भ्रमता त्वया सा विलक्षणा मम कान्ता त्वया दृष्टा चेत् (तदा) मम मह्यम् ताम् आचक्ष्व, कुत्र सेति कथय ।

तबतक इससे पूछें ।

(समीप जाकर)

यह गजराज खेदसे भरा है, इसके हृदयमें प्रियतमाको पानेकी लालसा उमड़ रही है, इसका मन अचम्भेमें पड़ा हुआ है ॥ १९ ॥

मयूर, मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ मुझे उसका पता बतादो इस वनमें घूमते

निशामय मृगाङ्कसदृशेन वदनेन हंसगतिः
अनेन चिह्नेन ज्ञास्यस्याख्यातं तव मया ॥ २० ॥

(वंहिण पै इअ अब्भत्थिअमि आअक्खहि मं ता

एत्थ अरण्णे भमन्ते जइ तुइ दिट्ठी सा महु कांता ।
णिसम्महि मिअङ्कसरिसेण वअणेण हंसगई
ए चिण्हे जाणिहिसि आअक्खिउ तुज्झ मई ॥ २० ॥)

(चर्चरिकयोपविश्य । अञ्जलिं बद्ध्वा)

नीलकण्ठ ममोत्कण्ठा वनेऽस्मिन्वनिता त्वया ।
दीर्घापाङ्गा सितापाङ्ग दृष्टा दृष्टिक्षमा भवेत् ॥ २१ ॥

अहम् त्वाम् परम् अत्यर्थम् अभ्यर्थये याचे । निशामय शृण, तदभिज्ञानं मयोच्यमानं शृणु, येन तां परिचेष्यसि । मृगाङ्कसदृशेन चन्द्रतुल्येन वदनेन (उपलक्षिता) हंसगतिः मरालगमना च सा । अनेन चिह्नेन त्वं तां ज्ञास्यति तत्त्वेनावधारयिष्यसि । मया तव तुभ्यम् (तच्चिह्नम्) आख्यातम् कथितम् । चन्द्रतुल्येन मुखेन राजहंसगत्या च सा भवता परिचेतव्या, परिज्ञानं मया ते कथितम् , तादृशी काचिद्वनिता त्वया दृष्टा चेद्वने तदा मे वदेति भावः ॥ २० ॥

चर्चरिकया = तालाविशेषेण गीतविशेषेणवा, यथोक्तम्—'विरामान्तद्रुतद्वन्द्वं लघून्यष्टौ च चर्चरी' । अञ्जलिम् = 'पताकाहस्ततलयोः संश्लेषादञ्जलिर्मतः । देवतागुरुविप्राणां नमस्कारेष्वयं क्रमात् ॥ कार्यः शिरोमुखोरःस्थो नृभिः स्त्रीभिर्यथेष्टतः' । इति परिचयोऽञ्जलेः ॥

नीलकण्ठेति । सितापाङ्ग, श्वेतनयनप्रान्त, नीलकण्ठ, मयूर, अस्मिन्वने अत्र कानने दीर्घापाङ्गा आकर्णायतदृगन्ता उत्कण्ठा उन्नतकण्ठशालिनी कम्बुग्रीवेत्यर्थः मम वनिता प्रियोर्वशी त्वया दृष्टा विलोकिता ? अस्य किमिति प्रश्नवाचकः शेषः । कथमहं तां पश्येयमिति शिखिशङ्कामङ्कुरयित्वा समाधत्ते—दृष्टिक्षमा भवेत् दर्शन-

---

समय यदि तुम उसे देखा हो । उसका मुख चन्द्रमाके सदृश तथा गमन हंसोंके गमन-सा है, इसी पहचानसे तुम उसे पहचान लोगे, मैंने तुमसे सब कह दिया ॥२०॥

(हाथ जोड़कर)

भाई नीलकण्ठ, तुमने इस वनमें कम्बुग्रीवा तथा सित नयनप्रान्तवाली हमारी प्रियतमा देखी है—जो देखनेके ही योग्य है ॥ २१ ॥

(चर्चरिकया विलोक्य) कथमदत्त्वैव प्रतिवचनं नर्तितुं प्रवृत्तः । किं नु खलु हर्षकारणमस्य । (विचिन्त्य) भवतु । विदितमेतत् ।

मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशाद्-
घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽस्य जातः ।
रतिविगलितबन्धे केशहस्ते सुकेश्याः
सति कुसुमसनाथे कं हरेदेष बर्ही ॥ २२ ॥

योग्या अतिसुन्दरी अथवा दृष्टिक्षमा नयनाभ्यां क्षमामिव वर्षन्ती भवेत् । अनेन संभाव्यते तस्यादर्शनं त्वया क्रियमाणं तदाख्याहि मे तदुदन्तमिति पूर्णवाक्यार्थः ॥ 'अपाङ्गो नयनस्यान्ते' इत्यजयः ॥ २१ ॥

अदत्त्वैव प्रतिवचनम् = मह्यमुत्तरमनाख्याय एव । नर्तितुम् = नृत्यं कर्तुम् । हर्षकारणम् = प्रमोदहेतुः, हर्षे सत्येव नृत्यप्रवृत्तेरीदृशः प्रश्नः ।

मृदुपवनेति । (अस्य शिखिनः) मृदुपवनविभिन्नः मन्दानिलविकसितः घनरुचिरकलापः मेघवत्सुन्दरः शिखण्डः, यद्वा घनः निबिडः अत एव रुचिरः कलापः, मत्प्रियायाः मम प्रेयस्याः उर्वश्याः विनाशात् तिरोभावात् निःसपत्नः प्रतिस्पर्द्धिरहितः जातः सम्पन्नः । मम प्रियायामन्तर्हितायां मयूरबर्होऽधुना सदृशान्तराभावेनासमः समजनीति भावः । सुकेश्याः चारुकचभारायाः उर्वश्याः रतिविगलितबन्धे क्रीडावसरशिथिलबन्धे कुसुमसनाथे पुष्पभूषिते केशहस्ते कचभारे सति वर्त्तमाने एष बर्ही मयूरः कं हरेत् आकर्षेत् ? न कमपीति काकुव्यङ्ग्यम् । 'रतिविगलितबन्धे' इति विस्तारशालिकलापप्रतिपक्षत्वयोग्यतासूचनाय, 'कुसुमसनाथे' इति च चन्द्रकवत्कलापजययोग्यताद्योतनाय । यदि रतिविगलितबन्धः कुसुमसनाथश्च सुकेश्याः केशभारोऽद्याभविष्यत्तदाऽयं बर्ही तत्सत्त्वे हीनवदवभासमानेन स्वकलापेन कस्य मनो रञ्जयेत् ? असति तु तदन्तार्धानेन तत्केशभारे मार्गोऽस्या-

क्या बिना उत्तर दिये ही यह नाचने लग गया ? यह इतना खुश क्यों है ? (सोचकर) अच्छा, समझ गया ।

इस मयूरका यह कलाप, जो हवाके झोंकेसे बिखर रहा है, आज हमारी प्रियतमाके अदृश्य हो जानेके कारण अप्रतिद्वन्द्वी हो रहा है । उस सुकेशीके केशपाश क्रीडाकालमें खुलकर और पुष्पयुक्त हो विशेष रमणीय अवस्थामें रहते तो यह बेचारा मृग किसे आकृष्टकर पाता ? ॥ २२ ॥

भवतु । परव्यसननिर्वृतं न खल्वेनं पृच्छामि । (परिक्रम्य) इयमातपान्तसंधुक्षितमदा जम्बूविटपमध्यास्ते परभृता । विहंगमेषु पण्डिता जातिरेषा । यावदेनामभ्यर्थये । भवति !

(अनन्तरे खुरकः)

विद्याधरकाननलीनो दुःखविनिर्गतबाष्पोत्पीडः ।

कण्टको जात इति भावः । 'कलापः संहते बर्हे' 'नाशः क्षये तिरोधाने' 'पाशः पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः कचात्परे' इति सर्वत्रामरः । अत्र विनाशशब्दस्यामङ्गलव्यञ्जकत्वादश्लीलत्वं दोषः तस्य दूषकताबीजं तु रसापकर्षकविनाशपदप्रधानार्थभूतमरणरूपार्थोपस्थितिरिति काव्यप्रकाशः । रङ्गनाथस्त्वत्रेत्थमाह—'अत्र च विनाशशब्दोऽमङ्गलव्यञ्जकत्वादश्लील इति । प्रकाशकृत्प्राकाशयदिदं पद्यं पददोषेषु । तत्र पूर्वश्लोके 'दृष्टिमेत्यत्र' जीवितसन्देहस्योक्तत्वात्कथमदस्त्वैव प्रतिवचनमित्यत्र प्रतिवचनाप्रदानपुरस्सरं जीवितसन्देहस्य तावदवस्थानादेतस्मिन्नेव च पद्ये निःसपत्नोऽस्य जात इति सिद्धवदुक्तत्वाद्राज्ञश्चोन्मादातिशयरूपप्रकृष्टतरकारणवशात् विप्रलम्भपोषकृदे वैपद्यमिति न कश्चित्तदुक्तदोषलेशावकाश इति प्रतिभाति' ॥ मालिनीवृत्तम् ॥ २२ ॥

परव्यसननिर्वृतम् = अन्यदीयविपत्त्या सुखितम् । यस्य परविपदि प्रसन्नता सोऽधमस्तेन वार्त्तालापस्यापि शास्त्रनिषिद्धत्वान्निष्फलत्वाच्चेति भावः । आतपान्तसन्धुक्षितमदा = ग्रीष्मकालावसानोद्दीपितमदा । अध्यास्ते = आश्रित्य वर्त्तते । परभृता = कोकिला । विहगेषु = पक्षिषु । पण्डिता = विदुषी । भवति—इति कोकिलासम्बोधनम् ।

खुरकः = नृत्यविशेषः, तथा चोक्तम्—'पटमञ्जरिरागसंयुतं यद् द्रुतमध्येन लयेन यत्प्रयुक्तम् । प्रतितालयुतं च नर्त्तनं तत् खुरकाख्यं मुनये शिवेन दत्तम्' ॥ 'लघुर्द्रुतद्वयं यत्र प्रतितालः प्रकीर्त्तितः ॥ खुरकाख्यो गेयविशेषो वा—यथाह भरतः—'पूर्वपूर्वाक्षरत्यागे योऽन्यो वर्णचयः स चेत् । उत्तरोत्तरसङ्घादौ खुरकः परिकीर्त्तितः' ॥

विद्याधरेति । विद्याधरस्य देवयोनिविशेषस्य कानने वने लीनः आत्मानं गोप-

---

अच्छी बात । यह दूसरेके दुःखसे प्रसन्न होनेवाला है, इससे नहीं पूछूंगा । (चलकर) बरसातके आनेसे मतवाली बनी यह कोकिला जामुनकी डालीपर बैठी है । पक्षियोंमें यह जाति पण्डित मानी गई है, तब तक इससे पूछूं,—अये !

अतिविशाल काय यह गजेन्द्र विद्याधर वनमें छिपा हुआ दुःखसे रोरोकर

दूरोत्सारितहृदयानन्दोऽम्बरमानेन भ्रमति गजेन्द्रः ॥ २३ ॥

(विज्जज्झरकाणणलीणओ दुक्खविणिग्गहबाहुपीडओ ।
दूरोसारिअहिअआणंदओ अम्बरमाणे भमइ गइन्दओ ॥ २३ ॥)

(खुरकान्ते चर्चरी)

हेल्ले हेले ।

परभृते मधुरप्रलापिनि कान्ते, नन्दनवने स्वच्छन्दं भ्रमन्ती ।
यदि परं प्रियतमा सा मम दृष्टा, तर्ह्याचक्ष्व मम परपुष्टे ॥ २४ ॥

(परहुअ महुरपलाविणि कन्ती णन्दणवण सच्छन्द भमन्ति ।
जइं पइं पिअअम सा महु दिट्ठी ता आअक्खहि महु परपुट्ठी ॥ २४ ॥)

(एतदेव नर्तित्वा वलन्तिकयोपसृत्य जानुभ्यां स्थित्वा) भवति !

यित्वा स्थितः दुःखविनिर्गतबाष्पोत्पीडः खेदप्रकाशी भवदश्रुधारः दूरोत्सारितहृदयानन्दः त्यक्तप्रमोदः अम्बरमानेन गजेन्द्रः आकाशोच्छ्रायः गजेन्द्रः करी भ्रमति । अम्बरमानेनेत्यत्रोपलक्षणे तृतीया, अम्बरमानोपलक्षितः आकाशवदुच्छ्रित इत्यर्थः । अत्रापि गजान्यापदेशेन पुरूरवाः स्वामवस्थां प्रकयति ॥ २३ ॥

हेल्ले, हेले, इदं सम्बोधनार्थकम् , आदरे द्विरुक्तिः 'हे रे' इत्यस्य मूलम् ।

परभृते इति । अयि परभृते, कोकिले, अयि मधुरप्रलापिनि, मिष्टभाषिणि, कान्ते, मनोरमे, वन्दनवने स्वच्छन्दं भ्रमन्ति स्वर्गोद्याने भ्रमणशीले, यदि मम पुरूरवसः परम् अत्यर्थम् प्रियतमा प्रेयसी उर्वशी सा त्वया दृष्टा, तर्हि अयि परपुष्टे मम आचक्ष्व कथय । परपुष्टायास्तव परोपकारः कर्त्तव्य इति बुद्ध्या मत्प्रेयसीवृत्तं ममाख्याहीति प्रार्थना । पुनरुक्तिरुन्मादावस्थाकृतत्वेन रसानुगुणेति न दोषः ॥ २४ ॥

वलन्तिका = रागविशेषः । तदुक्तं सङ्गीतरत्नाकरे—'वलन्तिका तदुपाङ्गं स्याद्विहीना मन्द्रदेवता । संन्यासांशग्रहेहायां शृङ्गारे शार्ङ्गिणोदिता' इति ।

हृदयानन्दको दूर भगाये (इस जगह) घूम रहा है ॥ २३ ॥

अरी दूसरों द्वारा पाली गई कोयल, तू बहुत खूबसूरत है, मीठी बोलती है, नन्दनवनमें स्वच्छन्द भ्रमण करती है, यदि तुमने हमारी प्रेयसीको देखा है तो मुझे बतादे ॥ २४ ॥

(आकाशकी ओर—)

त्वां कामिनो मदनदूतिमुदाहरन्ति
मानावभङ्गनिपुणं त्वममोघमस्त्रम् ।
तामानय प्रियतमां मम वा समीपं
मां वा नयाशु कलभाषिणि यत्र कान्ता ॥ २५ ॥

(वामकेन किञ्चिद्वलित्वा । आकाशे) किमाह भवती ? । कथं त्वामेवमनुरक्तं विहाय गतेति । शृणोतु भवती ।

कुपिता न तु कोपकारणं सकृदप्यात्मगतं स्मराम्यहम् ।

त्वां कामिन इति । कामिनः कामपीडिताजनाः त्वाम् कोकिलाम् मदनदूतिम् स्मरस्य दूतिकाम् उदाहरन्ति कथयन्ति । त्वं कोकिला मानावभङ्गनिपुणम् स्त्रीणाम् रोषनिरासकुशलम् अमोघम् अव्यर्थीभावि अस्त्रम् साधनम् । त्वया स्त्रीणां मानभङ्गः साध्य एव, न तत्र तव वैफल्यं कदापि संभाव्यत इत्यर्थः । अयि कलभाषिणि, मधुस्वरे, ताम् प्रियतमाम् उर्वशीम् मम समीपम् आशु आनय, वा अथवा मां तत्र नय प्रापय यत्र कान्ता अस्तीति शेषः । त्वं मदनदूती, अहं च तद्विरहसन्तप्तः, त्वया बोध्यमाना च सोर्वशी नैव नागच्छेत्ततस्त्वं मानावभङ्गेऽमोघमस्त्रमतः स्वयशोरक्षार्थं मां तत्र नय तां मत्समीपं वाऽऽनय, तथाकरण एव तव दूतीपदलाभ इति तात्पर्यम् । दूतिशब्दो ह्रस्वेकारान्तोऽपि भवति, तदुक्तं शब्दभेदप्रकाशे–'दूत्यां दूतिरपि स्मृता' । 'तेन दूतिविदितं निषेदुषा' इति रघुवंशटीकायां हेमाद्रिश्च । 'रतिदूतिपदेषु कोकिलाम्' कुमारसंभवटीकायां मल्लिनाथोपि—'उणादयो बहुलम्' इति बहुलग्रहणाद्ध्रस्वः इति बल्लभमतमुद्धृतवान् ॥ वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २५ ॥

एवमनुरक्तम् = ईदृशस्नेहपरायणम् । त्वयेत्थं स्नेहेन चित्ते धृतापि कथं त्वां विहाय गतेत्याशयः ।

कुपितेति । (सा मम प्रेयसी) कुपिता धृतक्रोधा, अहम् तु सकृदपि एकवारमपि आत्मगतम् स्वनिष्ठम् कोपकारणम् न स्मरामि । मया किमपि तादृशमाचरणं

मधुरवचने, तुमको कामिजन कन्दर्पदूती कहा करते हैं, तू मानभङ्गमें प्रयुक्त होनेवाली अव्यर्थ अस्त्र है, या तो मेरी प्रियाको मेरे पास लादो, या मुझे ही वहाँ पहुँचादो जहाँ मेरी प्रियावर्त्तमान हो ॥ २५ ॥

क्या कहा तुमने ?—तुम्हारे इस तरहके प्रेमको छोड़कर क्यों गई ? तुम सुन लो—

कुपित होकर चली गई है परन्तु मैं कोपकारण नहीं जानता हूं । स्त्रियाँ

प्रभुता रमणेषु योषितां न हि भावस्खलितान्यपेक्षते ॥ २६ ॥

कथं कथाच्छेदकारिणी स्वकार्य एव सक्ता ।

महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः
प्रणयमगणयित्वा यन्ममापद्गतस्य ।
अधरमिव मदान्धा पातुमेषा प्रवृत्ता
फलमभिमुखपाकं राजजम्बूद्रुमस्य ॥ २७ ॥

कृतं येन तस्या हृदि कोपः पदमादधीतेति नाहं सकृदपि स्मरामीत्यर्थः । उक्तमर्थं युक्त्या साधयति—प्रभुतेति । रमणेषु प्रियेषु योषिताम् स्त्रीणाम् प्रभुता स्वामित्वम् भावस्खलितानि स्नेहे त्रुटीः नापेक्षते नावश्यकतया स्वीकरोति । दूरारूढप्रणयानां कामिनीनां कोपो न स्नेहस्खलनापेक्षी तासां हृदि जायमाना स्नेहस्खलनशङ्कापि तासां कोपमुत्पादयितुमलम् , अतो मया स्खलनेऽकृतेऽपि कयाचिन्मम चेष्टया स्खलनमनुमाय सा कुपिता भवेदिति संभाव्यत इति भावः ॥ २६ ॥

कथाविच्छेदकारिणी = प्रतिवचनादानेन वार्त्तालापभङ्गकारिणी । सक्ता=लग्ना ।

महदिति । महत् सोढुमशक्यम् अपि परदुःखम् अन्यकष्टम् शीतलम् अव्यथकम् (इति लोकाः) सम्यक् सत्यमाहुः, (अन्यदीयं दीर्घमपि दुःखमन्यस्य कष्टं न जनयतीति लोकोक्तं सत्यम् , यतः) यत् यस्मात् आपद्गतस्य प्रेयसीवियोगरूपविपत्तिमग्नस्य मम प्रणयम् प्रार्थनाम् अगणयित्वा अननुरुध्य मदान्धा मदभ्रष्टविवेका एषा कोकिका राजजम्बूद्रुमस्य दीर्घफलजम्बूवृक्षस्य अभिमुखपाकम् अचिरपरिणामि फलम् अधरमिव ओष्ठमिव पातुम् आस्वादयितुम् प्रवृत्ता लग्ना । यत इयं कोकिलाऽऽपद्गतस्य मम तां प्रियां मत्समीपं प्रापय मां वा तत्समीपं नयेति प्रार्थनामुपेक्ष्य त्वरितपरिणस्यमानं राजजम्बूद्रुमस्य फलं तदधरमिव पातुं प्रवृत्ता तन्मन्येऽन्यदीयं दुःखमन्यस्य कृते शीलमिति सत्यमुच्यते लोकैरिति भावः । मालिनीवृत्तम् ॥ १३ ॥

अपने नायकोपर सर्वाधिकार रखती हैं, उन्हें किसी गलतीको खोजकर निकालनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती है ॥ २६ ॥

क्या विना उत्तर दिये ही अपने काममें लग गई ?

दूसरेका कष्ट महान् होकर नगण्य है यह ठीक ही कहा करते हैं । आपत्तिमें पड़कर मैं इससे प्रार्थनाकर रहा हूँ और यह मानवाली उसपर ध्यान न देकर जामुन वृक्षके अधरतुल्य परिणत फलको चूसने लग गई ॥ २७ ॥

एवंगतेऽपि प्रियेव मे मञ्जुस्वनेति न कोपोऽस्याम् । सुखमास्तां भवती । साधयामस्तावत् ।

(उत्थाय द्विपदिकया परिक्रम्यावलोक्य च)

अये ! दक्षिणेन वनधारां प्रियाचरणनिक्षेपशंसी नूपुरशब्दः । यावदेनमनुगच्छामि ।

(परिक्रम्य)

प्रियतमाविरहक्लान्तवदनः अविरलबाष्पजलाकुलनयनः ।
दुःसहदुःखविसंष्ठुलगमनः प्रसृतगुरुतापदीप्ताङ्गः ।
अधिकं दूनमानसो दरीं गतः कानने परिभ्रमति गजेन्द्रः ॥ २८ ॥

एवंगतेऽपि = एवं सत्यपि (यद्यपीयमविवेका मदीया प्रार्थना चानयोपेक्षिता तथापि) मे प्रियेव = उर्वशीव । मञ्जुस्वना = मधुरशब्दा । यद्यपीयमनुचिताचाराऽथापि प्रियासादृश्यमस्यामंशतो विद्यमानं मां क्रोधाद्बलवन्निवर्त्तयतीति भावः ।

दक्षिणेन=दक्षिणभागे । एनबन्तमेतदतस्तद्योगे वनधारामित्यत्र 'एनपा द्वितीया' इति द्वितीया । वनधारा = वनपङ्क्तिः, 'धारा पङ्क्तौ द्रवद्रव्यस्रवेऽश्वगतिपञ्चके' इति विश्वलोचनः । नूपुरशब्दः = मञ्जीरशब्दः । दक्षिणदिशि शब्दो भवति सनूपुररवमनुहरति, तेन चशब्देन ज्ञायते यदुर्वशी तत्र चरणन्यासं करोतीत्यर्थः ।

वामकेन = पार्श्वस्थितवस्त्ववलोकनेऽवलम्ब्यमानः संस्थानविशेषेण, तदुक्तं तस्य लक्षणम्—'धुतेन शिरसा यत्तु पार्श्वेन वलितेन च । तद्वामकं वैकरणं पार्श्वस्थस्यावलोकनम्' ।

प्रियतमेति । प्रियतमाविरहक्लान्तवदनः प्रेयसीवियोगम्लानमुखः, अविरलबाष्पजलाकुलनयनः सततप्रवृत्ताश्रुधारापिहितनेत्रः, दुःसहदुःखविसंष्ठुलगमनः, असह्यक्लेशस्खलद्गतिः, प्रसृतगुरुतापदीप्ताङ्गः प्रसारितदीर्घसन्तापदग्धकायः अधिकं दूनमानसः अतिसन्तप्तहृदयः, दरीम् पर्वतकन्दराम् गतः, गजेन्द्रः करिवरः कानने भ्रमति, अत्रापि गजान्यापदेशेन स्वावस्थैव निर्दिष्टा ॥ २८ ॥

इस हालतमें भी इसपर मैं कुपित नहीं हूँ क्योंकि यह हमारी प्रेसयीकी तरह मधुरभाषिणी है । तुम मजेमें रहो, चला मैं । (चलकर और देखकर) इस वनधाराके दक्षिणमें नूपुर शब्द होरहा है मानो हमारी प्रिया चल रही हो, मैं इसका अनुसरण करता हूँ । (चलकर)

प्रियतमाके विरहसे उदासमुख, अनवरत रोनेसे आकुलनयन, भयानक मनोदुःखसे लड़खड़ानेवाला, असह्य तापसे सन्तप्त यह गजेन्द्र अधिक दुःखी होकर

(पिअअमविरहकिलामिअवअणओ अविरलवाहजलाउलणअणओ ।
दूसहदुक्खविसंटुलगमणओ पसरिअगुरुतावदिविअअङ्गओ ।
अहिअं दुम्मिअमाणसओ दरिअं गओ काणणं परिभमइ गइन्दओ ॥ २८ ॥)

(इति कुकुभेन षड्डपभङ्गाः)

(अनन्तरे द्विपदिकया दिशोऽवलोक्य)

प्रियकरिणीवियुक्तो गुरुशोकानलदीप्तः ।
बाष्पजलाकुललोचनः करिवरो भ्रमति समाकुलः ॥ २९ ॥

(पिअकरिणीविच्छाइअओ गुरुसोआणलदीविअओ ।
बाहजलाउललोअणओ करिवरु भमइ समाउलओ ॥ २९ ॥)

(सकरुणम्) अहो धिग् कष्टम् ।

मेघश्यामा दिशो दृष्ट्वा मानसोत्सुकचेतसाम् ।

ककुभेन = तदाख्यरागेण, तदुक्तं भरतेन—'मध्यमा पञ्चमी धैवत्युद्भवः ककुभो भवेत् । धांशग्रहः पञ्चमान्तो धैवतादिकमूर्च्छनः ॥ प्रसन्नमध्यारोहिभ्यां करुणे यमदैवतः । गेयः शरदि ।' इति ।

उपभङ्गाः = अवच्छेदाः ।

प्रियकरिणीति । प्रियकरिणीवियुक्तः प्रियया विरहितः गुरुशोकानलदीप्तः महता सन्तापवह्निना ज्वलन् बाष्पजलाकुललोचनः अश्रुस्थगितदृष्टिः समाकुलः विकलः करिवरः भ्रमति । अत्र पूर्वोक्तार्थस्यैव मुहुरभिधाना न्मादातिशयद्योतनेन रसपोषो बोध्यः ॥ २९ ॥

मेघश्यामा इति । दिशः दिगवकाशान् मेघश्यामाः पयोदमलिनाः दृष्ट्वा निरीक्ष्य मानसोत्सुकचेतसाम् मानससरोवरं गन्तुमुत्कण्ठितमनसाम् राजहंसानाम् कूजितम् रुतम् (एतत्) इदम् श्रूयमाणम् रुतम् नूपुरशिञ्जितम् मञ्जीररणितम् न भवतीति

इसी कन्दराके वनमें घूमता है ॥ २८ ॥

प्रियकरिणीके वियोगमें दुःखी भयानक शोकवह्निमें झुलसता हुआ, आंखोंमें आंसू भरे व्याकुल गजेन्द्र घूम रहा है ॥ २९ ॥

(करुणापूर्वक) अहो ! धिक्कार है मुझे—

उमड़े मेघोंसे काली दिशाओंको देखकर मानस जानेके लिये व्यग्र राजहंसोंका

कूजितं राजहंसानां नेदं नूपुरशिञ्जितम् ॥ ३० ॥

भवतु । यातदेते मानसोत्सुकाः पतत्रिणः सरसो नोत्पतन्ति तावदेतेभ्यः प्रियाप्रवृत्तिरवगमयितव्या । (उपेत्य) भो भो जलविहङ्गमराज !

पश्चात्सरः प्रतिगमिष्यसि मानसं तत्-
पाथेयमुत्सृज बिसं ग्रहणाय भूयः ।
मां तावदुद्धर शुचो दयिताप्रवृत्त्या
स्वार्थात्सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव ॥ ३१ ॥

शेषः । मेघं वियदावृण्वन्तं विलोक्याविलजलाशयपरिजिहीर्षया मेघागम्यं मानसाख्यं सरोगन्तुं व्यवस्यतां राजहंसानामिदं कूजितमिदं नूपुरशिञ्जितं न भवति, तदलं तत्र तच्चरणसञ्चारकल्पनयेति भावः ॥ ३० ॥

पतत्रिणः = पतत्रम् पक्षः तदस्यास्तीति विग्रहे इन्प्रत्ययः । पतत्रिणः = पक्षिणः । सरसो नोत्पतन्ति = सरो विहाय न गच्छन्ति । एतेभ्यः = पक्षिभ्यः । प्रियाप्रवृत्तिः = उर्वशीवृत्तम् । जलविहंगमराज = जलचरपक्षिकुलोत्तम ।

पश्चात्सरः इति । तत् प्रसिद्धम् मानसम् तदाख्यम् सरः सरोवरम् प्रति पश्चाद् गमिष्यसि कियत्कालानन्तरम् यास्यसि । पाथेयम् पथिभोज्यम् बिसम् भूयः ग्रहणाय पुनर्ग्रहीतुम् विसृज त्यज । गृहीतं बिसं त्यक्त्वा मम प्रश्नं समाधाय च बिसान्तरं गृहीत्वा पुनः शक्यते गन्तुं त्वयेत्यर्थः । तावत्प्रथमम् दयिता प्रवृत्त्या उर्वशीवृत्तान्तेन माम् शुचः शोकात् उद्धर निष्कासय रक्षेत्यर्थः । ननु स्वार्थं विधाय परार्थोऽनुष्ठेय इति व्यवहारस्तथा च मया कथं तद्विपरीतमाचरणीयमिति चेत्तत्राह- स्वार्थादिति । सताम् सज्जनानाम् स्वार्थात् स्वकार्यात् प्रणयिक्रिया याचकजनहितं कृत्यम् गुरुतरा अभ्यर्हिता । सन्तो हि स्वं कार्यं विहायापि परकार्यमनुतिष्ठन्तीति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । वसन्ततिलकमेव वृत्तम् ॥ ३१ ॥

यह शिञ्जित है, यह मेरी प्रियाकी नूपुरध्वनि नहीं है ॥ ३० ॥

अच्छा, मानस जानेको उत्सुक यह पक्षिगण जब तक इस सरोवरसे उड़ नहीं जाते, तब तक इनसे अपनी प्रियाकी खबर पूछूं । (समीप जाकर) अजी पक्षिराज !

पीछे मानस जाना, राहखर्चके लिये जो कमलनाल लिये हो उसे रख दो, फिर ले लेना । प्रियाका वृतान्त बताकर मेरी रक्षा तबतक करलो, सज्जनोंके लिये स्वार्थसे बढ़कर मित्रोपकार ही कर्त्तव्य होता है ॥ ३१ ॥

(उभयोन्मुखो विलोकयति) मानसोत्सुकेन मया न लक्षितेत्येवं वचनमाह ।
(उपविश्य चर्चरी) रे रे हंस किं गोप्यते । (रे रे हंसा किं गोइज्जइ)
(इति नर्तित्वा उत्थाय)

यदि हंस गता न ते नतभ्रूः
सरसो रोधसि दर्शनं प्रिया मे ।
मदखेलपदं कथं नु तस्याः
सकलं चोरगतं त्वया गृहीतम् ॥ ३२ ॥

अतश्च
(चर्चरी) गत्यनुसारेण मया लक्ष्यते । (गइअणुसारे मइ लक्खिज्जइ)
(चर्चरिकयोपसृत्याञ्जलिं बद्ध्वा)

उन्मुखः = ऊर्ध्वमुखः । विलोकयति = पश्यति । मानसोत्सुकेन = मानसं गन्तुमुत्कण्ठितेन । न लक्षिता = न दृष्टा ।

रे रे इति । रे रे हंस ! किं किमर्थं गोप्यते प्रच्छाद्यते, उर्वशीविषये मया किमपि नावगम्यत इति कुतो भाषसे ? त्वयाऽवगम्यते तत्समाचार इति लाञ्छनारोपः ।

यदि हंसेति हे हंस, यदि सा नतभ्रूः कुटिलभ्रूलता मे मम प्रिया उर्वशी सरसः सरोवरस्य रोधसि तटे ते तव दर्शनम् नेत्रपथम् न गता न याता, तर्हि हे चोर स्तेयकर्मकर, तस्याः मदखेलपदम् मदेन खेलानि सलीलानि पदानि यत्र तन्मदालसचरणम् सकलम् गतम् गमनम् त्वया कथम् केन प्रकारेण गृहीतम् ? यदि सरोवरतीरे सलीलचरणन्यासमुपसर्पन्ती सा मम प्रिया त्वया नावलोकिता तदा हे हंस, तस्याः सलीलं गमनं त्वया कथं प्राप्तम् , सति दर्शन एव तत्सहवर्त्तिगमनं चोरयितुं शक्यम्, तच्चोरिताच्चतो दर्शनं कृतमित्याक्षेपलब्धं भवतीत्याशयः । 'अरालं वृजिनं जिह्ममूर्मिमत्कुञ्चितं नतम् । आविद्धं कुटिलं भुग्नम्' इत्यमरः । 'कूलं रोधश्च तीरं च' इति च । 'गतम्' इति नपुंसके भावे क्तः ॥ ३२ ॥

ऊपर मुंहकर रहा है—जैसे कह रहा हो कि मानस जानेकी चिन्तामें रहनेके कारण मैंने नहीं देखा है ।

अरे रे हंस, क्या छिपा रहा है ?

हे हंस, यदि तुमने हमारी प्रियतमाको सरोवरके किनारे नहीं देखा तब तुमने उसका यह सलीलगमन किसके पाससे चुराया ? ॥ ३२ ॥

इस लिये तुम्हारी इस मन्द मनोहर गतिसे हमें लक्षित होता है कि तुमने हमारी प्रियाकी मनोहर गति चुराई है । (हाथ जोड़कर)

हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिरस्यास्त्वया हृता ।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ॥ ३३ ॥

(पुनश्चर्चरी)

कस्मात्त्वया शिक्षितमेतद्गतिलालस ।
सा परं दृष्टा जघनभरालसा ॥ ३४ ॥

(कंइ पंइ सिक्खिउ ए गइलालस ।
सा पइं दिट्ठी जहणभरालस ॥ ३४ ॥)

हंसेति । हे हंस, मराल, मे मम कान्ताम् प्रयच्छ प्रत्यर्पय । (यतः) अस्याः मम कान्तायाः गतिः सलीलम् गमनम् त्वया हृता चोरिता । ननु गतिमात्रं हरन् सकलामपि प्रियां प्रत्यर्पयेदिति कोऽयं न्यायस्तत्राह—विभावितैकेति । विभावितः दृष्टः, अनेन गृहीत इति निर्णीयस्थापितः, एकदेशः चोरितद्रव्यैकभागो यस्य तेन चोरेण यद् अभियुज्यते चोरितत्वेन निर्दिश्यते तत् देयम् स्वामिने प्रत्यर्पणीयम् । यदाह याज्ञवल्क्यः—'निह्नुतेऽभिहितं नैकमेकदेशविभावितः । दाप्यः सर्वं नृपेणार्थं न ग्राह्यस्त्वनिवेदितः' इति । अयमर्थः—यस्य चोरस्य समीपे चोरितद्रव्यस्यैकभागः प्राप्यते, स समस्तमपि चोरितद्रव्यं स्वामिने प्रत्यर्पयेदिति शास्त्रमर्यादा, त्वत्समीपे च मम प्रियायागतमुपलभ्यते, अतस्सा त्वयैव चोरितेति निश्चयेन त्वयैव देयेति प्रत्यर्पयतामिति ॥ ३३ ॥

कस्मात्त्वयेति । रे गतिलालस, गतिसौष्ठवाभिषिन् हंस, यदि सा जघन भरालसा गुरुनितम्बा परं दृष्टा न चेत् यदि नैवावेक्षिता (तदा) त्वयाएतद्गमनं कस्मात् शिक्षितम् अधिगतम् । तां विहायैतादृशगतिशिक्षणसामर्थ्याभावः, त्वयि चैतादृशगतियोग इत्यर्थापत्त्यैव त्वत्कृतं तद्दर्शनमवधार्यत इति भावः ॥ ३४ ॥

हे हंस, तुमने हमारी प्रियाकी गति चुराई है, तुम्हें हमारी प्रिया को लौटाना पड़ेगा, क्योंकि जिसके पाससे चोरीके सामानका कुछ हिस्सा बरामद होता है वह पूरी चीजका देनदार होता है ॥ ३३ ॥

तुमने यह लीलागति किससे सीखी है ? अवश्य ही तुमने उस नितम्बभारसे अलसगमना सुन्दरीको देखा है ॥ ३४ ॥

(पुनश्चर्चरी । 'हंस ! प्रयच्छ' इत्यादि पठित्वा द्विपदिकया निरूप्य । विहस्य)

एष चोरानुशासी राजेति भयादुत्पतितः ।

(परिक्रम्य)

अयमिदानीं प्रियासहायश्चक्रवाकः । तावदेनं पृच्छामि ।

(अनन्तरे कुटिलिका)

मर्मररणितमनोहरे (मम्मररणिअमणोहरए)

(मल्लवटी)

कुसुमिततरुवरपल्लविते । (कुसुमिअतरुवरपल्लविए ।)

(चर्चरी)

दयिताविरहोन्मादितः (दइआविरहुम्माइअओ)

कानने भ्रमति गजेन्द्रः ॥ (काणणे भमइ गइंदओ ॥) ॥ ३५ ॥

चोरानुशासी = चोरानुशासनशीलः, चौरदण्डविधाता । उत्पतितः = उड्डीनः । प्रियासहायः = चक्रवाक्या युक्तः ।

कुटिलिका—तदाख्यनाट्यविशेषः, तथा चोक्तम्–'रागेण रहितं यत्तु चार्धमत्तलिकायुतम् । भाषयैव तु तन्नाट्यं कुटलीसंज्ञकं मतम्' । इति । अर्धमत्तलीलक्षणं यथा–'उपेतापसृतौ पादौ वामश्चेद्रेचितः करः । कट्यामन्यस्तदात्वर्धमत्तली तरुणीमदे' । इति ॥

मर्मररणितेति । मर्मरः शुष्कपत्रचयस्तस्य रणितम् ध्वनिस्तेन मनोहरे हृदयग्राहिणि, अथवा मर्मरः शुष्कपत्रध्वनिः रणितम् पक्षिशब्दस्ताभ्यां मनोहरे कुसुमितैः फुल्लैः तरुवरैः वृक्षैः पल्लविते आच्छादिते कानने वनप्रान्ते दयिताविरहोन्मादितः प्रियाविरहसञ्जातोन्मादः गजेन्द्रः भ्रमति । अत्रापि गजेन्द्रान्योक्त्या स्वावस्था निवेदिता ॥ ३५ ॥

(हंसकर)

राजा चोरोंको दण्ड देता है इसलिये यह उड़गया । (चलकर) अब इस अपनी प्रियासे युक्त चक्रवाकसे पूछता हूं ।

मर्मरध्वनिसे मनोहारी, फूलपत्तोंसे लदे वृक्षोंसे युक्त, इस वनमें प्रियाविरहमें पागल बना गजेन्द्र घूम रहा है ॥ ३५ ॥

(द्विलयान्तरे चर्चरी)

गोरोचनाकुङ्कुमवर्णा चक्र भण माम् ।
मधुवासरे क्रीडन्ती धन्या न दृष्टा त्वया ॥ ३६ ॥

(गोरोअणाकुङ्कुमवण्णा चक्क भणइ मइ ।
महुवासर कीलन्ती धणिआ ण दिट्ठी पइ ॥ ३६ ॥)

(चर्चरिकयोवसृत्य जानुभ्यां स्थित्वा)

रथाङ्गनामन्वियुतो रथाङ्गश्रोणिबिम्बया ।
अयं त्वां पृच्छति रथी मनोरथशतैर्वृतः ॥ ३७ ॥

कथं कः क इत्याह । मा तावत् , न खलु विदितोऽहमस्य ।

द्विलयान्त इति । नृत्यगीतवाद्यानां साम्यं लयः, 'लयः साम्यम्' इत्यमरः । तस्य च त्रैविध्यमन्यत्र प्रतिपादितम् 'द्रुतो मध्यो विलम्बश्च लयः स त्रिविधो मतः' इति । तत्र लयद्वयान्त इत्यर्थः ।

गोरोचनेति । हे चक्र, चक्रवाक, त्वया गोरोचना पीतवर्णो द्रव्यविशेषः, कुङ्कुमः रक्तवर्णः तद्वत् पीतरक्तः (स्वर्णवर्णसदृशः) वर्णः यस्याः सा मम प्रिया मधुवासरे वसन्तसमये क्रीडन्ती खेलन्ती धन्या न दृष्टा किम् ? सम्भाव्यते तु तस्या दर्शनम् , यदि तथा तदा कथयेत्यर्थः । 'कोकश्चक्रश्चक्रवाकः' इति त्रिकाण्डी ॥ ३६ ॥

रथाङ्गेति । हे रथाङ्गनामन् , चक्रवाक, रथाङ्गश्रोणिबिम्बया चक्रवत्पृथुवर्त्तुलनितम्बमण्डलया उर्वश्या वियुक्तः विरहितः अयम् रथी स्यन्दनवान् राजा मनोरथशतैः अभिलाषशतैः वृतः युक्तः त्वाम् पृच्छति । अत्र प्रियाविरहजन्यक्लेशस्याहरहरनुभविनं चक्रवाकं पृच्छति, वियुक्तः प्रियया राजा अभिलाषवाँश्च भूत्वा पृच्छतीति सर्वैरेव प्रश्नस्य झटित्युत्तरणीयता द्योत्यते । स्पष्टमन्यत् ॥ ३७ ॥

न खलु विदितोऽहमस्य = नायं मां परिचिनोति, यदि परिचिनुयात्तदोत्तरं दद्यादेवेत्याशयः ।

गोरोचन और कुङ्कुमकी तरह रक्तकपिशवर्णवाले चक्रवाक, इन वसन्तके दिनोंमें खेलती हुई उस धन्याको तुमने नहीं देखा ॥ ३६ ॥

हे चक्रवाक, चक्रके समान नितम्बवाली अपनी प्रियतमासे वियुक्त अत एव शताधिक मनोरथोंको हृदयमें रखकर रथपर चलनेवाला मैं तुमसे पूछ रहा हूँ ॥ ३७ ॥

यह 'कः कः' कह रहा है । नहीं, यह मुझे नहीं जानता है ।

सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ ।
स्वयं वृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः ॥ ३८ ॥

कथं तूष्णीं स्थितः । भवतु । उपालप्स्ये तावदेनम् ।

सरसि नलिनीपत्रेणापि त्वमावृतविग्रहां
ननु सहचरीं दूरे मत्वा विरौषि समुत्सुकः ।
इति च भवतो जायास्नेहात्पृथक्स्थितिभीरुता
मयि च विधुरे भावः कान्ताप्रवृत्तिपराङ्मुखः ॥ ३९ ॥

सूर्याचन्द्रमसाविति । सूर्याचन्द्रमसौ आदित्यचन्द्रौ यस्य मातामहपितामहौ, आदित्यो मातामहः चन्द्रश्च पितामहो यस्य स इत्यर्थः । न केवलं कुलगौरवमेव किन्तु स्वगौरवमप्यस्तीत्याह—यः उर्वश्या तन्नामिकया दिव्याङ्गनया भुवा च इति द्वाभ्याम् स्वयं पतिः वृतः निर्वाचितः । अत्र स्वयं पदं तयोर्गुणाकृष्टत्वं नतु परानुरोध इति प्रत्याययन् राज्ञो गुणोत्कर्षं सूचयति । 'कृतयुगादौ सूर्यनप्ता मनोः पुत्रः सुद्युम्नापरनामा इलो नाम राजा मृगयासङ्गाद्धरनिवारितमुमावनमेकाकी प्रविष्टमात्रः स्त्री बभूव । तामेकाकिनीं सुन्दरीं दृष्ट्वा बुधः कामातुरः सन्नाश्रमं नीत्वा तस्यां पुरूरवसं पुत्रमजीजनदिति भविष्योत्तरपुराणकथेति रङ्गनाथः ॥ ३८ ॥

तूष्णीम् = बद्धमौनः । उपालप्स्ये = अधिक्षेप्स्यामि = येनाभिहितेनास्य लज्जा जायेत तादृशं वचनमुक्त्वामुं लज्जयिष्यामि ।

सरसीति । सरसि विहारार्थमध्युषिते सरोवरे नलिनीपत्रेण कमलदलेन अपि आवृतविग्रहाम् आच्छादितशरीराम् सहचरीम् चक्रवाकीम् दूरे दूरगतां मत्वा संभाव्य समुत्सुकः उत्कण्ठितः सन् विरौषि ननु आक्रन्दसि खलु । जायास्नेहात् वनितानुरागात् भवतः तव चक्रवाकस्य इति च इत्थं रुषा पृथक् स्थितिभीरुता वनितावियुक्तभावेनावस्थानकातर्यम्, मयि च विधुरे परमार्थतः प्रियाविरहिते

सूर्य और चन्द्रमा जिसके मातामह और पितामह हैं तथा जिसे उर्वशी तथा पृथ्वीने स्वयं स्वामीके रूपमें वरण किया है (मैं वही हूँ) ॥ ३८ ॥

चुप क्यों हो गया ? अच्छा, इसे उलाहना दूंगा ।

सरोवरमें कमलके पत्ते मात्रसे तुम्हारी स्त्री ढक जाती है तब तो तुम अपनी स्त्रीको दूरवर्त्तिनी मानकर उत्कण्ठासे पुकारने लगते हो, इस तरह तुम स्त्रीके प्रेमसे जुदाईसे डरा करते हो, फिर मेरे इस दुःखसे हमारी स्त्रीका समाचार क्यों नहीं बताते ? ॥ ३९ ॥

सर्वथा मदीयानां भागधेयानां विपर्यायेण प्रभावप्रकाशः । यावदन्यमवकाशमवगाहे । (पदान्तरे स्थित्वा) भवतु । न तावद्गच्छामि ।

इदं रुणद्धि मां पद्ममन्तःकूजितषट्पदम् ।
मया दष्टाधरं तस्याः ससीत्कारमिवाननम् ॥ ४० ॥

भवतु । अस्मिन्नेव कमलाध्यासिनि मधुकरे प्रणयित्वं करिष्ये इतो गतस्यानुशयो मा भूदिति ।

(भवतः) कान्ताप्रवृत्तिपराङ्मुखः मत्प्रियावृत्तान्तनिवेदनविमुखः भावः अभिप्रायः ? इत्यहो आश्चर्यम् ! यस्य तव प्रेयस्यां समीपस्थितायामपि कमलदलेन केवलमाच्छादितवपुषि सत्यां दूरस्थतासंभावनया महानाक्रन्दः प्रकटति, स त्वं जायास्नेहः कीदृशो भवति, पृथक् स्थितिः कियत्क्लेशयतीति विदन्नपि वस्तुतः प्रियाविरहिणे मह्यं तद्वृत्तान्तं नाख्यासीति चित्रमिति भावः । 'विग्रहो युधि विस्तारे प्रविभागशरीरयोः' इति हैमः ॥ हरिणीवृत्तम् , तल्लक्षणं यथा—'न समरसलागः षड् वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति ॥ ३९ ॥

मदीयानाम् = मत्सम्बन्धिनाम् । भागधेयानाम् = भाग्यानाम् । विपर्ययेण = प्रातिकूल्येन । प्रभावप्रकाशः = सामर्थ्यप्रकटनम् । प्रतिकूलं मम भाग्यमेव सर्वतो मदीयां प्रार्थनां विफलयतीति भावः ।

इदमिति । इदम् अन्तःकूजितषट्पदम् अन्तःशब्दायमानभ्रमरम् पद्मम् मया दष्टाधरम् दंशितोष्ठम् अत एव च ससीत्कारम् तस्याः उर्वश्याः आननमिव मुखमिव माम् रुणद्धि पुरोगमनात् निवारयति । अत्र कमलेऽन्तर्भ्रमरः शब्दायते, स च शब्दः सीत्कारमनुहरति तेन चेदं कमलं मया दष्टाधरं मत्प्रियाऽऽननमिव भूत्वा मां स्थिरयतीति भावः । उपमालङ्कारः ॥ ४० ॥

कमलाध्यासिनि = कमलमध्यस्थिते । मधुकरे = भ्रमरे । प्रणयित्वम् = स्नेहम् । इतोगतस्य = इदं विहायान्यत्र चलितस्य । अनुशयः = पश्चात्तापः । अत्रैव तिष्ठामि,

---

सर्वथा हमारा बिगड़ा भाग्य अपना प्रभाव दिखला रहा है, किसी दूसरी जगह देखें । (एक पग चलकर, रुककर) अच्छा नहीं जाता ।

यह कमल, जिसके भीतरमें सशब्द भ्रमर वर्त्तमान है, मुझे जानेसे रोकता है, यह ऐसा मालूम पड़ता है जैसे मेरे द्वारा खण्डिताधर तथा सीत्कारयुक्त हमारी प्रेयसीका मुख हो ॥ ४० ॥

अच्छा, कमलमें वर्त्तमान इस भ्रमरके साथ ही मित्रता बढ़ाता हूँ, जिससे यहाँसे चले जानेपर पछताना न पड़जाय ।

(अस्यान्तरे अर्धद्विचतुरस्रकः)

एकक्रमवर्धितगुरुतरप्रेमरसे ।
सरसि हंसयुवा क्रीडति कामरसे ॥ ४१ ॥

(एक्कक्कमवड्ढिअगुरुअरपेम्मरसे ।
सरे हंसजुआणओ कीलइ कामरसे ॥ ४१ ॥)

(चतुरस्रकेणोपेत्याञ्जलिं बद्ध्वा)

मधुकर मदिराक्ष्याः शंस तस्याः प्रवृत्तिं
वरतनुरथ वासौ नैव दृष्टा त्वया मे ।

(विभाव्य)

यदि सुरभिमवाप्स्यस्तन्मुखोच्छ्वासगन्धं

मुखसादृश्यमत्रोपलभे, इतोऽन्यत्र गतस्तु ततोऽपि वञ्चितः स्यामिति भावः ॥

अर्धद्विचतुरस्रकः इति । नन्द्यावर्त्तापरनामकः संस्थानविशेषोऽर्धचतुरस्रकः । स एव च द्विवारं कृतत्वादर्धद्विचतुरस्रक इत्युच्यते । लक्षणं तु='अस्यैव चेक्षणयोरन्तरं स्यात्षडङ्गुलम्, वितस्तिमात्रमथवा नन्द्यावर्त्तं तदुच्यते' इति ॥ अस्यैवेत्यस्य प्रकृतसंस्थानस्येत्यर्थः ॥

एकक्रमेति । एकक्रमेण अविच्छेदेन वर्धितः समृद्धिं गमितः गुरुतरः आत्यन्तिकः प्रेमरसः स्नेहः यत्र तादृशे कामस्य रसः अभिनिवेशः आग्रहातिशयः यत्र तादृशे कामरसे सरसि हंसयुवा युवकहंसः क्रीडति रमते । 'कामरसे' 'वर्द्धितप्रेमरसे' इति सरो विशेषणद्वयं सरसः कामोद्दीपकत्वातिशयं व्यञ्जयितुम् ॥ ४१ ॥

चतुरस्रकम् = संस्थानविशेषः, तल्लक्षणं यथा—'नन्द्यावर्त्तस्थयोरर्थो भवेद्दृष्टादशाङ्गुलम्, अन्तरे चतुरैः स्थानं चतुरस्रं तदोदितम्' ॥

मधुकरेति । हे मधुकर, भ्रमर, मदिराक्ष्याः मादकलोचनायाः तस्याः मम प्रेयस्याः प्रवृत्तिम् वार्त्ताम् शंस कथय । अथवा—असौ अनन्यसदृशलावण्या मे मम वरतनुः सुगात्री उर्वशी त्वया नैव दृष्टा नैव विलोकिता । ननु कुतोऽयं निश्चयः, तद्दर्शने जातेऽपि कस्यचन विशेषस्यासंभवाधानत्वादित्यत आह—यदीति । सुरभिम्

एक तरह बढ़ता गया है प्रेमरस जिसका ऐसा यह हंसयुवा कामोद्दीपक इस सरोवरमें क्रीड़ा कर रहा है ॥ ४१ ॥

भाई मधुकर, मेरी मदिराक्षी प्रियाकी खबर बताओ । (कुछ सोचकर) मालूम होता है तुमने हमारी सुन्दरी प्रियतमाको देखा ही नहीं है । यदि तुम्हें उसके

तव रतिरभविष्यत्पुण्डरीके किमस्मिन् ॥ ४२ ॥

साधयामस्तावत् । (परिक्रम्यावलोक्य च) एष नीपस्कन्धनिषण्णहस्तः करिणीसहायो नागराजस्तिष्ठति । अस्मात्प्रियोदन्तमुपलप्स्ये । (विलोक्य) अथवा न त्वरा कार्या । (नागराजस्तिष्ठति)

(कुलिका)

करिणीविरहसन्तापितः । (करिणीविरहसंताविअओ ।)

मनोहरम् तन्मुखोच्छ्वासगन्धम् तन्मुखमारुतसौगन्ध्यम् अवाप्स्यः यदि आस्वादयिष्यश्चेत्, अस्मिन् अधुना त्वया सेव्यमाने पुण्डरीके कमले तव रतिः प्रीतिः अभविष्यत् किम् ? नाभविष्यदिति प्रश्नव्यङ्ग्यम् । यदि सा तव लोचनपथमवातरिष्यत्तदा तन्मुखोच्छ्वासगन्धलोलुपस्य तव तदनुवर्त्तनपरत्वस्यावश्यक्लृप्तत्वेनात्र पुण्डरीकेऽधुना तवोपस्थितिर्नाभविष्यद्दृश्यसे चात्र, तदत्र त्वद्दर्शनमेव त्वत्कर्तृकतद्दर्शनस्याभावं प्रत्याययतीति भावः । अत्र मे वेरतनुरिति सर्वनामसंबन्धस्तद्विषये साधिकारभाषणाधिकृतत्वम्, वरतनुरिति दृष्टमात्रायास्तस्या विस्मरणस्यासम्भवित्वम्, गन्धविशेषणं सुरभिपदं चैतत्कमलत्यागपूर्वकतन्मुखानुवर्त्तनस्यौचित्यप्राप्तत्वं व्यञ्जयति । मालिनीवृत्तम् ॥ ४२ ॥

साधयामः = गच्छामः, गमनस्यामङ्गलव्यञ्जकतया गतौ विवक्षितायां साधयाम इति प्रयुञ्जते कवयः, तथा च नैषधीयेऽपि—'अयि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः' ॥ नीपस्कन्धनिषण्णहस्तः = कदम्बतरुशाखावस्थापितशुण्डादण्डः । 'हस्तः करे करिकरे' इति मेदिनी । कारिणीसहायः—हस्तिन्या युक्तः । नागराजः = करिवरः । प्रियोदन्तम् = प्रेयसीवृत्तम् । उपलप्स्ये = प्राप्स्यामि ।

करिणीति । करिण्याः हस्तिन्याः विरहेण वियोगेन सन्तापितः, गंधोद्धतमधुकरः

सुगन्धिपूर्ण मुखवायुका अनुभव होता तो तुम इस कमलपर क्यों लुभाये रहते ? ॥ ४२ ॥

चलता हूँ । (चलकर और देखकर) कदम्बकी शाखापर शुण्डादण्ड डाले अपनी स्त्रीके साथ वर्त्तमान यह नागराज है । इससे अपनी प्रियतमाका पता लगाऊँगा । (देखकर) अथवा जल्दी नहीं करनी चाहिये ।

(नागराज खड़ा है)

(मन्दघटी)

कानने गन्धोद्धतमधुकरः ॥ (काणणे गंधुद्धअमहुअरु) ॥ ४३ ॥

अयमचिरोद्गतपल्लवमुपनीतं प्रियकरेणुहस्तेन ।

अभिलषतु तावदासवसुरभिरसं सल्लकीभङ्गम् ॥ ४४ ॥

(क्षणमात्रं स्थित्वा । अवलोक्य) हन्त कृताह्निकः संवृत्तः । भवतु । पृच्छामि ।

(अनन्तरे चर्चरी)

गन्धे मदे दानवारिणि उद्धताः मधुकराः यस्य तादृशश्च, यद्वा गन्धोद्धता मधुकारा भ्रमरा यस्य तादृशः । करीति विशेष्यमध्याहृत्य कानने भ्रमतीत्यर्थः कार्यः । 'गन्धो गन्धक आमोदो लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इति कोशे गन्धशब्दस्यामोदोऽर्थः स इह मदे उपचर्यते ॥ ४३ ॥

'कुलिका' गीतिविशेषः । 'मन्दघटी' अपि तथा ।

अयमिति । अयम् नागराजः प्रियकरेणुहस्तेन प्रियतमायाः करिण्या करेण उपनीतम् प्रापितम् अचिरोद्गतपल्लवम् = प्रत्यग्रप्रकटितपत्रम् आसवसुरभिरसम् मद्यवन्मधुरस्वादम् । सल्लकीभङ्गम् हस्तिप्रियवृक्षविशेषशाखाम् तावत् अभिलषतु आस्वादयतु । प्रियतमायाः करिण्याः करेण दीयमानं नयोद्गतपल्लवतया कोमलं मधु मधुरस्वादं सल्लकीभङ्गमयमास्वाद्य तर्पयतु स्वं तावदहं प्रतीक्षिष्य इत्यर्थः । प्रियकरेणुहस्तेनेत्युक्त्याऽस्य भोजनस्य प्रेमव्यापारपर्यवसायिता, तया चात्र विघ्नाचरणे स्वाभिलषितोत्तरप्राप्तेरपि बाधो व्यज्यते । करिजातौ 'सल्लकीखण्डभोजनेन स्नेहवर्णनं कविसम्प्रदाये दृश्यते—यथा च मालतीमाधवे भवभूतिः—'जग्धार्धैर्नवसल्लकीकिसलयैस्तस्याः स्थितिं कल्पयन्नन्यो वन्यमतङ्गजः परिचयप्रागल्भ्यमभ्यस्यति' इति ॥ ४४ ॥

हन्त = इहेदं हर्षे । कृताह्निकः = कृतसल्लकीभक्षणः । अह्नि निर्वर्त्यते इत्याह्निकम् , अत्र प्रकरणवशाद्भोजनं तत् ।

यह करिणीके वियोगसे सन्तापित तथा वनमें दानवारिकी गन्धसे मधुकरोंको उद्धतकर देनेवाला है ॥ ४३ ॥

यह नागराज तब तक अपनी प्रेयसी द्वारा समर्पित नवीन पल्लवोंसे युक्त तथा मद्यकी तरह गन्धवाले सल्लकी खण्डका मजा ले ले ॥ ४४ ॥

(कुछ देर ठहरकर) (देखकर) इसने खाना समाप्तकर लिया । अच्छी बात है, पूछता हूँ—

अहं त्वां पृच्छामि आचक्ष्व गजवर
ललितप्रहारेण नाशिततरुवर ।
दूरविनिर्जितशशधरकान्ति-
र्दृष्टा प्रिया त्वया संमुखं यान्ती ॥ ४५ ॥

(हंईं पैं पुच्छिमि आअक्खहि गअवरु
ललिअपहारे णासिअतरुवरु ।
दूरविणिज्जिअससहरकन्ती
दिट्ठी पिअ पैं संमुहजन्ती ॥ ४५ ॥)

(पदद्वयं पुरत उपसृत्य)

मदकलयुवतिशशिकला गजयूथप यूथिकाशवलकेशी ।
स्थिरयौवना स्थिता ते दूरालोके सुखालोका ॥ ४६ ॥

अहं त्वामिति । ललितप्रहारेण सलीलकराघातेन । नाशिततरुवर उत्पाटितवृक्ष हे गजवर करिश्रेष्ठ, दूरविनिर्जितशशधरकान्तिः अत्यन्ततिरस्कृतचन्द्रमयूखा चन्द्राधिकसुन्दरीत्यर्थः, 'सम्मुखम् अभिमुखम् यान्ती गच्छन्ती त्वया दृष्टा ? अवेक्षिता किम् ?' इति अहं त्वां पृच्छामि आचक्ष्व कथय । अत्र प्रतिपाद्यस्य करिणः सम्मुखावस्थितत्वादेव प्रतिपाद्यत्वप्रतीतौ संभवन्त्यां त्वामिति कथनम् , एवं पृच्छामीत्युत्तमपुरुषेणैवास्मदर्थे कर्त्तरि लब्धेऽहमिति विशिष्य कथनं चान्यव्यावृत्तिविशिष्टं त्वदर्थं मदर्थं च लक्षयति, ततश्चातिशयस्तयोर्व्यज्यते एतेनाहमस्यार्त्तः प्रष्टा, त्वयाऽवश्यमेतदुत्तरं दातव्यं परोपकारबुद्ध्येत्याशयः फलति ॥ ४५ ॥

मदकलेति । हे गजयूथप, यूथाधिनाथ, मदकलयुवतिशशिकलामदेन कलाः अव्यक्तमधुरम् आलपन्त्यः रम्याः वा युवतयः तासु शशिकला चन्द्रलेखेव सुन्दरी यूथिकाशवलकेशी यूथिकापुष्पचितधामिल्ला सुखालोका रम्यदर्शना (मम प्रियोर्वशी) ते दूरालोके स्थिता किम् त्वया दूरतो दृष्टा किम् ? अत्रोर्वश्यां शशिकला-

---

अजी गजवर, मैं तुमसे पूछता हूँ तुमने मन्द आघातसे भी महान् वृक्षको धराशायी बना दिया है, क्या चन्द्रमाकी कान्तिको एकदम जीत लेनेवाली हमारी प्रियाको सामनेसे गुजरते तुमने देखा है ? ॥ ४५ ॥

अजी मतवाले, गजराज, युवतियोंमें उत्कृष्ट यूथिका कुसुम केशमें लगाये देखनेमें मनोरम नित्य नवीना हमारी प्रेयसी तुम्हारी आँखोंके सामने आई है ? ॥ ४६ ॥

(आकर्ण्य । सहर्षम्) अनेन स्निग्धमन्द्रेण गर्जितेन प्रियोपलम्भशंसिना समाश्वासितोऽस्मि । साधर्म्याच्च त्वयि मे भूयसी प्रीतिः ।

मामाहुः पृथिवीभृतामधिपतिं नागाधिराजो भवान्
अव्युच्छिन्नपृथुप्रवृत्ति भवतो दानं ममाप्यर्थिषु ।
स्त्रीरत्नेषु ममोर्वशी प्रियतमा यूथे तवेयं वशा
सर्वं मामनु ते प्रियाविरहजां त्वं तु व्यथां माऽनुभूः ॥४७॥

त्वमारोप्यमाणमितरस्त्रीषु नक्षत्रस्थानीयत्वमारोपयति तेन तदपेक्षं तस्याः समधिकं सौन्दर्यम्, कलात्वेन कलङ्कराहित्यम्, सुखालोकेति स्थिरयौवनत्वं तच्च दिव्यत्वमूलकमिति चावेद्यते । 'चित्रं किर्मीरकल्माषशवलैताश्च कर्बुरे' इत्यमरः ॥ ४६ ॥

स्निग्धमन्द्रेण = स्निग्धम् मधुरम् गभीरञ्च तेन । प्रियोपलम्भशंसिना = प्रियाप्राप्तिसूचकेन, प्रियाज्ञानप्रकाशकेनेति वार्थः । समाश्वासितः = सान्त्वनां गमितः । (नागराजोऽयं स्निग्धं गभीरञ्च गर्जितं कुर्वन्मन्ये मां तव प्रिया मया प्राप्ता ज्ञाता चेति सूचयन्नाश्वासयति) साधर्म्यात् = समानधर्मत्वात् । भूयसी = अतिबहुला । धर्मसाम्यात्प्रीतिभूयस्त्वमुक्तं तदेवोपपादयितुमाह—मामाहुरित्यादि ।

मामिति । माम् पृथिवीभृताम् भूपालानाम् अधिपतिम् अधीश्वरमाहुः ब्रुवन्ति लोका इति शेषः । भवान् नागाधिराजः करिपतिः । भवतः दानम् दानवारि अर्थिषु याचकेषु भ्रमरेषु अव्युच्छिन्नपृथुप्रवृत्ति अव्युच्छिन्ना अनिरुद्धा पृथुः महती प्रवृत्तिः प्रवाहो यस्य तादृशम् अविरतभूयिष्ठप्रवाहम् । ममापि दानम् द्रव्यवितरणम् अर्थिषु याचकेषु अव्युच्छिन्नपृथुप्रवृत्ति अनवरतप्रवृत्तम् । स्त्रीरत्नेषु ललनागणमणिषु उर्वशी मम प्रियतमा, यूथे हस्तिसमूहे इयम् वशा करिणी तव प्रिया । (इत्थम्) सर्वम् ते तव मामनु मदनुगुणाम्, सर्वांशतस्तव मम च सादृश्यमित्यर्थः । त्वम् तु प्रियाविरहजाम् करिणीवियोगजन्याम् व्यथाम् कष्टम् मानुभूः न प्राप्नुहि । अय-

---

(सुनकर, सहर्ष) इस सप्रेम धीर गर्जनसे प्रियाके मिलनेकी बात सूचित हो रही है, इससे मुझे सन्तोष हो रहा है । समानताके कारण मेरा तुमपर स्नेहातिशय है—

मैं पृथ्वीपति हूँ तुम गजपति हो, तुम्हारी दानवारिधारा सतत चलती रहती है, मेरी भी । जैसी तुम्हारी प्यारी यह करिणी सभी हथिनियोंमें अलबेली है, मेरी प्यारी उर्वशी भी उसी तरह स्त्रियोंमें सर्वश्रेष्ठ है । तुम्हारी सभी बातें मुझसे मिलती हैं, केवल भगवान् तुमको प्रियाविरहका क्लेश न दें ॥ ४७ ॥

सुखामास्तां भवान् । साधयामस्तावत् । (परिक्रम्य पार्श्वतो दृष्टिं दत्त्वा) अये सुरभिकन्दरो नाम विशेषरमणीयः सानुमानालोक्यते । प्रियश्चायमप्सरसाम् । अपि नाम सुतनुरस्योपत्यकायामुपलभ्येत । (परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त मदीयैर्दुरितपरिणामैर्मेघोऽपि शतह्रदाशून्यः संवृत्तः । तथापि शिलोच्चयमेतमपृष्ट्वा न निवर्तिष्ये ।

(अनन्तरे खण्डिका)

माशयः—अहं राजराजस्त्वं नागराज इति सममावयोः पदकृतं गौरवम्, याचकेषु सततप्रवृत्तप्रवाहं मदीयं द्रव्यवितरणं भ्रमरेषु तवापि दानवारि सततप्रवृत्तप्रवाहमिति तुल्यमेव कार्यकृतं गौरवमपि, ललनारत्नमुर्वशी मम प्रियाकरिणीरत्नमियं वशा च तव प्रियेति प्रियाप्राप्तिसौभाग्यकृतमपि गौरवमावयोः समानमेव, इत्थं सर्वथा साम्ये केवलं प्रियाविरहजं कष्टं ममाधिकमस्ति तन्ममैवास्तु, त्वं न तदाप्नुहीति भावः । अधिको राजा अधिराजः । 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' इति टच् । 'दानं गजमदे त्यागे' 'वशावन्ध्यासुतायोषाक्षीगवीकरिणीषु च' इति विश्वः । शार्दूलाविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४७ ॥

विशेषरमणीयः = सुन्दरतरः । सानुमान् = पर्वतः । अयम् = सुरभिकन्दरो नाम सानुमान् । सुतनुः = सुन्दरी (उर्वशी) । उपलभ्येत = प्राप्येत । अस्य सुरभिकन्दराख्यस्य सानुमतोऽप्सरो जनप्रियत्वादप्सरो भूताया मम प्रेयस्या उर्वश्याः संभाव्यतेऽत्रोपलब्धिरित्याशयः । उपत्यकायाम् = पर्वतासन्नभूमौ । 'उपत्यकाऽद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः, उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः इति त्यकन् ।

हन्त = खेदे । दुरितपरिणामैः = पापविपाकैः शतह्रदाशून्यः = विद्युताशून्यः । शतम् ह्रादाः अव्यक्तमधुरशब्दाः अर्चींषि वा यस्यां सा शतह्रदा । पृषोदरादितया ह्रस्वः । 'शभ्या शतह्रदा ह्रादिन्यैरावत्यः क्षणप्रभा' इत्यमरः । विद्युल्लतायां सत्यां तत्प्रकाशे प्रियान्वेषणं सुकरं तन्ममाभाग्येन विद्युदपि नास्तीति खेदः । शिलोच्चयः = पर्वतः । अदृष्ट्वा = प्रियाप्रवृत्तिमननुयुज्य । न निवर्त्तिष्ये = अन्यतो न गमिष्यामि ।

खण्डिका = गीतिविशेषः, तल्लक्षणं यथा—'पर्यायेण शमैस्तिर्यङ् नतमुक्तं धुतं

तुम मजेमें रहो, मैं चलता हूँ । (चलकर, बगली ओर नजर डालकर) अहा! सुरभिकन्दर नामक विशेष रमणीय पर्वत दिखाई पड़ रहा है, अप्सरायें इसे बहुत प्यार करती हैं, हो सकता है कहीं हमारी प्यारी इसीके पास हो, (चलकर तथा देखकर) मेरे अभाग्यसे मेघमें बिजली भी नहीं चमकती । फिर भी मैं इस पर्वत खण्डको पूछे बिना नहीं लौटूंगा ।

प्रसृतखरखुरदारितमेदिनिर्वनगहनेऽविचलः ।
परिसर्पति पश्यत लीनो निजकार्योद्युक्तः कोलः ॥ ४८ ॥
(पसरिअखरखुरदारिअमेइणि वणगहणे अविचलु ।
परिसप्पइ पेच्छह लीणो णिअकज्जुज्जुओ कोलु ॥ ४८ ॥)
अपि वनान्तरमल्पकुचान्तरा श्रयति पर्वत पर्वसु सन्नता ।
इदमतङ्गपरिग्रहमङ्गना पृथुनितम्ब नितम्बवती तव ॥ ४९ ॥

कथं तूष्णीमास्ते । शङ्के विप्रकृष्टो न शृणोतीति । समीपेऽस्य गत्वा पुनरेनं पृच्छामि । (परिक्रम्य)

शिरः । श्रीरागकुम्भतालेन निबद्धा खण्डिका मता' । इति । कुम्भतालश्च कामबाणद्रुता यत्र अर्धचन्द्रस्तनः परम् । दविरामो लघुश्चैको बिन्दुश्चार्थद्रुतो भवेत् ॥ दविरामो लघुद्वन्द्वद्रुतो लघुविरामवान् ॥ इति । खण्डिका गद्यभेद इति भरतः, तदाह— खण्डी गणेशदैवत्या सात्वतीं वृत्तिमाश्रिता । श्वेता हास्यकृदारब्धा वैदर्भी भङ्गिसंभवा' इति ॥

प्रसृतेति । अविचलः गंभीरः निज कार्ये कन्दाद्यन्वेषणरूपे उद्युक्तः लग्नः वनगहने वनगुल्मे लीनः प्रच्छादिततनुः प्रसृतैः प्राप्तप्रसारैः दीर्घैः खरैः तीक्ष्णाग्रैः खुरैः दारिता उत्खाता मेदिनी पृथ्वी येन तादृशः कोलः परिसर्पति भ्रमति । अत्रापि कोलान्योक्ता स्वावस्था सूच्यते ॥ ४८ ॥

अपि वनान्तरमिति । अल्पकुचान्तरा कृशस्तनमध्यभागा पीवरस्तनीत्यर्थः । पर्वसु गुल्कादिसन्धिषु संनता निम्ना नितम्बवती प्रशस्तनितम्बा च इयम् उर्वशी, हे पृथुनितम्बबृहत्कटकपर्वत, इदम् अनङ्गपरिग्रहम् सुन्दरतया कामस्यावासभूतम् वनान्तरम् श्रयति गाहते अपि । हे पर्वत, पृथुलनितम्बा पीवरस्तनी चेयमुर्वशी कामस्याश्रयभूतमिदं वनान्तरं प्रविश्य स्थिता किमिति प्रश्नार्थः ॥ हरिणीप्लुतावृत्तम् , लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ ४९ ॥

तूष्णीमास्ते = मूकस्तिष्ठति । विप्रकृष्टः = दूरवर्ती ।

इस भयावने जंगलमें लीन तथा चञ्चल खुराघातसे पृथ्वीको दारित करता हुआ यह सूअर अपने काममें लगा हुआ चला जा रहा है, देख लो ॥ ४८ ॥

विस्तारयुक्त कटकवाले पर्वतराज, संहतस्तनी, प्रशंसनीय नितम्बा, कन्दर्पकी निधिरूपा, पर्वभागमें सन्नत शरीरा वह सुन्दरी तुम्हारे वनमें छिपी है क्या ? ॥४९॥

इसनें चुप्पी क्यों साध ली ? मालूम पड़ता है दूर होनेके कारण यह सुनी ही नहीं रहा है । इसके पास जाकर फिर पूछता हूँ,—(चलकर)

(अनन्तरे चर्चरी)

स्फटिकशिलातलनिर्भरनिर्मल बहुविधकुसुमविरचितशेखर ।
किन्नरमधुरोद्गीतमनोहर दर्शय मम प्रियतमां महीधर ॥ ५० ॥

(फलिहसिलाअलणिम्मलणिब्भरु बहुविहकुसुमविरइअसेहरु ।
किणरमहुरुग्गीअमणोहरु देक्खावहि महु पिअअम महिहरु ॥ ५० ॥)

(चर्चरिकयोपसृत्याञ्जलिं बद्ध्वा)

सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।
रामा रम्ये वनोद्देशे मया विरहिता त्वया ॥ ५१ ॥

(आकर्ण्य । सहर्षम्) कथं यथाक्रमं दृष्टेत्याह । भवानप्यतः प्रियतरं

स्फटिकेति । स्फटिकाः श्वेतमणयः तन्मयैः शिलातलैः, प्रस्तरखण्डैः निर्भरम् अत्यन्तं निर्मल स्वच्छ, बहुविधैः नानाप्रकारकैः कुसुमैः विरचितशेखरविहितचूडामणे, किन्नराणाम् सुरगायकतया प्रसिद्धानां देवयोनिविशेषाणाम् मधुरैः श्रुतिप्रियैः उद्गीतैः उच्चैः गीतैः मनोहर रमणीय, इदं सर्वं सम्बुद्ध्यन्तस्य महीधरेत्यस्य विशेषणम् , हे महीधर, मम प्रियतमां दर्शय साक्षात्कारय ॥ ५० ॥

सर्वक्षितिभृतामिति । हे सर्वक्षितिभृताम् सर्वेषां पर्वतानां नाथ स्वामिन् , सर्वाङ्गसुन्दरी चारुसर्वाङ्गी रामा रमणी मया पुरूरवसा विरहिता वियुक्ता रम्ये वनोद्देशे रमणीये वनप्रान्ते त्वया दृष्टा किम् ? हे धराधरवर, मया विरहितां सुन्दरीमुर्वशीं काञ्चिद् भवान्दृष्टवान् ? तथा सति मदाश्वासनाय प्रतिवचनं दीयतामित्याशः प्रष्टुः ॥ ५१ ॥

सहर्षम्—हर्षश्चात्र पर्वतेन उर्वशी मया दृष्टेत्युत्तरस्योद्भावनात् । तथोद्भावनञ्च राज्ञा प्रयुक्तस्य प्रश्नवाक्यस्य पर्वतकन्दराप्रतिध्वनितस्य पुनस्तेनैव निशम्यमानस्य च पर्वत प्रदत्तोत्तरवाक्यत्वेन कल्पनात् । तस्य 'वाक्यस्य' तथात्वेन कल्पनपक्षे चेत्थं योजना—

स्फटिक शिलातलसे निर्मलकाय, नानाविध फूलोंको शिरोभूषण बनाये, किन्नरोंके मधुर गानसे अतिरमणीय पर्वतपर, तुम मुझे मेरी प्रियाके दर्शन करादो ॥ ५० ॥

(हाथ जोड़कर) हे पर्वतराज, सर्वाङ्गसुन्दरी हमारी विरहिणी प्रेयसीको इस रमणीय वनमें भटकते तुमने देखा है ? ॥ ५१ ॥

(सुनकर सहर्ष) क्या कहा ? देखा है ? तुमको भी इससे अधिक प्रिय

शृणोतु । क्व तर्हि मम प्रियतमा । (नेपथ्ये तदेवाकर्ण्य) हा धिक् । ममैवायं कन्दरमुखविसर्पी प्रतिशब्दः । (विषादं रूपयित्वा) श्रान्तोऽस्मि । अस्यास्तावद्गिरिनद्यास्तीरे स्थितस्तरङ्गवातमासेविष्ये । इमां नवाम्बुकलुषामपि स्रोतोवहां पश्यतो मे रमते मनः । कुतः—

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।

'हे सर्वक्षितिभृताम् सर्वेषां नृपाणां नाथ त्वया विरहिता रामा मया दृष्टा' । अन्यत्समानम् । त्रिगताभिधानं वीथ्यङ्गमिदम्, यदाह विश्वनाथः—'त्रिगतं स्यादनेकार्थयोजनं श्रुतिसाम्यतः' इति ।

भवानप्यतः प्रियतरं शृणोतु = यथा भवान्मां मत्प्रेयसीवृत्तं श्रावयति तथाऽतोऽपि प्रियतरं भवानाकर्णयतु । इदं च राज्ञः प्रसन्नताव्यञ्जकमाशीर्वचनम् । कन्दरमुखविसर्पी=कन्दरप्रसारी । प्रतिशब्दः=प्रतिध्वनिः । श्रान्तः=सञ्जातश्रमः । तरङ्गवातं= तरङ्गदेशादागतो वातस्तरङ्गवातः, तस्य जलकणहारित्वेन शीतलतया श्रमहरत्वम् । आसेविष्ये = उपभोक्ष्ये । नवाम्बुकलुषाम् = नववर्षाजलाविलाम् । स्रोतोवहाम् = नदीम् । मनोरमणस्य कारणमत्र प्रियासाम्येपलब्धिरिति श्लोकेनाग्रेतनेन स्फुटीभविष्यति ।

तरङ्गभ्रूभङ्गेति । तरङ्गाः भ्रुवः भङ्गाः विकाराः इव यस्याः सा तरङ्गभ्रूभङ्गा, तरङ्गाणां भ्रूविकारणाञ्च कुटिलतया नदीतरङ्गा एव कोपनायास्तस्या भ्रूभङ्गा इति निरूप्यन्ते । क्षुभितानाम् इतस्ततः सञ्चरताम् विहगानाम् पक्षिणाम् श्रेणिः पङ्क्तिः रशना मेखला इव यस्याः सा । सञ्चारशालिविहगततेर्मेखलाभावेनोपादानं मध्यवर्त्तितया पङ्क्तिभावापन्नतया चलतया च, कोपनाया हि मेखला चला । संरम्भेण कोपेन शिथिलम् श्लथम् वसनम् वस्त्रम् इव फेनम् निकर्षन्ती आदायावलम्बमाना क्रोधना हि स्त्रियो वसनं शिथिलमवलम्ब्य प्रतिष्ठन्ते श्वेतत्वश्लक्ष्णत्वसादृश्यकृतं

सुननेका अवसर मिले । हाँ तो हमारी प्रिया है कहाँ ? (नेपथ्यमें वही सुनकर) हाय ! यह तो हमारे ही शब्द कन्दरामें गूंज रहे हैं । (खिन्न होकर) थक गया हूँ, इस पहाड़ी नदीके किनारे बैठकर तरङ्ग वातका सेवन करता हूँ । इस नदीको देखकर हमारा हृदय प्रसन्न होता है, यद्यपि इसमें बरसाती गन्दा पानी प्रवाहित हो रहा है ।

तरङ्ग इसकी भ्रूलता है, शब्दायमान पक्षीगण इसकी रशना है, क्रोधके मारे

यथाऽऽविद्धं याति स्खलितमभिसंधाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥ ५२ ॥

भवतु । याचिष्ये तावदेनाम् । (अञ्जलिं कृत्वा)

(अनन्तरे कुटिलिका)

प्रसीद प्रियतमे सुन्दरि एनया क्षुभिताकरुणविहङ्गमके नत्या ।
सुरसरित्तीरसमुत्सुकैणके अलिकुलझङ्कारिते नदि ॥ ५३ ॥

फेनेव सनस्त्वरूपणम् । बहुशः पुनः पुनः यथा यस्मात् इयम् नदी उर्वशी मम स्खलितम् अपराधम् अभिसन्धाय मनसि निधाय आविद्धम् कुटिलम् (यथास्यात्तथा) याति गच्छति तथा तस्मात् इयम् ध्रुवम् उत्प्रेक्ष्य निश्चितं जाने नदीभावेन सरिद्रूपेण परिणता नदीत्वंगता असहना कोपना सा उर्वशी । अयमाशयः—इयं नदीकोपेन नदीभावंगता ममोर्वश्येव विद्यते, अस्यां ये तरङ्गभङ्गाः ते तस्या भ्रुवोः कौटिल्यानि, अत्र या चला विहगमाला सा तस्या रशना, इयं यत् फेनं विकर्षति तत् मन्ये सा श्लथं वसनं विकर्षति, इयं यत्कुटिलं गच्छति सा ममापराधान्तर्निधाय वक्रं गच्छति कारणैरेभिः सोर्वश्येव कोपवशान्नदीभावं गतेति मम तर्क इति । 'स्खलितं सूचिताद् भ्रंशे स्खलितं चलिते त्रिषु' इति विश्वलोचनः । रूपकानुप्राणितोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ शिखरिणीवृत्तम् , तल्लक्षणं—यथारसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' इति ॥ ५२ ॥

याचिष्ये = प्रार्थयामि, कोपावसानमिति शेषः । अञ्जलिम् = करद्वययोजनम् (तौ युतावञ्जलिः पुमान्)

प्रसीदेति । अयि सुन्दरि, नदीरूपपरिणते प्रियतमे, एनया मदीयया नत्या पादपतनेन प्रसीद प्रसन्ना भव, मानस्य पादपतनावधितया नते मयि मानं विसृज्य दर्शनालिङ्गनादि दातुं दयस्वेत्यर्थः । सुभिताः सञ्चरणशीलाः अकरुणाः त्वदनुकारिस्वरेण मां पीडयन्तः अत एव निर्दयाः विहङ्गमाः यत्र यत्र तत्संबुद्धौ तथा, सुरसरित् , इदं वृथगेव संबोधनम् तीरे समुत्सुकाः एणकाः मृगाः यत्र तादृशे, अलिकुलझङ्कारिते भ्रमरमुखरिते, सर्वमिदं नदीविशेषणम् ॥ ५३ ॥

अस्तव्यस्त फेन इसके वसन हैं, टेढ़ी-मेढ़ी चालसे गिरती पड़ती यह चल रही है, मुझे मालूम पड़ता है हमारी प्रेयसी ही रूठकर इस नदीके रूपमें परिणत हो गई है ॥ ५२ ॥

ठीक है, इससे मिन्नते करूंगा । (हाथ जोड़कर)

भ्रमरगणसे झङ्कारित, गङ्गातीर जानेके लिये उत्कण्ठित हरिणवाली, क्षुभित

(पसीअ पिअअम सुन्दरी एणए खुहिआकरुणविहङ्गमए णए ।
सुरसरितीरसमूसुअएणए अलिउलझंकारिए णए ॥ ५३ ॥)

(कुटिलिकान्तरे चर्चरी)

पूर्वदिक्पवनाहतकल्लोलोद्गतबाहु-
मेघाङ्गैर्नृत्यति सललितं जलनिधिनाथः ।
हंसरथाङ्गशङ्खकुङ्कुमकृताभरणः
करिमकराकुलकृष्णकमलकृतावरणः ।
वेलासलिलोद्वेल्लितदत्तहस्ततालो-
ऽवस्तृणाति दशदिशो रुद्ध्वा नवमेघकालः ॥ ५४ ॥

(पुव्वदिसापवणाहअकल्लोलुग्गअबाहओ
मेहअङ्गे णच्चइ सललिअं अलणिहिणाहओ ।
हंसरहङ्गसङ्खकुङ्कुमकआभरणु
करिमअराउलकसणकमलकआवरणु ।

पूर्वदिगागत । पूर्वदिक् प्राची दिशा तस्या आगतः यः पवनो वायुस्तेन आहतः वेगेनाभिमृष्टः यः कल्लोलः तरङ्गः स एव उद्गतः उत्थितः बाहुर्यस्य तादृशः जलनिधिनाथः समुद्रः सललितम् सविलासम् मेघोङ्गैः मेघरूपतया दृश्यैः करचरणादिभिरङ्गैर्नृत्यति । तरङ्गरूपं बाहुमुत्थाप्य समुद्रो नृत्यतीत्यर्थः । नृत्यप्रवृत्तस्य समुद्रस्य वेषविन्यासमेव वर्णयितुं माह—हंसेति । हंसः मरालः रथाङ्गः चक्रवाकः, शङ्खः कम्बुः, कुङ्कुमश्च (कच्छोत्पन्नः) तैः कृतमाभरणम् अलङ्करणं यस्य तादृशः, तथा—करिणः जलगजाः मकरा ग्राहाः, तैः आकुलानि इतस्ततो व्यस्तीकृतानि यानि कृष्णकमलानि तैः कृतमावरणम् पिधानम् येन तादृशः । करिभिर्मकरैश्चालोडितानि श्यामकमलान्येव श्यामपिधानानि परिदधान इत्यर्थः । वेलायाम् तटे सलिलस्य पयसः यत् उद्वेल्लितम् उच्छलनम् तेन दत्तः तालः यस्मै तादृशः । एतत्सर्वं समुद्रस्य विशेषणम्, यत्र नर्तकत्वं निरूप्यते । नवमेघकालः नवाम्बुदश्यामश्च समुद्रः दशदिशः सर्वा अपि दिशः रुध्वा अवरुध्य अवस्तृणाति व्याप्नोति सर्वा अपि दिशो व्याप्यावतिष्ठत इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

निर्दय पक्षियों वाली नदी, मेरे इस प्रणामसे प्रसन्न होओ, अरी प्रियतमे ॥ ५३ ॥

हंस, चक्रवाक, शङ्ख वगैरह गहनोंसे भूषित, करि, मकर तथा काले कमलका आवरण धारण करके, किनारे पर उठने वाली तरङ्गोंसे ताल देदेकर, नवीन मेघके समान श्यामल, प्राची दिशासे आनेवाली हवासे उठने वाले कल्लोल रूप बाहुको

वेलासलिलुव्वेल्लिअहत्थदिण्णतालु
ओत्थरइ दसदिस रुन्धेविणु णवमेहआलु ॥ ५४ ॥)

(चर्चरिकयोपसृत्य जानुभ्यां स्थित्वा)

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः ।
कमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि मानिनि दासजनं यतः ॥ ५५ ॥

अथवा परमार्थसरिदेवैषा । न खलूर्वशी पुरूरवसमपहाय समुद्राभिसारिणी भविष्यति । भवतु । अनिर्वेदप्राप्याणि श्रेयांसि । यावदमुमेव

त्वयि निबद्धरतेरिति । त्वयि त्वद्विषये निबद्धरतेः बद्धानुरागस्य प्रियवादिनः मिष्टभाषिणः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः प्रीतिभङ्गविमुखमानसस्य मम, हे मानिनि, कम् किंस्वरूपम् अपराधलवम् दोषलेशम् पश्यसि वीक्षसे यतः अपराधलेशात्कारणात् दासजनम् तव सेवकभूतं मल्लक्षणम् जनं त्यजसि स्वसंसर्गतो दूरं नयसि । कापि मानिनी कमपि स्वनायकं कुतश्चन कारणादेव जह्यात् तत्र कारणतयाऽनुरागाभावः प्रथमोत्प्रेक्ष्यः समयिनोपपाद्यः, बद्धरतित्वात् , सत्यप्यनुरागे कटुभाषितात्यागकारणं भवितुमर्हति, सापि मयि नारोप्या, प्रियवदनशीलत्वात् , सत्यप्यनुरागे प्रियवादित्वे च प्रणयप्रार्थनापराङ्मुखत्वं तथा भवितुमर्हति, तदपि मयि नास्तिमच्चेतसस्तत्पराङ्मुखत्वादेवं च प्रसिद्धानि त्यागकारणानि मयि नोपपद्यन्तेऽथापि मां त्यजसि तदुचितं ते तत्कारणाभिधानमिति भावः । अत्र षष्ठ्यन्तविशेषणत्रयस्यापराधाभावोपपत्त्याभिप्रायगर्भत्वात्परिकरालङ्कारः । अत्र लवमपीत्यर्थोऽवश्यवाच्यः, अन्यथा लवनिषेधे स्थूलताप्रतीतिप्रसङ्गात्, तेनात्रानभिहितवाच्यत्वाख्यो दोष इति काव्यप्रकाशः । हरिणीप्लुता वृत्तम् ॥ ५५ ॥

परमार्थसरित् = वस्तुतो नदी इयं यथार्थतो नद्येव नतु रूपान्तरं प्राप्तोर्वशीति भावः । अपहाय = परित्यज्य । समुद्राभिसारिणीः = समुद्रगामिनी । अनिर्वेदप्राप्या-

---

उठाकर वह समुद्र मेघरूप अङ्गोंसे मनोहर नृत्य करता हुआ दश दिशाओंको व्याप्त कर रहा है ॥ ५४ ॥

(समीप जाकर और घुटने टेककर)

मैंने सदा तुमपर प्रीति रखी, मीठे वचन कहे, प्रणयभङ्ग करनेसे मैं सदा डरता रहा, फिर इस दासका तुमने कौनसा अपराध देखा जिससे मुझे छोड़ दिया, अरी कोपने, बता तो सही ॥ ५५ ॥

वास्तवमें यह नदी ही है उर्वशी पुरूरवाको छोड़कर समुद्राभिसारिणी नहीं हो सकती है । अच्छा, उदास होकर बैठ जानेसे श्रेयकी प्राप्ति नहीं होती । तब तक

प्रदेशं गच्छामि यत्र मे नयनयोः सुनयना तिरोभूता । (परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त दृष्टमुपलक्षणं तस्या मार्गस्य ।

रक्तकदम्बः सोऽयं प्रियया धर्मान्तशंसि यस्यैकम् ।
कुसुममसमग्रकेसरविषममपि कृतं शिखाभरणम् ॥ ५६ ॥

(विलोक्य) इमं तावत्प्रियाप्रवृत्तिनिमित्तं सारङ्गमासीनमभ्यर्थये ।

कृष्णशारच्छविर्योऽसौ दृश्यते काननश्रिया ।
वनशोभावलोकाय कटाक्ष इव पातितः ॥ ५७ ॥

णि = निर्वेदः आलस्यम्, अनिर्वेदः सततोत्साहः, तेन प्राप्याणि लभ्यानि । श्रेयो लब्धुं कदाप्यालस्यं नाश्रयणीयमिति भावः । श्रेयांसि = इष्टार्थाः । सुनयना = सुन्दराक्षी । नयनयोः तिरोभूता = अदृश्यतां गता । उपलक्षणम् = ज्ञापकं लिङ्गम् ।

रक्तकदम्ब इति । अयम् पुरोवर्त्ती सः रक्तकदम्बः रक्तपुष्पो नीपतरुः यस्य कदम्बस्य धर्मान्तशंसि निदाघावसानसूचकम् एकम् कुसुमम् प्रथमप्रसूतमग्रिमम् पुष्पम् असमग्रकेसरविषमम् असमग्राणि यानि केसराणि तैः विषमम् उन्नतानतम् अपि प्रियया उर्वश्या शिखाऽऽभरणम् मस्तकालङ्करणं कृतम् । अयमसौ रक्तकदम्बतरुः यदीयं वर्षासमयागमसूचकमग्रिममेकं पुष्पं विषमकेसरमपि प्रियया शिरसि स्थापितमित्यर्थः । एतेनानेन वृक्षेण प्रियायाः परिचयो व्यञ्जितः ॥ ५६ ॥

प्रियाप्रवृत्तिनिमित्तम् = उर्वशीसमाचारज्ञानाय । सारङ्गम् = मृगम् । आसीनम् = उपविष्टम् । आस्तेः शानचि आसीन इति रूपम् 'ईदासः' इत्याकारस्येत्वम् ॥

कृष्णशारेति । यः असौ सारङ्गः मृगः कृष्णशारच्छविः कृष्णा नीला शारा कर्बुरा च छविः कान्तिर्यस्य तादृशः नीलकर्बुरकान्तिरित्यर्थः । काननश्रिया कर्त्र्या वनशोभावलोकाय वनलक्ष्मीविलोकनाय पातितः कृष्णशारच्छविः कटाक्षः नेत्रत्रिभाग

वहीं चलता हूँ जहाँ वह सुनयना मेरी आँखोंसे ओझल हुई थी । (चलकर तथा देखकर) अहा, मैंने उसके मार्गका चिह्न पा लिया ।

यह वही रक्तकदम्ब है, वर्षाके आनेकी सूचना देनेवाले और जिसके सभी केसर निकल नहीं सके हैं ऐसे जिसके एक फूलको हमारी प्यारीने माथेपर पहन लिया था ॥ ५६ ॥

(देखकर) अपनी प्रेयसीके विषयमें इस बैठे हुए हरिणसे तब तक पूछूं ।

यह हरिण जो काला तथा चितकबरा है, ऐसा प्रतीत होता है मानो वनलक्ष्मीने वनकी शोभा निरखनेके लिये काली तथा चित्रवर्ण आंखोंको व्यापारित किया हो ॥ ५७ ॥

(चर्चरी)

सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघनस्तनी
स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः ।
गगनोज्ज्वलकानने मृगलोचना भ्रमन्ती
दृष्टा त्वया तद्विरहसमुद्रान्तरादुत्तारय माम् ॥ ५८ ॥

(सुरसुन्दरि जहणभरालस पीणुत्तुङ्गघणत्थणि
थिरजोव्वण तणुसरीरि हंसगइ ।
गअणुज्जलकाणणे मिअलोअणि भमन्ते
दिट्ठी पइं तह विरहसमुद्दन्तरे उत्तारहि मइं ॥ ५८ ॥)

(विलोक्य) किं नु खलु मामवधीरयन्निवान्यतोमुखः संवृत्तः ।
अस्यान्तिकमायान्ती शिशुना स्तनपायिना मृगी रुद्धा ।

इव दृश्यते । अयमर्थः—अयं यः पुरतो मृगः दृश्यते स कृष्णकर्बुरदेहकान्तिरस्ति, तं पश्यतां हृदि वनश्रीनामभ्यक्तिः प्रसृतां काननशोभामीक्षितुं कृष्णशारच्छविं कटाक्षं पातयति, स एवायं न मृग इति बुद्धिरुदेतीति ॥ ५७ ॥

सुरसुन्दरीति । सुरसुन्दरी देवाङ्गना जघनभरालसा श्रोणीभारादलसगमना पीनोत्तुङ्गघनस्तनी पीवरोन्नतनिविडकुचा स्थिरयौवना (देवाङ्गनात्वादेव) अपायि यौवनावस्था तनुशरीरा कृशाङ्गी हंसगतिः मरालगमना मृगलोचना हरिणेक्षणा गगनोज्ज्वलकानने महत्त्वनीलत्वादिसाम्येनाकाशतुल्ये वने यदि त्वया दृष्टा तदा माम् तद्विरहसमुद्रान्तरात् उत्तारय पारं नय । तां दर्शयित्वा मम विरहव्यथां शमयेति भावः ॥ ५८ ॥

अवधीरयन् = तिरस्कुर्वन् । अवधीरणं च वचनाश्रवणानुत्तरणाद्यनुमेयम् । संवृत्तः = जातः ।

अस्यान्तिकमिति । अस्य कृष्णशारच्छविमृगस्य अन्तिकम् समीपम् आयान्ती

हे नदीनाथ, अगर आपने इस आकाशके समान सुन्दर वनमें—देवाङ्गना, मन्दगमना, स्थूल तथा उन्नत स्तनोंवाली, स्थिरयौवना, दुबली देहवाली, हंसगमना, मृगलोचना हमारी प्रियाको घूमते देखा है तो (बताइये और) मुझे इस विरहसमुद्रमें डूबनेसे बचाइये ॥ ५८ ॥

(देखकर) क्या यह मेरी अवहेलना करके दूसरी ओर मुंह फेरकर बैठ गया है । इस मृगके पास आती हुई मृगीको स्तनपायी शावकोंने रास्तेमें घेर लिया है,

तामयमनन्यदृष्टिर्भुग्नग्रीवो विलोकयति ॥ ५९ ॥

हंहो यूथपते !

अपि दृष्टवानसि मम प्रियां वने
कथयामि ते तदुपलक्षणं शृणु ।
पृथुलोचना सहचरी यथैव ते
सुभगं तथैव खलु सापि वीक्षते ॥ ६० ॥

कथमनादृत्य मद्वचनं कलत्राभिमुखं स्थितः । उपपद्यते । परिभवा-

आगच्छन्ती मृगी एतस्मिन्ना हरिणो स्तनपायिना स्तनन्धयेन शिशुना रुद्धा मध्ये निरुद्धा । ताम् अन्तिकमायान्तीम् बालेन स्तनपानप्रवृत्तेन प्रतिबद्धगमनां मृगीम् अनन्यदृष्टिः तदासक्तलोचनः अयम् भुग्नग्रीवः गलितकन्धरः विलोकयति पश्यति । अयमाशयः—अस्य प्रेयसी बद्धभावैतदभिमुखं चलिता, मध्ये च स्तनपः शिशुस्तां प्रतिबद्धगतिं कुरुते, अस्यामेव स्थितावान्तरभावोदयवशात्तद्गतप्राणोऽत एव बाह्यज्ञाननिरपेक्षश्चायं भुग्नग्रीवः सन्नवलोकते ताम्, अतो नायमर्हति वाच्यतामित्याशयः ॥ ५९ ॥

हंहो यूथपते = अयि मृगसमूहपते, हंहोपदं सम्बोधनार्थम्, तद्यथा चन्द्रालोके—'हंहो चिन्मयचित्तचन्द्रमणयः संवर्द्धयध्वं रसान्' इति ॥

अपि दृष्टवानिति । मम प्रियाम् उर्वशीम् वने दृष्टवान् प्रत्यक्षीकृतवान् असि किम् ? अपिरत्र प्रश्ने । ननु तव प्रियां दृष्टवानप्यहं कथं सा मया दृष्टा न वेति प्रतिपद्येय, तत्परिचयाभावादत्राह—ते तुभ्यम् तदुपलक्षणम्, तच्चिह्नं कथयामि ब्रुवे शृणु अवहितः सन्नाकर्णय । ते तव सहचरी पृथुलोचना विशालाक्षीयं सङ्गिनी यथैव सुभगम् अभिरामम् वीक्षते पश्यति तथैव सा मम प्रिया उर्वश्यपि सुभगम् रमणीयं वीक्षते । स्वप्रियादर्शनं त्वया चिरपरिचितं तत्समावलोकना च सेति दर्शनविशिष्टस्त्वमेव तत्परिचय इति भावः ॥ ६० ॥

कलत्राभिमुखम् = स्वस्त्रियाऽध्युषितं देशम् प्रति मुखं कृत्वा । उपपद्यते =

यह मृग उसी अपनी स्त्रीको गरदन टेढ़ी करके एकटक देख रहा है ॥ ५९ ॥

अजी यूथपति ! क्या तुमने हमारी प्रियाको वनमें देखा है, मैं उसके चिह्न बताता हूँ । जिस तरह तुम्हारी पृथुलोचना यह मृगी सुन्दरतासे देखती है वह भी ठीक उसी तरह देखती है ॥ ६० ॥

क्या मेरी बात अनसुनी करके अपनी स्त्रीकी ओर मुंह कर लिया । ठीक है ।

स्पदं दशाविपर्ययः । इतो वयम्—(परिक्रम्य, आलोक्य च) किं नु खलु शिलाभेदान्तरगतं नितान्तरक्तमिदमालोक्यते ।

प्रभालेपो नायं हरिहतमृगस्यामिषलवः
स्फुलिङ्गः स्यादग्नेर्गगनमभिवृष्टं पुनरिदम् ।
(विभाव्य)
अये रक्ताशोकस्तवकसमरागो मणिरयं
यमुद्धर्तुं पूषा व्यवसित इवालम्बितकरः ॥ ६१ ॥

युज्यते । दशाविपर्ययः = भाग्यविपर्यासः । परिभवास्पदम् = तिरस्कारकारणम् । शिलाभेदान्तरगतम् = शिलाशकलमध्यवर्ति । नितान्तरक्तम् = अतिलोहितवर्णम् ॥

प्रभालेपीति । अयम् पुरोदृश्यमानः प्रभालेपी (प्रभया लिम्पति दिशावकाशान् व्याप्नोति इति प्रभालेपी) व्याप्तप्रभः हरिहतमृगस्य केसरिनिहतहरिणस्य आमिषलवः मांसखण्डम् न भवतीति शेषः । यद्यपि हरिणमांसमपि रक्तवर्णं भवति, तथापि तत्प्रभया दिशो न व्याप्नोति, अतोऽयं प्रभासुरो मांसखण्डन्न भवतीत्यर्थः । ननु मास्तु मांसखण्डमिदम् , अग्निस्फुलिङ्गः स्यादिति चेत्तत्राह—अग्नेः वह्नेः स्फुलिङ्गः स्यात् ? (स हि प्रभाशाली भवति) इदम् गगनम् व्योम अभिवृष्टम् अवर्षत् । यद्ययं वह्निकणोऽभविष्यत्तदाऽचिरनिर्वृत्तेन वारिवर्षणेनास्य शान्तिः कृताऽभविष्यत् , ज्वलति चायमतो नायं वह्निस्फुलिङ्गत्वेनापि प्रत्येतुं शक्य इत्याशयः । नन्वेवं किमिदम् ? तद्विभाव्याह—अये इति । अये इतीहाश्चर्ये, तच्चात्र कानने एतादृशमणिदर्शनेन । रक्ताशोकः स्तवकसमरागः रक्ताशोकोऽशोकभेदस्तस्य स्तवकेन कुसुमगुच्छेन समस्तुल्यो रागो रक्तिमा यस्य तादृशः अयम् मणिः रक्ताभतया पद्मरागमणिः । एकस्याशोकपुष्पस्य तावद्रागासंभवात् स्तवकोपादानम् । यमुद्धर्तुम् उद्ग्रहीतुम् पूषा सूर्यः आलम्बितकरः प्रसारितपाणिः (सन्) व्यवसित इव कृतोद्योग-

---

स्थिति बदल जानेपर हर जगह अनादर होता है । इधर चलें । (चलकर, देखकर) शिलाभेदके भीतर अत्यन्त रक्तवर्ण यह क्या है ?

सिंहद्वारा मारे गये मृगका यह मांस नहीं हो सकता है क्योंकि इसकी प्रभा फैल रही है । यह आगकी चिनकारी भी नहीं हो सकती क्योंकि अभी अभी जोरोंकी वर्षा हुई है । (सोचकर) अरे, यह तो रक्ताशोकगुच्छके सदृश लाल कोई मणि है, मालूम पड़ता है इसीको उठानेके लिये सूर्य भगवान् अपना हाथ (कर=किरण) यहाँ तक फैलाये हुए हैं ॥ ६१ ॥

भवतु । हरति मे मनः । आदास्ये तावदेनम् ।

(ग्रहणं नाटयति)

प्रणयिनीबद्धास्वादो बाष्पाकुलनिजनयनः ।
गजपतिर्गहने दुःखितः परि मति ग्लानितवदनः ॥ ६२ ॥

(पणइणिबद्धासाइअओ वाहाउलणिअणओ ।
गअवइ गहणे दूहिअओ परिभमइ खामिअवअणओ ॥ ६२ ॥)

(द्विपदिकयोपसृत्य गृहीत्वा । आत्मगतम्)

मन्दारपुष्पैरधिवासितायां यस्याः शिखायामयमर्पणीयः ।
सैव प्रिया संप्रति दुर्लभा मे किमेनमस्रोपहतं करोमि ॥ ६३ ॥

इव । अयमाशयः—अयमवश्यं पद्मरागमणिः, एतल्लाभेन चैव भास्वान् स्वं किरणरूपं करं प्रसार्योद्युज्ञान इव प्रतीयते, सूर्यस्याप्यत्र जिघृक्षावशादवश्यमयं महामूल्यो मणिरिति ॥ ६१ ॥

हरति = आकर्षति । आदास्ये = ग्रहीष्यामि । एनम् = मणिम् ।

प्रणयिनीति । प्रणयिन्यां प्रियायां बद्धः केन्द्रीकृतः आस्वादः आसक्तिः येन तादृशः, तदेकासक्त इत्यर्थः । बाष्पैः अश्रुभिः आकुले प्लुते निजे नयने यस्य स तथा । ग्लानितवदनः म्लानमुखः दुःखितः खिन्नः गजपतिः करिवरः गहने वने परिभ्रमति इतस्ततश्चङ्क्रमणं विधत्ते । अत्रापि गजान्यापदेशेन स्वावस्थैवोक्ता ॥६२॥

मन्दारेति । मन्दारपुष्पैः पारिजातकुसुमैः अधिवासितायाम् सुगन्धीकृतायाम् यस्याः उर्वश्याः शिखायाम् चूडायाम् अयम् मणिः अर्पणीयः निधातुं योग्यः, सा एव मे प्रिया उर्वशी संप्रति दुर्लभा अदृश्यतां गता । एनम् मणिम् अस्रोपहतम् अश्रुदूषितम् किं करोमि ? किमर्थं विदधामि । यद्यहं प्रियया सहितोऽभविष्यं तदा

यह मेरा हृदय आकृष्ट कर रहा है, मैं इसे ग्रहण करूंगा ।

प्रियतमा पर हृदय वारे, आंखोंमें आंसू लिये, उदास मुंह, दुःखी यह गजपति जङ्गलमें भटक रहा है ॥ ६२ ॥

मन्दार पुष्पोंसे सुवासित अपनी प्यारीके जिन अलकोंमें इसे लगाया जाता, वह प्यारी ही जब मेरे लिये दुर्लभ हो रही है तब आंसूसे धुले इस मणिको लेकर मैं क्या करूंगा ॥ ६३ ॥

(नेपथ्ये) वत्स ! गृह्यतां गृह्यताम् !

सङ्गमनीय इति मणिः शैलसुताचरणरागयोनिरयम् ।
आवहति धार्यमाणः सङ्गममचिरात्प्रियजनेन ॥ ६४ ॥

राजा—(कर्णं दत्त्वा) को नु खलु मामेवमनुशास्ति । (दिशोऽवलोक्य) अये ! अनुकम्पते मां कश्चिन्मृगचारी मुनिर्भगवान् । भगवन् अनुगृहीतोऽस्म्यहमुपदेशाद्भवतः । (मणिमादाय) हंहो संगमनीय !

तया वियुक्तस्य विलग्नमध्यया
भविष्यसि त्वं यदि सङ्गमाय मे ।

मणिमिममादाय मन्दारकुसुमसुवासिते तत्केशपाशे समारोपयिष्यम् मदभाग्येनाधुना सा दुर्लभा रोदिमि चाहमहर्निशं तद्विरहे तदस्य मणेः प्राप्त्यापि मम न किमपि प्रयोजनम् , वृथैवामुमहं नेत्रभवैरम्बुभिर्दूषयिष्यामि, तद्वरमस्यात्र त्याग एवेति भावः ॥ ६३ ॥

सङ्गमनीय इति । सङ्गमनीय इति सङ्गमनीयनामकः शैलसुताचरणरागयोनिः पार्वतीपादोपयुक्तलाक्षारागजन्मा अयं मणिः अस्तीति शेषः । पार्वत्या निजचरणयोर्यो लाक्षाराग उपयुक्तस्तदुद्भवोऽयं मणिरस्तीति मणिपरिचयः, सम्प्रति तद्वैशिष्ट्यमाह— आवहतीति । अयम् धार्यमाणः शरीरेण सम्बध्यमानः सन् अचिरात् झटिति प्रियजनेन अभीष्टजनेन सह सङ्गमम् मिलनम् आवहति घटयति । एतस्य धारणेन वियुक्तप्रियजनसमागमः शीघ्रं जायत इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

अनुशास्ति = उपदिशति । मृगचारी = मृगवच्चरतीति मृगचारी, अक्रूरवृत्तिः । अनुगृहीतः = दयितः ।

तयेति । विलग्नमध्यया अतिकृशकटिदेशया तया उर्वश्या वियुक्तस्य बिर-

---

(नेपथ्यमें) वत्स, लेलो, लेलो ।

पार्वतीके चरणरागसे उत्पन्न सङ्गमनीय नामक मणि है यह । इसके धारण करनेसे शीघ्र ही निश्चयपूर्वक प्रियजनसे भेंट होती है ॥ ६४ ॥

राजा—(कान देकर) कौन मुझे इस तरह समझा रहा है ? (चारो ओर देखकर) अहा ! कोई मृगवृत्ति तपस्वी मुनि हमारे ऊपर कृपा कर रहे हैं । भगवन्, आपके इस उपदेशसे मैं कृतार्थ हो गया । (मणि लेकर) अजी संगमनीय,

यदि तुम प्रियाविरहसे पीड़ित मुझ अभागेके लिये प्रियासङ्गम-कारक सिद्ध

ततः करिष्यामि भवन्तमात्मनः
शिखामणिं बालमिवेन्दुमीश्वरः ॥ ६५ ॥

(परिक्रम्यावलोक्य च)

अये किं नु खलु कुसुमरहितामपि लतामिमां पश्यतो मे रतिरुपलब्धा । अथवा स्थाने मनोरमा ममेयम् । इयं हि—

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा ।

हितस्य मे मम यदि त्वं सङ्गमाय तया सह समागमाय भविष्यसि तर्हि ततस्तस्मात् कारणात् भवन्तम् आत्मनः शिखामणिम् मस्तकालङ्कारम्—ईश्वरः शिवः बालम् नवोदयम् इन्दुम् शशिनम् इव—करिष्यामि । अयमाशयः—अयि सङ्गमनीयमणे ! यदि तव प्रभावात् अहं तयोर्वश्या सङ्गमं प्राप्नुयां तथा सति शिवः शशिकलामिव त्वामहं शिरोभूषणतां नयेयमिति । अत्र शिरोभूषणताप्रदानं गौरवातिशयसूचनाय ॥ ६५ ॥

कुसुमरहिताम् = अपुष्पाम् । रतिरुपलब्धा = प्रीतिः प्राप्ता । सामान्यतस्तु पुष्पितैव लता मनो हरति द्रष्टुः, मम पुनरियं कुसुमरहितापि, तदत्रास्ति, कश्चिद्विशेष इति भावः । स्थाने=युक्तम् । मनोरमा=मनोहरा, एतत्कृतं मन्मनोहरणं युक्तमेवेत्यर्थः, तस्य युक्तत्वे च हेतुमग्रिमश्लोकेऽभिधास्यति ।

तन्वीति । तन्वी विरला कृशाङ्गी च मेघजलार्द्रपल्लवतया मेघजलेन वर्षावारिणा आर्द्राः सिक्ताः पल्लवाः पत्राणि यस्याः सा मेघजलार्द्रपल्लवा तस्या भावो मेघजलार्द्रपल्लवता तया अश्रुभिः नेत्रवारिभिः धौताधरा क्षालितोष्ठा इव । स्वकालविरहात् पुष्पोदयकालाभावात् विश्रान्तपुष्पोद्गमा विरतपुष्पप्रादुर्भावा आभरणैः अलङ्कारैः शून्या रहिता इव । मधुलिहां भ्रमराणाम् शब्दैः गुञ्जनैः विना चिन्ता-

हुए तो तुम्हें मैं अपने शिर पर रखा करूंगा जैसे बालचन्द्रको शिवजी अपने शिरपर रखते हैं ॥ ६५ ॥

(चलकर तथा देखकर)

अहा । इस लतामें फूल नहीं है, फिर भी इसे देखकर मुझे खुशी क्यों हो रही है ? मालूम पड़ता है ठीक ही इसने मेरा हृदय हर लिया है, यह—

यह लता दुबली है, मेघसे इसके पत्ते धुल गये हैं मानो अश्रुबिन्दुसे ओठ धुल गया हो, उचित समयके अभावमें इसमें फूल नहीं है मानो गहने उतार फेंके हों,

चिन्तामौनमिवास्थिता मधुलिहां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥ ६६ ॥
यावदस्याः प्रियानुकारिण्याः परिष्वङ्गप्रणयी भवामि ।
(इति लतामालिङ्गति)
लते, प्रेक्षस्व विना हृदयेन भ्रमामि
यदि विधियोगेन पुनस्तां प्राप्स्यामि ।
तदारण्येन विनाकरोमि निर्भ्रान्ति
पुनर्न प्रवेशयामि तां कृतान्ताम् ॥ ६७ ॥

मौनम् चिन्ताकृतं मूकभावमिव आस्थिता गता (इयं लता) पादपतितम् चरणाश्रितम् मामवधूय तिरस्कृत्य जातानुतापा उत्पन्नपश्चात्तापा चण्डीकोपना सा उर्वशी इव लक्ष्यते इत्यन्वयः। इयं लताचरणपतितं मामवमत्य पश्चात्तापमनुविन्दती मम प्रियोर्वशीव लक्ष्यते यतः सा प्रकृत्या तन्वी इयमपि कृशयष्टिः, सा पश्चात्तापप्रवृत्तेनाश्रुणा धौताधारा इयमपि मेघजलार्द्रपल्लवा, साऽऽभरणविरहिता इयमपि पुष्पोद्गमकालाभाववशाद्विरतपुष्पोदया, सा चिन्तामौनमाश्रिता इयमपि पुष्पाभावेन भ्रमरस्वनविनाकृता। अत्र लतायां तत्तत्साम्यमहिम्नानुशयानोर्वशीभ्रमः। 'चण्डस्त्वतिकोपनः' इत्यमरः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६६ ॥

अत्र कार्यान्वेषणाह विरोधनं नाम सन्ध्यङ्गमुपक्षिप्तं भवतीति काव्यवेमः ॥

प्रियानुकारिण्याः = उर्वशीमनुहरन्त्याः परिष्वङ्गप्रणयी = आलिङ्गनरसिकः ।

लते इति। अयि लते प्रेक्षस्व पश्य, अहम् इह वने हृदयेन विना हृदयशून्यः अनवस्थितचित्तः भ्रमामि, यदि विधियोगेन भाग्यवशेन तां प्रेयसीम् पुनः प्राप्स्यामि लप्स्ये तदा निर्भ्रान्ति असंशयम् ताम् अरण्येन विना करोमि, सत्वरमेव वनादस्माद् बहिर्नयामीत्यर्थः, कृतान्ताम् स्वविरहेण पीडादानेन कृतः अन्तः यया तां पुनः कानने न प्रवेशयामि। कृतः अन्तः सुखस्य ययेति वाऽर्थः। यद्वा 'दाहकृत-

भौंरोंके शब्द नहीं हो रहे हैं मानो इसने चिन्तामें चुप्पी साध ली हो, (मुझे ऐसा लगता है कि) हमारी प्रिया उर्वशी मेरे चरणपतनकी उपेक्षा करके पश्चात्ताप कर रही हो (और वही यह लता हो) ॥ ६६ ॥

तब तक इस प्रियानुकारिणीका आलिङ्गन कर लूं।

(लताका आलिङ्गन करता है)

लते, देखो, मैं सूने हृदयको लेकर घूम रहा हूँ, अगर भाग्यवश अपनी

(लए पेक्ख विणु हिअएं भवामि
जइ विहिओएण पुणि तहिं पाविमि ।
ता रण्णे विणु करिमि णिब्भन्ती ।
पुण णइ मेल्लइ दाहकअन्ती ॥ ६७ ॥)

(इति चर्चरिकयोपसृत्य लतामालिङ्गति । ततस्तदीयस्थानमाक्रस्यैव प्रविष्टोर्वशी)

राजा—(निमीलिताक्ष एव स्पर्शं रूपयित्वा) अये उर्वशीगात्रसंपर्कादिव निर्वृतं मे शरीरम् । तथापि न पुनरस्ति विश्वासः ।

कुतः—

समर्थये यत्प्रथमं प्रियां प्रति
क्षणेन तन्मे परिवर्तते ऽन्यथा ।

न्ताम्' इति पाठः, तत्र संयोगे दाहं कृन्ततीति दाहकृत् ताम्, वियोगे दाहं करोतीति दाहकृत् तामित्यर्थः ॥ ६७ ॥

निमीलिताक्षः=मुद्रितनयनः, नेत्रविकासे तु साक्षादेवोर्वशीं पश्येत्ततश्चाग्रेवनोक्तिरसङ्गता स्यात् । उर्वशीगात्रसम्पर्कादिव=यथोर्वशीगात्रं मया स्पृष्टं स्यात्तथा । निर्वृतम्=अपगतसन्तापम् । न पुनरस्ति विश्वासः=चित्ते तु न तत्सम्पर्कप्रत्ययः, तत्र कारणमग्रेतनश्लोके वक्ष्यति ।

समर्थय इति । यद्यत् अंशुकनूपुररवादिकम् प्रथमम् पूर्वम् प्रियाम् प्रति प्रेयसीसम्बन्धित्वेन समर्थये संभावयामि तत्तत् क्षणेन तत्कालम् मे मम कृते अन्यथा विपरीतभावेन इन्द्रगोपयुतशाद्वलहंसकूजिताद्यात्मना परिवर्त्तते विपरिणमते । इतः पूर्वं यत्तद्वस्त्रनूपुररवादिकमुर्वशीसंबन्धि समभावयं तत्तत् विविच्य निरीक्षयमाण-

---

प्यारीको पालूंगा तो निःसन्देह उसे वनसे कभी कभी सरोकार नहीं होने दूंगा, उसे कभी भी वनमें नहीं बैठने दूंगा ॥ ६७ ॥

(लतासे लिपट जाता है और लताकी जगह उर्वशीका प्रवेश)

राजा—(आंखे बन्द किये ही स्पर्शका अनुभव करके) अहा । मुझे मालूम पड़ता है कि उर्वशीकी देहका संपर्क हो गया हो, मुझे बड़ी शान्ति मिल रही है, फिर भी विश्वास नहीं होता है ।

क्योंकि—

पहले मैं जिसको अपनी प्यारी समझता था, वही मेरे लिये दूसरी चीजके

अतो विनिद्रे सहसा विलोचने
करोमि न स्पर्शविभावितप्रियः ॥ ६८ ॥

(शनैश्चक्षुषी उन्मील्य) कथं सत्यमेव प्रियतमा ।

उर्वशी—(बाष्पं विसृज्य) जयतु जयतु महाराजः । (जेदु जेदु महाराओ)

राजा—

त्वद्वियोगोद्भवे तन्वि मया तमसि मज्जता ।
दिष्ट्या प्रत्युपलब्धासि चेतनेव गतासुना ॥ ६९ ॥

मिन्द्रगोपयुतशाद्वलहं सकृजिताद्यात्मना परिणतं सन्मम धैर्यमनाशयन्निति पूर्वार्द्ध-प्रतिपाद्यम् । अतः ('बालः पायसदग्धो दध्यपि ननु फूत्कृतं भुङ्क्ते' इति न्यायेन) स्पर्शविभावितप्रियः स्पार्शनप्रत्यक्षनिश्चितप्रेयसीकः (अहम्) सहसा अकस्मात् लोचने नयने विनिद्रे उन्मीलिते न करोमि न करिष्यामि । यथा पूर्वमहं दैवेना-वञ्चितः तथैव यद्यधुना लोचनविकासे कृते स्पृश्यमाना प्रेयसी किञ्चिदन्यभावेन परिवर्त्तेत तदास्मादधुनोपलभ्यमानात् प्रियास्पर्शसुखाद् वञ्चितः स्यां, तच्च महद-निष्टमतो वरं मम मुद्रितलोचनतयाऽवस्थानं न प्रियादिदृक्षया नेत्रविकास इति भावः ॥ ६८ ॥

उन्मील्य = विकास्य प्रियतमा = उर्वशी ।

बाष्पं विसृज्य = रुदित्वा ।

त्वद्वियोगोद्भव इति । हे तन्वि कृशाङ्गि त्वद्वियोगोद्भवे त्वद्विप्रयोगजनिते तमसि शोके मज्जता पतता मया दिष्ट्या भाग्योदयेन (त्वम्) गतासुना मूर्च्छितेन मुमू-र्षुणा वा चेतना संज्ञा इव प्राप्तासि । यथा कश्चन म्रियमाणदशायां मूर्च्छापतितो भाग्योदयेन पुनः संज्ञां प्रतिपद्यते, तद्वदहं त्वद्वियोगजनिते शोके मज्जन् भाग्यव-शात् त्वामधिगतवानस्मीत्यर्थः । उपमा शोकाधिक्यव्यञ्जनाय । 'मज्जता' पदमनु-पायताप्रतिपत्त्यर्थम् ॥ ६९ ॥

रूपमें बदल जाता था । अतः इस स्पर्श सुखका अनुभव करता हुआ मैं हठात् आंखें नहीं खोलूंगा ॥ ६८ ॥

(धीरे धीरे आंखें खोलकर) क्या सचमुच मेरी प्यारी है ?

उर्वशी—(रोकर) जय हो महाराजकी, जय हो ।

राजा—तुम्हारे वियोग से जनित दुःखमें मैं डूब रहा था कि भाग्यवश तुम मिल गई जैसे मुर्देको चेतना मिल जाय ॥ ६९ ॥

(अनन्तरे चर्चरी)

मयूरः परभृद्धंसो रथाङ्गोऽलिर्गजः पर्वतः सरित्कुरङ्गः ।
तव कारणेनारण्ये भ्रमता को न खलु पृष्टो मया रुदता ॥ ७० ॥

(मोरा परहुअ हंस रहंग अलि गअ पव्वअ सरिअ कुरंगम ।
तुज्झह कारणे रण्ण भमन्ते को ण हु पुच्छिअ मइ रोअन्ते ॥ ७० ॥)

उर्वशी—अभ्यन्तरकरणया मया प्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तः खलु महाराजः ।
(अब्भन्तरकरणाए मए पच्चक्खीकिदवुत्तन्तो खु महाराओ)

राजा—अभ्यन्तरकरणयेति न खलु ते वचनार्थमवैमि ।

उर्वशी—कथयिष्यामि । एतत्तावत्प्रसीदतु महाराजो यन्मया कोपवशं गतयैतदवस्थान्तरं प्रापितो महाराजः । (कहइस्सं । इमं दाव पसीददु

मयूर इति । तव कारणेन त्वाम् अन्वेष्टुम् अरण्ये वने भ्रमता मया (त्वामनासाद्य) रुदता अश्रु मुञ्चता मयूरः शिखी, परभृत् कोकिलः, हंसः मरालः, रथाङ्गः चक्रवाकः, अलिः भ्रमरः, गजः करी, पर्वतः गिरिः, सरित् नदी, कुरङ्गः मृगः, (एवं प्रकारेण क्रमशः) को न पृष्टः, सर्वोऽपि त्वद्विषये जिज्ञासित इत्याशयः । एतेनार्त्याधिक्यं व्यञ्जितम् ॥ ७० ॥

अभ्यन्तरकरणया = अन्तर्गूढेन्द्रियगणया, अन्तःसंज्ञावत्येत्यर्थः । प्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तः = दृष्टवृत्तः । लताभावेन परिणताया अपि ममान्तःसंज्ञाऽव्याहताऽवर्त्तत, येन त्वदीयमखिलमपि कष्टमयं वृत्तान्तमहमज्ञासिषम्, अतो नास्ति कथनप्रयोजनमिति भावः ॥

'अभ्यन्तरकरणयेति न खलु ते वचनार्थमवैमि' = अभ्यन्तरकरणयेति त्वदुक्तेः कोऽभिप्राय इति न वेद्मि । 'एतत्तावत्' इत्यस्य क्षन्तुमिति शेषः ।

कोपवशंगतया=कोपाधीनया एतदवस्थान्तरम् = एतादृशीं दशाम् । प्रापितः =

प्रिये, मयूर, कोयल, चक्रवाक, हाथी, भ्रमर, पर्वत, नदी, मृग, तुम्हारे लिये जङ्गलमें घूमघूमकर मैंने रोरोकर किससे नहीं पूछा ॥ ७० ॥

उर्वशी—मेरी अन्तः इन्द्रियाँ बची थीं, इसलिये मैं महाराजकी दशासे परिचित हूँ ।

राजा—'अन्तः इन्द्रियाँ बची थीं तुम्हारे इस कथनका अभिप्राय नहीं समझ सका ।

उर्वशी—कहूंगी । आप इतनी दया करें कि क्रोधाविष्ट होकर महाराजकी

महाराओ जं मए कोववसं गदाए एदं अपथ्थन्तरं पाविदो महाराओ)

राजा—कल्याणि न तावदहं प्रसादयितव्यः । त्वद्दर्शनादेव प्रसन्नबाह्यान्तःकरणोऽन्तरात्मा । कथय कथमियन्तं कालमवस्थिता मया विना भवती ।

उर्वशी—शृणोतु महाराजः । भगवता कुमारेण शाश्वतं कुमारव्रतं गृहीत्वाऽकलुषो नाम गन्धमादनकच्छोऽध्यासितः कृतश्चैष विधिः । (सुणादु महाराओ । भअवदा कुमारेण सासदं कुमारवदं गेण्हिअ अकलुसो णाम गन्ध मादणकच्छो अज्झासिदो किदो अ एस विही)

राजा—क इव ।

उर्वशी—यैतं प्रदेशं स्त्री प्रवेक्ष्यति सा लताभावेन परिणंस्यति । गौरी-

---

गमितः । मम कोपादेव महाराजस्येयमवस्था, तत्क्षाम्यतु महाराजो ममापराधं प्रसद्येति तत्प्रार्थनाशयः ॥

प्रसन्नबाह्यान्तःकरणोऽन्तरात्मा = मम चक्षुरादीनि बाह्येन्द्रियाणि अन्तःकरणं च प्रसन्नमेव त्वद्दर्शनमात्रेण, न मम प्रसादनाय भवत्या यतितव्यम् , आत्मनस्तुदशां कथयतु भवती, कथमियन्तं कालं यावत् भवती मया विरहिता स्थितेति प्रघट्टकार्थः।

कुमारेण = कार्त्तिकेयेन । शाश्वतम् = अभङ्गुरम् , नित्यम् । कुमारव्रतम् = अदारपरिग्रहप्रतिज्ञाम् गन्धमादनकच्छः = गन्धमादनाख्यपर्वतस्य जलप्रायदेशः । 'जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः । विधिः = नियमः ।

एतम् = गन्धमादनकच्छस्याकलुषनामकम् । प्रदेशम् = एकदेशम् । लताभा-

---

मैंने ऐसी दशा करायी इसको क्षमा कर दें ।

राजा—कल्याणि, मुझे मनानेकी आवश्यकता नहीं है, तुम्हें देखकर ही हमारी सभी बाह्य तथा आभ्यन्तर इन्द्रियाँ खुश हो गईं । तुम यह तो कहो—मेरे विना इतनी देर तक तुम रह कैसे सकी ?

उर्वशी—सुनें महाराज, कार्त्तिकेयने सदाके लिये कौमारव्रत धारण करके अकलुष नामक गन्धमादन पर्वतके कच्छको अपना आश्रय बनाया और यह नियम कर दिया ।

राजा—क्या ? कैसा नियम ?

उर्वशी—जो स्त्री उसमें प्रवेश करेगी वह लताके रूपमें परिणत हो जायगी

चरणरागसम्भवं मणिं विना ततो न मोक्ष्यत इति । साहं गुरुशापसंमूढ-हृदया देवतासमयं विस्मृत्यागृहीतानुनया कुमारवनं प्रविष्टा । प्रवेशानन्तरमेव वासन्ती लता संवृत्ता । (जा इमं पदेसं इत्थिआ पविसदि सा लदाभावेण परिणमिस्सदि । गोरीचरणराअसंभवं मणिं विणा तदो ण मुच्चिस्सदित्ति । साहं गुरुसावसंमूढहिअआ देवदासमअं विसुमरिअ अगहिदाणुणआ कुमारवणं पविट्ठा । पवेसाणन्तरं एव्व वासन्ती लदा संवुत्ता)

राजा—प्रिये, सर्वमुपपन्नम् ।

रतिखेदसुप्तमपि मां शयने या मन्यसे प्रवासगतम् ।
सा त्वं प्रिये सहेथाः कथं मदीयं चिरवियोगम् ॥ ७१ ॥

वेन परिणंस्यति = परिवर्त्तिता भविष्यति लतारूपेण । गौरीचरणरागसंभवम् = पार्वतीचरणोपयुक्तलाक्षा प्रभवम् । मणिम् = रत्नम् । गुरुशापसंमूढहृदया = भरतमुनिप्रदत्तशापवशेन मोहितचित्ता । देवतासमयम् = कार्त्तिकेयकृतं नियमबन्धम् । अगृहीतानुनया = त्वदीयमनुनयममन्यमाना । संवृत्ता = जाता ।

सर्वमुपपन्नम् = यत्त्वयोक्तं तत्तथा, न तत्र किमप्यन्यथा ।

रतिखेदेति । प्रिये, या त्वम् शयने शयनीये रतिखेदसुप्तम् निधुवनजनितश्रमवशादुपगतनिद्रम् अपि माम् प्रवासगतम् दूरगतम् मन्यसे उत्प्रेक्षसे, सा त्वम् मदीयम् चिरवियोगम् कथम् सहेथाः मर्षयेः न कथमपि त्वम् मया विरहं दीर्घकालिकं सोढुं शक्नुया यतो रतिखेदसुप्तमपि मां त्वं प्रवासगतं मन्यसे, प्रोषितपतिका यावतीं पीडामनुभवति तावती मम निद्रादशायां तवाभूदतस्तादृग्दीर्घवियोगासहना त्वम्, अतस्त्वं लताभावेन परिणता सत्येव विरहं सोढवती, सति तु चैतन्येऽवश्यं कोपमपाकृत्य त्वं मामालिङ्गेरिति भावः ॥ ७१ ॥

और गौरीचरण रागसे उत्पन्न मणिके बिना उसका उद्धार नहीं होगा । मैं गुरुशापवश अक्लके मारी जानेके कारण देवतावाक्यको भूलकर आपके अनुनयका तिरस्कार करके कुमारके वनमें चली गई, और जाते ही लतामें परिणत हो गई ।

राजा—प्रिये ! सब संभव है ।

प्रियतमें, जब मैं रतिसे थककर सो जाता हूं, तब तुमको ऐसा लगता है मानो मैं प्रवासमें चला गया होऊं, वही तुम मेरे चिर वियोगको कैसे बरदास्त कर सकती ॥ ७१ ॥

इदं तद्यथाकथितं त्वत्संगमनिमित्तं मुनेरुपलभ्य मणिप्रभावादासादिता त्वमस्माभिः । (इति मणिं दर्शयति)

उर्वशी—अहो संगमनीयः । अतः खलु महाराजेनालिङ्गितमात्रैव प्रकृतिस्थास्मि संवृत्ता । (मणिमादाय मूर्धनि वहति) (अम्मो संगमणीओ । अहो खु महाराएण आलिङ्गिदमेत्तव्व पकिदित्थम्हि संवुत्ता)

राजा—एवमेव सुन्दरि, क्षणमात्रं स्थीयताम् ।

स्फुरता विच्छुरितमिदं रागेण मणेर्ललाटनिहितस्य ।
श्रियमुद्वहति मुखं ते बालातपरक्तकमलस्य ॥ ७२ ॥

उर्वशी—प्रियंवद, महान् खलु कालस्तव प्रतिष्ठानान्निर्गतस्य । असू-

---

यथाकथितम्=उपरि वर्णितस्वभावम् । त्वत्सङ्गमनिमित्तम्=त्वदुपलब्धिकारणम् ।
प्रकृतिस्था = पूर्वावस्थानिर्विशेषा ।
एवमेव = मणिं ललाटे धारयन्त्यैव ।

स्फुरतेति । ललाटनिहितस्य अलिके स्थापितस्य (अस्य) मणेः स्फुरता सर्वतः प्रसरता रागेण रक्तकान्त्या विच्छुरितम् विभासितम् इदम् ते तव मुखम् वदनम् बालातपरक्तकमलस्य प्राभातिकसूर्यकरलोहितस्य कमलस्य श्रियं शोभां वहति धारयति । रक्तवर्णेनानेन मणिना रक्ताभतां नीतं तवेदं मुखं बालातपारुणच्छायं कमलमनुकरोतीति भावः । उपमालङ्कारः । आर्याभेदो वृत्तम् ॥ ७२ ॥

प्रियंवद = मिष्टभाषिन् , एतत्संबोधनमत्रात्युपयुक्तम् , राजोर्वशीरूपं प्रशंसति, तत्तस्य प्रियं वचनम् , न भूतार्थं व्याहृतिरित्युर्वशीविशेषणेनानेन विवक्षति । प्रतिष्ठानात् = राजधानीत्वेन कल्पितान्नगरात् , निर्गतस्य । असूयन्ति = दोषमारोप-

---

यही तथाकथित वह संगमनीय मणि है, इसे मैंने मुनिसे पाया और इसीके प्रभावसे मुझे तुम मिल सकी । (मणि दिखलाता है)

उर्वशी—अहा, यही सङ्गमनीय मणि है, इसीलिये महाराजने आलिङ्गन किया ही था कि मैं जैसीकी तैसी हो गई । (मणिको माथेपर रखती है)

राजा—सुन्दरि, कुछ देर इसी तरह रहो—

ललाटपर रखे गये इस मणिके रागसे प्रदीपित यह तुम्हारा मुख बाल रविकी लाल किरणोंसे उद्भासित कमलकी शोभा धारणकर रहा है ॥ ७२ ॥

उर्वशी—प्रियंवद, आपको राजधानीसे निकले बहुत दिन हो गये, प्रजायें

यन्ति मह्यं प्रकृतयः । तदेहि । निवर्तावहे । (पिअंवद महन्तो खु कालो तुह पइट्ठाणादो णिग्गदस्स । असूअन्ति मं पकिदिओ । ता एहि । णिवुत्तम्ह)

राजा—यदाज्ञापयति भवती ।

उर्वशी—कथं महाराजो गन्तुमिच्छति । (कहं महाराओ गन्तुं इच्छदि)

राजा—

अचिरप्रभाविलसितैः पताकिना
सुरकार्मुकाभिनवचित्रशोभिना ।
गमितेन खेलगमने विमानतां
नय मां नवेन वसतिं पयोमुचा ॥ ७३ ॥

यन्ति । मया सह विहर्तुमियन्तं कालं भवान्प्रतिष्ठानादन्यत्र स्थितस्तमिमं मम दोषं प्रकृतयः प्रकाशयन्तीत्याशयः । 'मह्य'मित्यत्र 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः' इति चतुर्थी । निवर्तावहे = आवां द्वावपि राजधानीं गच्छावः ।

कथम् = केन प्रकारेण । केन यानेन महाराजो गन्तुमिच्छतीति प्रश्नो बोध्यः ।

अचिरेति । हे खेलगमने सलीलपदन्यासे अचिरप्रभाविलसितैः विद्युत्स्फुरणैः पताकिना ध्वजवता सुरकार्मुकाभिनवचित्रशोभिना सुरकार्मुकम् शक्रधनुस्तदेव अभिनवम् चित्रम् आलेख्यम् तेन शोभिना शोभाभृता नवेन पयोमुचा मेघेन विमानतां गतेन यानभावं प्राप्तेन माम् वसतिं स्वां पुरीं नय प्रापय । अयि सलीलगते प्रिये, विद्युत्स्फुरणाभिन्नपताकाशालिना सुरधनुरालेख्यचमत्कृतेन विमानभावं भजता च घनेन माम् आत्मनः पुरीं प्रापयेति भावः । 'पताकावैजयन्ती स्यात् केतनं ध्वजमस्त्रियाम्' इत्यमरः । मञ्जुभाषिणीवृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'सजसाजगौ च यदि मञ्जुभाषिणी' इति ॥ ७३ ॥

हमें कोशती होंगी । चलिये, लौट चलें ।

राजा—आपकी जैसी आज्ञा ।

उर्वशी—महाराज किस प्रकार जाना चाहते हैं ?

राजा—नये मेघ रथ बनें, बिजलीकी चमक उसकी पताका हो, इन्द्रधनुषके चित्र उस रथको सज्जित करें, वही हमारा विमान हो, उसीसे मुझे अपनी राजधानी ले चलो ॥ ७३ ॥

(चर्चरी)

प्रातसहचरीसङ्गमः पुलकप्रसाधिताङ्गः ।
स्वेच्छाप्राप्तविमानो विहरति हंसयुवा ॥ ७४ ॥

(पाविअसहअरीसंगमओ पुलअपसाहिअअंगओ ।
सेच्छापत्तविमाणओ विहरइ हंसजुआणओ ॥ ७४ ॥)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति चतुर्थोऽङ्कः

प्राप्तेति । प्राप्तसहचरीसङ्गमः समासादितप्रियासमागमसुखः पुलकप्रसाधिताङ्गः रोमाञ्चभूषिततनुः स्वेच्छाप्राप्तविमानः निजेच्छया व्योम्नि विहरन् हंसयुवा विहरति क्रीडति । अत्र हंसान्योक्त्या राज्ञः प्रसादावस्थोक्ता ॥ ७४ ॥

इति मैथिलपण्डित श्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते विक्रमोर्वशीय 'प्रकाशे'
चतुर्थाङ्क 'प्रकाशः' ।

प्रियाका सङ्गम लाभकर रोमाञ्चसे शरीरको सजाकर यथेच्छ विमान पर आरूढ़ हो हंसयुवा क्रीड़ा कर रहा है ॥ ७४ ॥

(सबका प्रस्थान)

चतुर्थ अङ्क समाप्त ।

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति परितुष्टो विदूषकः)

विदूषकः—दिष्ट्या चिरस्य कालस्योर्वशीसहायो नन्दनवनप्रमुखेषु देवतारण्येषु विहृत्य प्रतिनिवृत्तः प्रियवयस्यः। इदानीं ससत्कारोपचारैः प्रकृतिभिरनुरज्यमानो राज्यं करोति। असंतानत्वं वर्जयित्वा न किमप्यस्य

अधुना यथा स्वस्थानमुपाक्षिप्ता मुखसन्ध्यादिरूपा अनेकेऽर्था योज्या अतस्तत्साधनरूपो निर्वहणसन्धिभूतः पञ्चमोऽङ्क आरभ्यते। निर्वहणसन्धिं लक्षयति दशरूपककारः— बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्' ॥

सुधाकरे तु—मुखसन्ध्यादयो यत्र विकीर्णा बीजसंयुताः।
यद्वा प्रयोजनं यान्ति तन्निर्वहणमुच्यते ॥

अस्य सन्धित्वं च कार्यफलयोगकृतम्, कार्यलक्षणमाह मातृगुप्ताचार्यः—
'यदाधिकारिकं वस्तु सम्बद्धं प्राज्ञैः प्रयुज्यते।
तदर्थो यः समारम्भस्तत्कार्यं कथ्यते बुधैः ॥

फलयोगलक्षणं यथा—
'अभिप्रेतं समर्थञ्च प्रतिरूपं क्रियाफलम्।
इतिवृत्तं भवेद्यस्मिन् फलयोगः स उच्यते' ॥

अस्य फलयोगस्य चतुर्दशाङ्गानि, तदुक्तम्—
'सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम्।
प्रसादानन्दसमयाः कृतिर्भावोपगूहनम्' ॥
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश' ॥

परितुष्टः=प्रसन्नः, प्रसादश्च राज्ञो राजधानीसमागमेन। दिष्ट्या=आनन्दे, 'दिष्ट्या समुपजोषञ्चे'त्यानन्दे। चिरस्य कालस्य=चिरकालात्परतः। नन्दनप्रमुखेषु=नन्दनप्रधानेषु। देवतारण्येषु=देवैरध्युषितेषु वनेषु। विहृत्य=क्रीडाः कृत्वा। प्रतिनिवृत्तः=परावृत्तः। ससत्कारोपचारैः=सत्कारेण आदरेण सहिताः ये उपचाराः चन्दनसेकपुष्पवित्तेपादयः, तैः। (करणैः) प्रकृतिभिः=प्रजाभिः अनु-

---

(प्रसन्न मुद्रामें विदूषकका प्रवेश)

विदूषक—हमारे सौभाग्यसे बहुत दिन पर्यन्त उर्वशीके साथ नन्दनवन प्रभृति देवारण्योंमें विहार कर प्रियवयस्य राजधानी लौटे हैं। इस समय प्रजाओं

हीनम् । अद्य तिथिविशेष इति भगवत्योर्गङ्गायमुनयोः संगमे देवीभिः सह कृताभिषेकः सांप्रतमुपकार्यां प्रविष्टः । तद्यावत्तत्रभवतोऽलंक्रियमाणस्यानुलेपनमाल्ये अग्रभागी भवामि । (दिट्ठिआ चिरस्स कालस्स उव्वसीसहाओ णन्दनवणप्पमुहेसु देवदारण्णेसु विहरिअ पडिणिवुत्तो पिअवअस्सो । दाणिं ससक्कारोवआरेहिं पक्खिदोहिं अणुरज्जन्तो रज्जं करेहि । असंताणत्तणं वज्जिअ ण किंचि से हीणं । अज्ज तिहिविसेसोत्ति भअवदीणं गङ्गाजउणाणं संगमे देवीहिं सह किदाहिसेओ संपदं उवआरिअं पविट्ठो । ता जाव तत्तभवदो अलंकरीअमाणस्स अणुलेवणमल्ले अग्गभागी होमी) (इति परिक्रामति)

(नेपथ्ये)

हा धिक् हा धिक् । दुकूलोत्तरच्छदे तालवृन्ताधारे निक्षिप्य नीय-

---

रज्यमानः = आराध्यमानः । चिरकालादर्शनकृतोत्सुकभावाभिः प्रजाभिः पताकोच्छ्रयपुष्पवृष्ट्यादिप्रसन्नताद्योतककर्मभिरभिनन्द्यमान इत्यर्थः । असन्तानत्वम्=अपत्यराहित्यम् । हीनम् = न्यूनम् । अस्य राज्ञः सर्वमेव प्रशंसनीयं केवलं सन्तानराहित्यमेवैकं शोच्यमित्यर्थः । तिथिविशेषः = पुण्यतिथिः । कृताभिषेकः = कृतस्नानः । देवीभिः = स्वस्त्रीभिः । यद्यपि 'देवीकृताभिषेकायाम्' इत्यमरेण देवीशब्दस्य प्रधानमहिष्येवार्थस्तस्याश्चैकत्वाद्बहुवचनमयुक्तं, तथाप्यत्र देवीशब्दस्य सामान्यतः स्त्रीवाचित्वाभिप्रायेणायं प्रयोगो ज्ञेयः । उपकार्याम् = पटभवनम् , 'उपकार्या उपकारिकेति मूलामरग्रन्थव्याख्यावसरे उपकार्या पटभवनम्' इति क्षीरस्वामी । अलङ्क्रियमाणस्य = स्रक्चन्दनादिभिर्मण्ड्यमानस्य । अनुलेपनमाल्ये = अनुलेपनसहिते माल्ये । अनुलेपनम् = घृष्टचन्दनादि, माल्यम् = सुरभिपुष्पहारादि । अग्रभागी = प्रथमभागग्राही, ब्राह्मणत्वाद्राजप्रियत्वाच्चास्मै प्रथमं दीयते भागः, तत्सौभाग्यगर्वव्यञ्जिकेयमुक्तिः ॥

'हा धिक् हा धिक्' इदं संभ्रमं खेदं च व्यञ्जयति । दुकूलोत्तरच्छदे=दुकूलं क्षौममुत्तरच्छद आवरणं यस्य तादृशे क्षौमाच्छादित इत्यर्थः । तालवृन्ताधारे = ताल-

---

द्वारा सत्कार पूजा पाते हुए राज्य कर रहे हैं । अनपत्यताके अतिरिक्त कोई त्रुटि इनको नहीं है । आज कोई खास पर्व है इसलिये गङ्गा-यमुनाके सङ्गमपर देवियोंके साथ स्नान करके पटमण्डपमें गये है । वहाँ उन्हें चन्दन-माल्यसे अलङ्कृत किया जाता होगा, तब तक चलकर हम भी उसमें शामिल हो जांय । (जाता है)

(नेपथ्यमें)

हाय ! हाय !! झालरदार पंखेपर रखकर मणिको लेजा रहे थे, जो अन्तः-

मानो मया भर्तुरभ्यन्तरविलासिनीमौलिरत्नयोग्यो मणिरामिषशङ्किना गृध्रेणाक्षिप्तः । (हद्धी हद्धी । दुऊलुत्तरच्छदे तालवेण्टाधारे णिक्खिविअ णीअमाणो मए भइणी अब्भन्तरविलासिणीमोलिरअणजोग्गो मणी आमिससङ्किणा गिद्धेण अक्खित्तो)

विदूषकः—(कर्णं दत्त्वा) अत्याहितम् । परं बहुमतः खलु स वयस्यस्य संगमनीयो नाम चूडामणिः । अतः खल्वसमाप्तनेपथ्यस्तत्रभवानासनादुत्थायेत एवागच्छति । यावदेनमुपसर्पामि (अच्चाहिदं । परं बहुमदो क्खु सो वअस्सस्स संगमणीओ णाम चूडामणी । अदो खु असमत्तणेवच्छो तत्तभवं आसणादो उट्ठिअ इदो एव्व आअच्छदि । जाव णं उवसप्पामि)

(ततः प्रविशति सावेगपरिजनो राजा)

राजा—

आत्मनो वधमाहर्ता क्वासौ विहगतस्करः ।

दुन्ताभिन्ने पात्रे, तालपत्रपुटके वा । भर्त्तुः = राज्ञः अभ्यन्तरविलासिनीमौलियोग्यः = अन्तःपुरस्थललनारत्नोपभोग्यः । आमिषशङ्किना = मांसखण्डभ्रमेण । आक्षिप्तः = उत्क्षिप्य नीतः ॥

अत्याहितम् = महद्भयम्, अत्यनिष्टमुपस्थितमित्यर्थः । बहुमतः = सातिशयस्नेहस्थानम् । वयस्यस्य = मम मित्रस्य राज्ञः । चूडामणिः = मस्तकभूषणभूतं रत्नम् । असमाप्तनेपथ्यः = अनवसितप्रसाधनः । एनम् = इत एवागच्छन्तम् प्रियवयस्यं राजानम् । 'नेपथ्यन्तु प्रसाधने' इति हैमः ।

सावेगपरिजनः = व्यग्रेण किमिदानीं कर्त्तव्यमिति चिन्तापरायणेन परिजनेन भृत्यादिना युक्तः ।

आत्मन इति । आत्मनः स्वस्य वधम् प्राणनाशम् आहर्त्ता गृध्नुः (स्वस्य प्राणा-

---

पुरिकाओंके मस्तकालङ्करणके योग्य था, मध्यमार्गमें किसी गृद्धने उस मणिको झपटलिया, उसने समझा कि मांसखण्ड है ।

विदूषक—(सुनकर) महा अनर्थ हुआ ! उस सङ्गमनीय मणिको महाराज बहुत चाहते थे, इसीलिये बिना सजावट समाप्त किये ही महाराज आसनसे उठकर इधर ही आते हैं । तब तक उनके पास चलूं ।

(उद्विग्न परिजनके साथ राजाका प्रवेश)

राजा—वह पक्षी चोर कहाँ है जिसने रक्षकके घरमें ही चोरी करके अपने

येन तत्प्रथमं स्तेयं गोप्तुरेव गृहे कृतम् ॥ १ ॥

किराती—एष एष खलु मुखकोटिलग्नहेमसूत्रेण मणिनाऽऽलिखन्निवाकाशं परिभ्रमति । (एसो एसो खु मुहकोडिलग्गहेमसुत्तेण मणिणा आलिहन्तो विअ आआसं पडिब्भमदि)

राजा—पश्याम्येनम् ।

असौ मुखालम्बितहेमसूत्रं बिभ्रन्मणिं मण्डलचारशीघ्रः ।
अलातचक्रप्रतिमं विहंगस्तद्रागरेखावलयं तनोति ॥ २ ॥

नां वधमेवायं गृध्रो हरति, न मणिम्, एतेन मणिहरणेन तन्नाश एव भावी न मणिलाभ इति भावः) असौ विहगतस्करः पक्षिचौरः क्व कुत्रदेशे वर्त्तत इति शेषः । येन विहगतस्करेण तत्प्रथमम् इदम्प्रथमम् अभूतपूर्वम् स्तेयम् चौर्यकर्म गोप्तुः रक्षकस्य (राज्ञः) एव गृहे भवने कृतम् विहितम् । राज्ञ एव भवने कदापीतः पूर्वमजातपूर्वं चौर्यं येन विहगेन कृतं सः क्वेत्यर्थः ॥ १ ॥

मुखकोटिलग्नहेमसूत्रेण = चञ्चुप्रलग्नसुवर्णसूत्रेण । आलिखन् = उल्लिखन् । सुवर्णसूत्रबद्धेन मणिना चञ्चुपुरोदेशे स्थितेन व्योमनि कषपाषाणनिभे रेखामिव लिखन्नित्यर्थः ।

असाविति । असौ विहंगः पक्षी गृद्ध्रः मण्डलचारशीघ्रः मण्डलाकारभ्रमणधृतत्वरः मुखालम्बितहेमसूत्रम् चञ्चूकोटिलग्नसुवर्णसूत्रम् मणिम् सङ्गमनीयनामकम् रत्नम् बिभ्रत् धारयन् अलातचक्रप्रतिमम् अलातम् ज्वलत्काष्ठम् तस्य चक्रम् वलयम् तत्प्रतिमम् तत्तुल्यम् तद्रागरेखावलयम् मणिरागरेखामण्डलम् तनोतु करोति । मुखे संसक्तहेमसूत्रं मणिमादाय भ्रमन्नयं गृद्ध्रो नभसि शीघ्रं नभसि मण्डलाकारेण भ्रमन् ज्वलत्काष्ठवलयभ्रममुत्पादयति दर्शकानामिति भावः । वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ २ ॥

वधको निमन्त्रित किया है ॥ १ ॥

किराती—यही यही चोंचमें सोनेकी जञ्जीरमें लटकता हुआ रत्न लिये आकाशको चित्रित करता घूम रहा है ।

राजा—मैं उसे देखता हूं,

वह सोनेकी जञ्जीरमें बंधे मणिको मुंहमें रखकर मण्डलाकार भ्रमणकर रहा है । उसके भ्रमणकी शीघ्रतासे पैदा होनेवाली रागरेखा आकाशमें अलात चक्रका भ्रम पैदा कर रही है ॥ २ ॥

किं नु खलु कर्त्तव्यम् ।

विदूषकः—(उपेत्य) अलमत्र घृणया । अपराधी शासनीयः । (अलं एत्थ घिणाए । अवराहो सासणीओ)

राजा—सम्यगाह भवान् । धनुर्धनुस्तावत् ।

(निष्क्रान्ता धनुर्ग्राहिणी यवनी)

राजा—वयस्य न दृश्यते विहंगः ।

विदूषकः—इतो दक्षिणान्तेनापगतः शासनीयः कुणपभोजनः । (इदो दक्खिणन्तेण अवगदो सासणीओ कुणवभोअणो)

राजा—(परिवृत्यावलोक्य) दृष्ट इदानीम् ।

प्रभापल्लवितेनासौ करोति मणिना खगः ।

किन्तु खलु कर्त्तव्यम्=भ्रमतोऽस्य वधार्थं कीदृश उपायः कर्त्तव्यः, अथवा हन्तव्यो न वाऽयमिति वितर्कः । घृणया=दयया, 'कारुण्यं करुणा घृणा' इत्यमरः । शासनीयः=दण्डनीयः ।

धनुर्ग्राहिणी=धनुः शरासनम् गृह्णाति राज्ञो हस्तात्, यद्वा धनुर्ग्राहयति राज्ञो हस्ते इति विग्रहः । धनुषो रक्षायामवसरे समर्पणे नियुक्तेत्यर्थः । निष्क्रान्ता=धनुरानेतुं गतेत्यर्थः ।

दक्षिणान्तेन=दक्षिणभागेन । अपगतः=अपसृतः । कुणपभोजनः=शवभक्षकः । 'कुणपः शवमस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

प्रभेति । असौ खगः पक्षी गृद्ध्रः प्रभापल्लवितेन दीधित्या सञ्जातपल्लवेन

क्या किया जाय ?

विदूषक—(समीप जाकर) इसपर दया करना व्यर्थ है, अपराधीको दण्ड देना चाहिये ।

राजा—तुम ठीक कहते हो, धनुष, धनुष तो दो ।

(धनुष लिये यवनी निकली)

राजा—मित्र, पक्षी तो नहीं दीखता है ।

विदूषक—इधर दक्षिणकी ओर गया है, उस मुर्दाखोरको दण्ड मिलना ही चाहिये ।

राजा—(मुड़कर देखकर) अब देखा ।

वह पक्षी अशोकके गुच्छके समान कान्तिसे दीपित मणिसे दिशाके मुखको

अशोकस्तबकेनेव दिङ्मुखस्यावतंसकम् ॥ ३ ॥

(प्रविश्य चापहस्ता यवनी)

यवनी—भर्तः एतद्धस्तावापसहितं शरासनम् (भट्टा एदं हत्थावावसहिदं सरासणं)

राजा—किमिदानीं धनुषा । बाणपथमतीतः क्रव्यभोजनः । तथा हि ।

आभाति मणिविशेषो दूरमिदानीं पतत्रिणा नीतः ।
नक्तमिव लोहिताङ्गः परुषघनच्छेदसंयुक्तः ॥ ४ ॥

(कञ्चुकिनं विलोक्य) लातव्य मद्वचनादुच्यतां नागरिकः सायं निवास-

---

किरणोपबृंहितेनेत्यर्थः । मणिना सङ्गमनीयाख्येन रत्नेन अशोकस्तबकेन अशोकपुष्पगुच्छकेन दिङ्मुखस्य दिशावकाशस्य अवतंसकम् कर्णभूषणम् इव करोति सम्पादयति, वियति भ्रमन्नयं गृद्ध्रः प्रभाभासुरेणानेन मणिना दिशोऽवतंसयतीत्याशयः । 'पुंस्युत्तावतंसौ द्वौ कर्णपूरे च शेखरे' इत्यमरः ॥ ३ ॥

हस्तावापसहितम् = ज्याघातादिवारणार्थमुपपुज्यमानं हस्तावापः, तेन युक्तम् । युक्तम् । शरासनम् = धनुः । शराः अस्यन्ते क्षिप्यन्ते येन तत् शरासनम् ॥

बाणपथमतीतः = बाणस्य यावद्दूरं गन्तुं शक्तिस्ततो दूरतरं गतः । क्रव्यभोजनः=मांसभक्षी । 'मांसं पललं क्रव्यमस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

आभातीति । इदानीम् अधुना पतत्रिणा पक्षिणा गृद्ध्रेण दूरम् विप्रकृष्टम् नीतः गमितः मणिविशेषः उत्कृष्टं तद्रत्नम् नक्तं रात्रौ परुषघनच्छेदसंयुक्तः अविरलमेघखण्डसम्पृक्तः लोहिताङ्गः मङ्गलग्रहः इव आभाति प्रकाशते । यथा निशि मेघखण्डसङ्गतस्य मङ्गलग्रहस्यास्पष्टप्रकाशा छाया भवति तथैवाधुना दूरतरं गतस्यास्य मणिश्रेष्ठस्येति भावः । 'अङ्गारकः कुजो भौमो लोहिताङ्गो महीसुतः' इत्यमरः ॥ ४ ॥

'लातव्य' इदं कञ्चुकिनाम । नागरिकः = प्रधाननगरक्षकः । निवासवृक्षाश्रयी=

अलङ्कृत कर रहा है ॥ ३ ॥

(धनुष लिये यवनीका प्रवेश)

यवनी—महाराज, यह रहा हस्तत्राणके साथ शरासन ।

राजा—अब धनुष लेकर क्या होगा ? वह गृद्ध्र तो बाणमार्गसे परे हो गया। क्योंकि—

उस पक्षी द्वारा दूर ले जाया गया वह मणि रातमें घने मेघमण्डलसे आवृत मङ्गल ग्रहकी तरह दीखता है ॥ ४ ॥

(कञ्चुकीकी ओर देखकर) लातव्य, मेरी ओरसे नागरिकों को कह दो कि

वृक्षाश्रयी विचीयतां विहगदस्युरिति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः)

विदूषकः—उपविशतु भवान्सांप्रतम् । क्व गतः स रत्नकुम्भीरको भवतः शासनान्मोक्ष्यते । (उवविसदु भवं संपदं । कहिं गदो सो रअणकुम्भीलओ भवदो सासणादो मुच्चिस्सदि)

राजा—(विदूषकेण सहोपविश्य)

रत्नमिति न मम तस्मिन्मणौ प्रियत्वं विहंगमाक्षिप्ते ।
प्रियया तेनास्मि सखे संगमनीयेन संगमितः ॥ ५ ॥

आश्रयतरुगतः । विचीयताम् = अन्विष्यताम् । विहगदस्युः = पक्षिरूपश्चौरः । अधुनायमतिदूरगतत्वेनाशक्यो मारयितुं, निशि तु कुत्रचिदवश्यमनेनाश्रयो ग्राह्यस्तरौ, तत्रास्यान्वेषणं कार्यं येनायमपराधस्याचरितस्य दण्डं लभेतेति । क्वगतः = कुत्रगतः, न कुत्रापि गत इत्यर्थः । रत्नकुम्भीरकः = रत्नचौरः, मोक्ष्यते = त्रास्यते । सर्वत्रैव भवतः शासनमप्याहतमतः कुत्रापि गतस्य तस्य भवतः शासनात् त्राणं न भावीत्यलं तस्य दूरगतत्वं विभाव्य चिन्तयेति भावः ।

रत्नमिति । हे सखे प्रियविदूषक, विहङ्गमाक्षिप्ते पक्षिणोत्क्षिप्य नीते तस्मिन् मणौ रत्नम्' इति बहुमूल्योऽयं मणिरिति कृत्वा मम प्रियत्वम् स्नेहातिशयः न अस्तीति शेषः, (किन्तु) तेन रत्नेन सङ्गमनीयेन तदभिधानेन प्रियया विरहितया उर्वश्या सङ्गमितः अस्मि । तत्र मणौ मम केवलमियदेव ममत्वकारणं यदहं तत्प्रभावेण वियुक्तप्रेयसीसङ्गमं प्राप्तवानास्मि, तद्बहुमूल्यं रत्नमिति कृत्वा तु नाहं तत्र ममत्ववानिति भावः ॥ ५ ॥

यह पक्षी जब निवास वृक्ष पर जाय तब लोग इसे खोजें ।

कञ्चुकी—जो आज्ञा । (जाता है)

विदूषक—आप अब विश्राम करें, आपके शासनसे वह गृद्ध कहाँ जाकर बच सकता है ?

राजा—(विदूषकके साथ बैठकर) रत्न होनेके कारण उस मणिपर जिसे गृद्ध लेगया है, इतनी ममता नहीं है, प्रियबन्धु, उसी सङ्गमनीय मणिने मुझे प्यारी उर्वशीसे मिलाया है ॥ ५ ॥

विदूषकः—ननु परिगतार्थोऽस्मि कृतो भवता । (णं परिगदत्थोम्हि किदो भवदा)

(ततः प्रविशति सशरं मणिमादाय कञ्चुकी)

कञ्चुकी—जयतु जयतु देवः ।

अनेन निर्भिन्नतनुः स वध्यो बलेन ते मार्गणतां गतेन ।
प्राप्यापराधोचितमन्तरिक्षात्समौलिरत्नः पतितः पतत्री ॥ ६ ॥

(सर्वे विस्मयं रूपयन्ति)

कञ्चुकी—अद्भिः प्रक्षालितो मणिः कस्मै प्रदीयताम् ।

राजा—किराति अग्निशुद्धमेनं कृत्वा पेटकं प्रवेशय ।

परिगतार्थः = विदितार्थः ।

अनेनेति । वध्यः कृतापराधतया हन्तुम् योग्यः स महार्हमणिहर्त्ता पतत्री पक्षी मार्गणताम् बाणभावं गतेन अनेन ते तव बलेन सामर्थ्येन निर्भिन्नतनुः विपाटितशरीरः सन् अपराधोचितम् अपराधानुरूपम् (दण्डम्) प्राप्य आसाद्य अन्तरिक्षात् आकाशात् समौलिरत्नः चूडामणिना सहितः पतितः । यः पक्षी मणिमहरत् स स्वकृतापराधस्य दण्डमिव वधमवाप्य भूमौ रत्नेन सह पतितः, तद्धन्ता चायं बाणः, स चायं बाणस्त्वत्प्रभावस्यैव परिणामः, अनायासेनैव त्वत्प्रभावो बाणभावमाप्य त्वदपराधिनं हत्वा भूमावपातयदित्यहो स्पृहणीयवीर्यता तवेति भावः । 'नमोऽन्तरिक्षं गगनमनन्तं सुरवर्त्मखम्' इत्यमरः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ६ ॥

अद्भिः—जलैः, पर्यायबहुत्वकृतं बहुवचनम् । प्रक्षालितः = धौतः । एतेन ग्रहणयोग्यतोक्ता, किराति = यवनि, इदं संबोधनपदम् । अग्निशुद्धम् = वह्नौ पवित्रीकृतम् । पटेकम् = मञ्जूषाम् । 'पिटकः पेटकः पेटा मञ्जूषा' इत्यमरः ।

विदूषक—आपने सब बातें मुझे बता दी थीं ।

(शर और मणिलिये कञ्चुकीका प्रवेश)

कञ्चुकी—जय हो महाराजकी, जय हो ।

आपका पराक्रम बाण बनकर उस गृद्धको भेद दिया, उसे अपने अपराधका दण्ड मिला, वह पक्षी उस रत्नवरके साथ पृथ्वीपर आगिरा ॥ ६ ॥

(सभी आश्चर्य प्रकट करते हैं)

कञ्चुकी—मणिको पानीसे धो दिया गया है, वह किसे दिया जाय ?

राजा—किराति, उसे अग्निशुद्ध करके वक्षेमें रख दे ।

किराती—यद्भर्ताज्ञापयति । (जं भट्टा आणवेदि) (इति मणिं गृहीत्वा निष्क्रान्ता)

राजा—लातव्य अपि जानीते भवान्कस्यायं बाण इति ।

कञ्चुकी—नामाङ्कितो दृश्यते न तु मे वर्णविचारक्षमा दृष्टिः ।

राजा—तेन ह्युपनय शरम् ।

कञ्चुकी—(तथा करोति)

राजा—(नामाक्षराण्यनुवाच्य सापत्यतां रूपयति)

कञ्चुकी—यावन्नियोगमशून्यं करोमि । (इति निष्क्रान्तः)

विदूषकः—किं भवान्विचारयति । (किं भवं विआरेदि)

राजा—शृणु तावत्प्रहर्तुर्नामाक्षराणि । (वाचयति)

उर्वशीसंभवस्यायमैलसूनोर्धनुर्भृतः ।

नामाङ्कितः = खचितनामाक्षरः । वर्णविचारक्षमा = अक्षरवाचनसमर्था ।

उपनय = मम समीपं प्रापय, अहमेव नामाक्षराणि पठित्वा परिचयं प्राप्तुं यत इति भावः ।

नियोगमशून्यं करोमि = स्वकर्त्तव्यव्यापृतो भवामीत्यर्थः, नियोगः = नियुक्तिः ।

प्रहर्त्तुः = पश्चिहन्तुः ।

उर्वशीति । उर्वशीसंभवस्य उर्वशीगर्भसंभूतस्य ऐलसूनोः इलायाः अपत्यं पुमान् ऐलः पुरूरवाः तस्य सूनुः पुत्रः तस्य धनुर्भृतः धानुष्कस्य द्विषदायुषाम् प्रतिपत्ति-

---

किराती—महाराजकी जैसी आज्ञा । (मणि लेकर जाती है)

राजा—लातव्य, जानते हो किसका बाण है ?

कञ्चुकी—इसपर नाम खुदा है, पर मेरी आँखें पढ़ नहीं सकतीं ।

राजा—तब लाओ तो बाण ।

कञ्चुकी—(देता है)

राजा—(नामाक्षर पढ़कर अपनेको सापत्य मानता है)

कञ्चुकी—तबतक अपने कार्यको करता हूँ । (जाता है)

विदूषक—आप सोचते क्या हैं ?

राजा—मारनेवालेका नामाक्षर सुनो (पढ़ता है)

उर्वशी गर्भसंभूत, पुरूरवाके पुत्र, धनुर्धर, शत्रुप्राणसंहर्त्ता कुमार आयुका

कुमारस्यायुषो बाणः प्रहर्तुर्द्विषदायुषाम् ॥ ७ ॥

विदूषकः—(सपरितोषम्) दिष्ट्या संतानेन वर्धते भवान् । (दिट्ठिआ संताणेण वड्ढदि भव)

राजा—सखे कथमेतत् । अन्यत्र नैमिषेयसत्रादवियुक्तोऽहमुर्वश्या । न च मया गर्भव्यक्तिरालक्षिता । कुत एव प्रसूतिः । किं तु

आविलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुराननच्छायम् ।

जीवनानाम् प्रहर्त्तुः प्रकर्षेण नाशयितुः कुमारस्य बालस्य आयुषः तन्नामकस्य एषः बाणः शरः अस्तीति शेषः ॥ प्रतिपक्षेषु प्रहारस्तदायुः प्रहारपर्यवसायी भवति, तन्नाशफलत्वादत एवेत्थमुक्तम् ॥ ७ ॥

दिष्ट्या = दैवानुकूल्येन । सन्तानेन वर्धते भवान् = भवतः पुत्ररूपा समृद्धिर्जातेत्यर्थः ।

कथमेतत् = मम सुतावाप्तिसौभाग्यं केन प्रकारेणोपपाद्यमित्यर्थः । अवियुक्तः = अपृथग्भूतः, यावन्नैमिषेयं सत्रं निरवर्त्यत तावत एव कालस्य कृते ममोर्वश्या सह विरहो जातः, तावत्येवान्तराले न संभवति सुतजन्मेति भावः । ननु गर्भः पूर्वत आसीत्तत्संभवति तावत्यल्पीयस्यपि समये सुतजन्मेति शङ्कामपनुदति—न चेति । गर्भव्यक्तिः = गर्भचिह्नम् , आलक्षिता = ईषदपि ज्ञाता । कुत एव प्रसूतिः = जन्म, यस्या गर्भचिह्नमपि नालक्षितं तस्याः प्रसूतेः कथं ज्ञानं स्यादिति भावः । विचार्य किञ्चित्स्वल्पं चिह्नं स्मृत्वाह—किन्त्विति=अग्रे वक्ष्यमाणं चिह्नं मया लक्षितं, तत्रैव किमपि रहस्यं स्यादिति भावः ।

आविलेति । तस्याः उर्वश्याः वपुः शरीरम् कतिचिद् दिनानि कियतो वासरान् यावत् केवलम् आविले मलिने पयोधराग्रे चूचुकाग्रे यस्य तादृशम् मलिनीभूतस्तनमुखम् लवलीदलपाण्डुराननच्छायम् लवलीवृक्षपत्रवत्पीताभमुखम् अलसेक्षणम् च (तस्या वपुरभूदिति शेषः) नैमिषेयसत्रात्पूर्वं कियन्ति दिनानि यावत् तस्या वपुषि

यह बाण है ॥ ७ ॥

विदूषक—(खुशीसे) सौभाग्यकी बात है कि आप सन्तानवाले हुए ।

राजा—मित्र, यह बात हुई कैसे ? नैमिषेयसत्रके अलावे मैं उर्वशीसे पृथक् हुआ ही नहीं । मैंने कभी उर्वशीमें गर्भचिह्न नहीं देखे, फिर यह सन्तान आई कहाँ से ? किन्तु—

उसके शरीरमें कुछ दिनों तक इतना परिवर्त्तन मैंने देखा था कि उसके

कतिचिदहानि वपुरभूत्केवलमलसेक्षणं तस्याः ॥ ८ ॥

विदूषकः—मा भवान्सर्वं मानुषीधर्मं दिव्यासु संभावयतु । प्रभावनिगूढानि तासां चरितानि । (मा भवं सव्वं माणुसीधम्मं दिव्वासु संभावेदु । पहावणिगूढाइं ताणं चरिदाइं)

राजा—अस्तु तावदेवं यथा भवानाह । पुत्रसंवरणे किमिव कारणं तत्रभवत्याः ।

विदूषकः—को देवतारहस्यानि तर्कयिष्यति । (को देवदारहस्साइं तक्कइस्सदि)

(प्रविश्य)

मयेमे विशेषा अलक्ष्यन्त, तस्याः स्तनयोरग्रभागयोः श्यामता जाता, वदनच्छायाचलवलीपत्रवत् पीतिमानमभजत, नेत्रयोश्चालस्यं पदमकृतेति । अत्रेदं बोध्यम्—नैमिषेयसत्रकाले राजोर्वश्यावियुक्त आसीदिति स्वयं तेनानुपदमुक्तम्, प्राक् च ततस्तस्या वपुषः स्वरूपमिदं वर्णितम्, तदनेन तद्यागकाल एवोर्वश्याः प्रसूतिकालत्वेन निर्णेतुं शक्यते । गर्भलक्षणं यथाऽत्रोक्तं तत्सम्यगेव, यथाह वाग्भटः—'अश्लेष्टतास्तनौ पीनौ श्वेतान्तौ कृष्णचूचुकौ' इति । सुश्रुतेऽपि 'स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तथा । अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः सम्मीलयन्ते विशेषतः ॥ अकामतश्छर्दयति गन्धादुद्विजते शुभात् । प्रसेकः सदनं चापि गर्भिण्या लिङ्गमुच्यते' इति ॥

मानुषीधर्मम् = मानुषीणां ये धर्माः शरीरकार्श्यादयस्तेषु कञ्चित् । दिव्यासु = स्वरङ्गनासु । प्रभावनिगूढानि = दिव्यस्वरूपसामर्थ्यविशेषात्कारणात् साधारणजनदृगगोचराणि । तासाम् = दिव्याङ्गनानाम् ।

तावदेवम् = यथा भवानाह—मानुषीधर्मो न दिव्या सुसम्भाव्य इति । पुत्रसंवरणे = तनयगोपने । तर्कयिष्यति = अनुमास्यति ।

स्तनाग्र श्यामवर्ण, मुखच्छाया हरफावेरके समान पीताभ तथा आँखें अलसायी हुई हो गई थीं ॥ ८ ॥

विदूषक—दिव्याङ्गनामें मानुषीके समूचे स्वरूपकी आप संभावना न करें । उनके चरित प्रभाववश रहस्य होते हैं ।

राजा—तुम जैसा कहते हो, यही रहे, फिर भी पुत्रके गोपनसे क्या लाभ सोचा उसने ।

विदूषक—देवोंकी बात पर कौन तर्क लड़ावे ।

(प्रवेश कर)

कञ्चुकी—जयतु जयतु देवः। देव, च्यवनाश्रमात्कुमारं गृहीत्वा तापसी संप्राप्ता देवं द्रष्टुमिच्छति।

राजा—उभयमाप्यविलम्बितं प्रवेशय।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः।

(इति निष्क्रम्य चापहस्तेन कुमारेण तापस्या च सह प्रविष्टः)

कञ्चुकी—इत इतो भगवती। (सर्वे परिक्रामन्ति)

विदूषकः—(विलोक्य) किं न खलु स एष तत्रभवान्क्षत्रियकुमारको यस्य नामाङ्कितो गृद्ध्रलक्ष्यवेध्यर्धनाराचः। तथा बहुतरं भवन्तमनुकरोति। (किं ण खु सो एसो तत्तभवं खत्तिअकुमारओ जस्स णामङ्किदो गिद्धलक्खवेधी अद्धणाराओ। तह बहुअरं भवन्तं अणुकरेदि)

राजा—स्यादेवम्। अतः खलु

बाष्पायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन्—

च्यवनाश्रमात् = च्यवनाख्यस्य ऋषेर्वासस्थलभूतादाश्रमात्। आश्रमशब्दस्तपःस्थानमाह—तथा च विग्रहः—आसमन्तात् श्राम्यन्ति तपसा कायं क्लेशयन्ति यत्र स आश्रम इति।

उभयम् = द्वयम्, कुमारं तापसीञ्चेत्यर्थः। अविलम्बितम् = आशु।

गृद्ध्रलक्ष्यवेधी = गृद्ध्ररूपलक्ष्यभेदकः। अर्धनाराचः = अर्धचन्द्राकृतिरयोमुखो बाणः।

बाष्पायत इति। अस्मिन् च्यवनाश्रमादागतेऽत्र कुमारे निपतिता मम दृष्टिः

कञ्चुकी—जय हो महाराजकी जय हो। महाराज, च्यवनके आश्रमसे एक कुमारके साथ एक तापसी आई हैं, वह श्रीमान्से मिलना चाहती हैं।

राजा—दोनोंको शीघ्र बुला लाओ।

कञ्चुकी—महाराजकी जैसी आज्ञा।

(निकलकर चापहस्त कुमार तथा तापसीके साथ पुनः आता है)

कञ्चुकी—आप इधर चलें। (सब चलते हैं)

विदूषक—(देखकर) क्या यही वह क्षत्रीय कुमार है जिसका नाम उस अर्धनाराच पर खुदा है जिससे गृद्ध्र वेधा गया। यह तो आपसे बहुत मिलता जुलता है।

राजा—हो सकता है, इसीलिये—

इसपर पड़नेवाली हमारी आंखें भर आई हैं, हृदय वात्सल्यसे पूर्ण हो रहा है,

वात्सल्यबन्धि हृदयं मनसः प्रसादः ।
संजातवेपथुभिरुज्झितधैर्यवृत्ति-
रिच्छामि चैनमदयं परिरब्धुमङ्गैः ॥ ९ ॥

कञ्चुकी—भगवति एवं स्थीयताम् ।

(तापसीकुमारौ स्थितौ)

राजा—अम्ब अभिवादये ।

तापसी—महाभाग सोमवंशविस्तारयिता भव । (आत्मगतम्) अहो अनाख्यातोऽपि विज्ञातोऽस्य राजर्षेरौरसः संबन्धः । (प्रकाशम्) जात प्रणम ते गुरुम् । (महाभाअ सोमवंसवित्थारइत्तओ होहि । अम्हो अणाचक्खिदोवि

नेत्रम् बाष्पायते बाष्पमुद्गमति अश्रुपूर्णतां यातीत्यर्थः । हृदयम् वात्सल्यबन्धि प्रेमातिशयशालि, मनसः चित्तस्य प्रसादः प्रसन्नता । उज्झितधैर्यवृत्तिः उत्सृष्टधीरभावः (सन्नहम्) च एनम् कुमारम् सञ्जातवेपथुभिः जायमानकम्पैः अङ्गैः अदयम् निर्भरम् परिरब्धुम् आलिङ्गितुम् इच्छामि । इमं कुमारं वीक्षमाणस्य मम नेत्रे साश्रुणी भवतः, हृदयं वात्सल्यभावाप्लुतम् , मन आनन्दपूर्णम् , नैतावदेव, अहं तु धैर्यमर्यादामतीत्य कम्रमानैरेभिरङ्गैरेनं निर्भरमालिङ्गितुमिच्छामीति भावः । निपतितेति दृष्टिविशेषणेन तस्या अन्यत्र गन्तुमक्षमता तया चास्य रूपातिशयः सम्बन्धत्वं च, सञ्जातवेपथुभिरिति सर्वोत्थानन्दातिरेकः, अङ्गैरिति बहुवचनेन सर्वाङ्गालिङ्गनेच्छाद्वारा स्नेहप्रकर्ष इत्यादयोऽर्था व्यज्यन्ते । 'बाष्पायते' इत्यत्र बाष्पोष्मभ्यामुद्गमने' इति क्यङ् । वसन्ततिलकं वृत्तम् , लक्षणमुक्तपूर्वम् ॥ ९ ॥

सोमवंशविस्तारयिता = चन्द्रवंशवर्द्धकः, अत्राशिष्यपि राज्ञः प्रसूतिसूचनेति विदन्तु रसिकाः ।

अनाख्यातः = वाचाऽनुक्तः । विज्ञातः = स्फुटः । कुमारोऽयमस्य राज्ञ औरसः

मनमें प्रसन्नता है, मेरे अङ्ग कांप रहे हैं, मेरे मनमें इच्छा हो रही है कि धैर्य छोड़कर इसका निर्दय आलिङ्गन कर लें ॥ ९ ॥

कञ्चुकी—तापसीजी, आप यहाँ ठहरें ।

(तापसी तथा कुमार ठहरते हैं)

राजा—अम्ब, प्रणाम करता हूं ।

तापसी—महाभाग, आपसे चन्द्रवंशका विस्तार हो । (स्वगत) विना कहे इसके साथ राजाका औरस संबन्ध मालूम पड़ता है । (प्रकट) कुमार, अपने

विण्णादो इमस्स राएसिणो ओरसो संबन्धो । जाद पणम दे गुरुं)

कुमारः—(चापगर्भमञ्जलिं करोति)

राजा—आयुष्मान्भव ।

कुमारः—(आत्मगतम्)

यदि हार्दमिदं श्रुत्वा पिता ममायं सुतोऽहमस्येति ।
उत्सङ्गवर्धितानां गुरुषु भवेत्कीदृशः स्नेहः ॥ १० ॥

राजा—भगवति किमागमनप्रयोजनम् ।

तापसी—शृणोतु महाराजः । एष दीर्घायुरायुर्जातमात्र एवोर्वश्या किमपि निमित्तमवेक्ष्य मम हस्ते न्यासीकृतः । यत्क्षत्रियकुमारस्य जात-

---

पुत्र इति कथनमन्तराऽपि प्रतीयते, रूपसाम्यात् , इति भावः ।

जात = बालक, इदं कुमारसंबोधनम् ।

यदीति । यदि 'अयं मम पिता जनकः, अहम् अस्य सुतः पुत्रः' इति श्रुत्वा केवलमिदं प्रथमतयाऽऽकर्ण्य इदम् प्रत्यक्षानुभूयमानम् हार्दम् प्रेम जायते इति शेषः । (तर्हि, पितृभिः) उत्सङ्गवर्द्धितानाम् लालनपालनादिनाऽङ्के वर्द्धितानाम् (पुत्राणां स्वपितृषु) कीदृशः स्नेहो ममता भवेत् । अयमाशयः–यमहमितः पूर्वं कदापि नाद्राक्षं तेन सह स्वस्य संबन्धमात्रमेकेनाभिधीयमानं निशम्य यदि मम स्नेहसागर इत्थमुद्वेलस्तदा यः पितुरङ्के तल्लालनादिकमुपभुञ्जान एवावर्द्धत तस्य तत्र कीदृक् प्रेमा स्यादिदं मयानुमातुमेव केवलमधुना शक्यत इति भावः ॥ १० ॥

दीर्घायुः = चिरजीवी । जातमात्रः = सद्योजातः । किमपि निमित्तमवेक्ष्य = किमपि कारणमन्तर्निधाय । न्यासीकृतः=सुरक्षितं स्थापयेति दत्तः । क्षत्रियकुमारस्य=

पिताको प्रणाम करो ।

कुमार—(चाप लिये हाथ जोड़ता है)

राजा—चिरायु होओ ।

कुमार—(स्वगत) मैं पुत्र तथा यह पिता हैं इतना सुनभर लेनेसे इतना प्रेम उमड़ पड़ा है, तब जिन्हें गोदमें पलकर बढ़नेका अवसर मिला होगा उनको कैसा प्रेम होता होगा ॥ १० ॥

राजा—भगवति, आपने क्यों यहाँ तक आनेका कष्ट किया ?

तापसी—सुनिये महाराज, यह दीर्घायु आयु जन्म कालमें ही उर्वशी द्वारा कुछ सोचकर हमारे हाथों परसौंपा गया था । इसके जातकर्मादि सकल क्षत्रियोचित

कर्मादि विधानं तदस्य भगवता च्यवनेनाशेषमनुष्ठितम् । गृहीतविद्यो धनुर्वेदेऽभिविनीतः । (सुणादु महाराओ । एसो दीहाऊ आऊ जादमेत्तो एव्व उव्वसीए किंवि निमित्तं अवेक्खिअ मम हत्थे णासीकिदो जं खत्तिअकुमारअस्स जादकम्मादि विहाणं तं से भअवदा चव्वणेण अस्सेसं अणुचिट्ठिदं । गहिदविज्जो धणुव्वेदे अहिविणीदो)

राजा—सनाथः खलु संवृत्तः ।

तापसी—अद्य पुष्पसमिदर्थमृषिकुमारकैः सह गतेनानेनाश्रमविरुद्धमाचरितम् । (अज्ज पुप्फसमिदित्थं इसिकुमारएहिं सह गदेण इमिणा अस्समविरुद्धं आअरिदं)

विदूषकः—(सावेगम्) किमिव । (किं विअ)

क्षत्रियबालकस्य । विधानम् = कर्त्तव्यम् । जातकर्मादि = जातस्य कर्म संस्कारादिः, यदाह मनुः—'प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते' इति । अशेषम्=सकलम् । अनुष्ठितम् = सम्पादितम् । गृहीतविद्यः=प्राप्तशास्त्रज्ञानः । अभिविनीतः = शिक्षितः ।

सनाथः = अनुकम्पितः, कृतकृत्यो वा । च्यवनमुनेः कृपया कृतार्थोऽस्मि जात इति भावः ।

पुष्पसमिदर्थम् = कुसुमकाष्ठाद्याहरणाय । आश्रमवासिनः प्रतिदिनं प्रातः पुष्पं काष्ठं च पूजाहवनाद्यर्थमाहरन्ति, तदनुध्यायायं ग्रन्थः । आश्रमविरुद्धम् = आश्रमवासिजनानुचितं कर्म ।

सावेगम् = ससंभ्रमम् , आवेगश्चात्र विमनेन तादृशमाचरितं स्यात् ? किञ्च तस्य फलमनेन भोक्तव्यं स्यात् ? किमवसानञ्च तत्कर्मेति चिन्तोदयकृतः, सर्वञ्चेदं ममतातिशयफलम् , तथाचोक्तम् 'अतिस्नेहः पापशङ्की'ति ।

संस्कार भगवान् च्यवनके द्वारा संपन्न किये गये हैं । इसे शास्त्र तथा धनुर्वेद पढ़ाये गये हैं ।

राजा—अनुगृहीत हूँ ।

तापसी—आज इसने ऋषिकुमारोंके साथ पुष्पसमिधा आदिके लिये वनमें जाने पर आश्रमविरुद्ध आचरण कर दिया ।

विदूषक—(आवेशमें) कैसे ?

तापसी—गृहीतामिषः किल गृध्रः पादपशिखरे निलीयमानोऽनेन लक्ष्यीकृतो बाणस्य। (गहिदामिसो किल गिद्धो पादवसिहरे णिलीअमाणो अणेण लक्खीकिदो बाणस्स)

विदूषकः—(राजानमवलोकयति)

राजा—ततस्तः ।

तापसी—तत उपलब्धवृत्तान्तेन भगवता च्यवनेनाऽहं समादिष्टा । निर्यातय हस्तन्यासमिति । तदिच्छामि देवीमुर्वशीं प्रेक्षितुम् । (तदो उवलद्धउत्तन्तेण भअवदा चवणेण अहं समादिट्ठा । णिज्जादेहि हत्थणासांते । ता इच्छामि देविं उव्वसिं पेक्खिदुं)

राजा—तेन ह्यासनमनुगृह्णातु भगवती ।

तापसी—(उपनीत आसन उपविशति)

गृहीतामिषः=धृतमांसखण्डः । पादपशिखरे=वृक्षशिरसि । निलीयमानः=आत्मानं प्रच्छाद्य स्थितः । लक्ष्यीकृतः=लक्ष्यत्वेन स्थिरीकृतः । अस्य लक्ष्यीकरणं च तन्मरणं सूचयति, एतेनास्य लक्ष्यभेदचातुर्यं व्यङ्ग्यम् ।

उपलब्धवृत्तान्तेन=ज्ञातैतद्वृत्तेन । समादिष्टा=आज्ञप्ता । निर्यातय=प्रत्यर्पय । 'दाने न्यासार्पणे वैरशुद्धौ निर्यातनं मतम्' इति मुक्तावली ।

आसनमनुगृह्णातु=आसनं कृतार्थयतु, उपवेशनमेवात्र कृतार्थतासम्पादनम् ।

तापसी—मांसखण्ड लेकर वृक्षकी चोटी पर बैठे हुए गृध्रको इसने अपने बाणका निशाना बना डाला ।

विदूषक—(राजाकी ओर ताकता है)

राजा—इसके बाद ?

तापसी—इसके बाद इस खबरको पाकर भगवान् च्यवनने मुझसे कहा कि यह थाती लौटा दे । इसलिये मैं देवी उर्वशीसे मिलना चाहती हूं ।

राजा—आप तब तक आसन पर विराजें ।

तापसी—(लाये गये आसन पर बैठती है)

राजा—लातव्य ! आहूयतामुर्वशी ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः)

राजा—(कुमारमवलोक्य) एह्येहि वत्स ।

सर्वाङ्गीणः स्पर्शः सुतस्य किल तेन मामुपगतेन ।
आह्लादयस्व तावच्चन्द्रकरश्चन्द्रकान्तमिव ॥ ११ ॥

तापसी—जात आनन्दय पितरम् । (जाद आणन्देहि पितरं)

कुमारः—(राजानमुपगम्य । पादग्रहणं करोति)

राजा—(कुमारं परिष्वज्य पादपीठे चोपवेश्य ।) वत्स इतस्तव पितुः प्रियसखं ब्राह्मणमशङ्कितो वन्दस्व ।

'आहूयतामुर्वशी' अत्र मुखे क्षिप्तबीजस्य पुनरुद्भावनात् सन्धिर्नाम सन्ध्यङ्गमुपक्षिप्तम् ।

सर्वाङ्गीण इति । सुतस्य पुत्रस्य स्पर्शः शरीरसम्पर्कः सर्वाङ्गीणः निखिलाङ्गव्यापकः किलेति प्रसिद्धौ पुत्रस्य सर्वाङ्गसङ्गीस्पर्श एव स्वदते नांशिक इति भावः । तेन सर्वाङ्गीणेन सुतस्पर्शेन मामुपगतेन प्राप्तेन चन्द्रकरः शशिमयूखः चन्द्रकान्तम् तन्नामकं मणिमिव माम् त्वम् आह्लादयस्व आनन्दय । यथा चन्द्रश्चन्द्रकान्तमणिं शिशिरयति तथा सर्वाङ्गीणालिङ्गनेन मां शिशिरयेति भावः । सर्वाङ्गीणपदे—'तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति' इति रवः ॥ ११ ॥

प्रियसखम् = प्रियमित्रम् । ब्राह्मणमित्युक्तिः प्रणम्यताबोधनाय । अशङ्कितः = निर्भयः, भयं च बालस्वभावकृतं संभवतीति तदपाकरणार्थेयमुक्तिः ।

राजा—लातव्य, उर्वशीको बुला दीजिये ।

कञ्चुकी—महाराजकी जैसी आज्ञा । (जाता है)

राजा—(कुमारकी ओर देखकर) आओ बेटा, आओ ।

पुत्रका सर्वाङ्गस्पर्श होना चाहिये, उससे मुझे आह्लादित करो जिस प्रकार चन्द्रमाकी किरणें चन्द्रकान्तमणिको आह्लादित करती हैं ॥ ११ ॥

तापसी—लड़के, पिताको आनन्दित करो ।

कुमार—(राजाके समीप आकर पैरोंपर गिरता है)

राजा—(कुमारको छातीसे लगाकर आसन पर बैठाकर) बेटा, इधर तुम्हारे पिताके मित्र ब्राह्मण बैठे हैं, डरो मत, इन्हें प्रणाम करो ।

विदूषकः—किमिति शङ्किष्यते । नन्वाश्रमवासपरिचित एव शाखामृगः । (किंति सङ्किस्सदि । णं अस्समवासपरिचिदो एव्व साहामिओ)

कुमारः—(सस्मितम्) तात वन्दे ।

विदूषकः—स्वस्ति भवते । (सत्थि भवदो)

(ततः प्रविशत्युर्वशी कञ्चुकी च)

कञ्चुकी—इत इतो देवी ।

उर्वशी—(कुमारमवलोक्य) को नु खल्वेष सबाणासनः पादपीठे स्वयं महाराजेन संयम्यमानशिखण्डकस्तिष्ठति । (तापसीं दृष्ट्वा) अहो सत्यवतीसूचितो मम पुत्रक आयुः । महान्खलु संवृत्तः (परिक्रामति) । (को णु खु एसो सबाणासणो. पादपीठे सअं महाराएण संजमीअमाणसिहण्डओ चिट्ठदि । अम्मो सच्चवदीसूइदो मे पुत्तओ आऊ । महन्तो खु संवुत्तो)

शखामृगः = वानरः । आश्रमवाससमये वने वानरा दृष्टा भवेयुस्तदस्य भयसंभावना नास्तीति भावः । अत्र विदूषकः स्वस्य वानरसदृशाननत्वमुद्भाव्य सर्वेषां हासं जनयतीति तस्योचितमेव ।

सबाणासनः=शरासनधरः । संयम्यमानशिखण्डकः=बाध्यमानचूडः । एतेन महाराजानुग्रहो व्यक्तः । सत्यवतीसूचितः=सत्यवतीदर्शनेनानुमितः । पुत्रक इत्यल्पार्थे कन् । महान् = दीर्घतनुः । अत्र कार्यमार्गणात् 'विबोधः' नाम सन्ध्यङ्गमुक्तं भवति । काव्यवेमस्तु—'सत्यवती = सूचितः' इत्यत्र कार्यस्य निबन्धनात् 'ग्रन्थनं' नाम सन्ध्यङ्गमित्याह ॥

विदूषक—डरेगा क्यों ? आश्रमवासमें वानरोंसे परिचय हो ही गया होगा ।

कुमार—(मुस्कुराकर) तात, प्रणाम करता हूँ ।

विदूषक—कल्याण हो ।

(उर्वशी और कञ्चुकीका प्रवेश)

कञ्चुकी—आप इधर चलें ।

उर्वशी—(कुमारको देखकर) यह कौन है जिसे महाराज खुद आसनपर बैठाये हुए हैं, जिसके हाथमें धनुष है और जिसके बालोंको महाराज संभाल रहे हैं ? (तापसीको देखकर) सत्यवतीके देखनेसे सूचित होता है कि हमारा ही पुत्र आयु हो । यह तो बड़ा हो गया । (चलती है)

राजा—(उर्वशीं दृष्ट्वा)

इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा ।
स्नेहप्रस्नवनिर्भिन्नमुद्वहन्ती स्तनांशुकम् ॥ १२ ॥

तापसी—जात एहि प्रत्युद्गच्छ मातरम् । (जाद एहि पच्चुग्गच्छ मादरं)

कुमारः—(उर्वशीं प्रत्युद्गच्छति)

उर्वशी—अम्ब पादप्रणामं करोमि । (अम्ब पादप्पणामं करेमि)

तापसी—वत्से भर्तुर्बहुमता भव । ((वच्छ भत्तुणो बहुमदा होहि)

कुमारः—अम्ब अभिवादये ।

उर्वशी—(कुमारमुन्नमितमुखं परिष्वज्य) वत्स पितरमाराधयिता भव ।

इयमिति । इयम् अग्रत आयान्ती त्वदालोकनतत्परा त्वद्दर्शनानिमिषदृष्टिः स्नेहप्रस्नवनिर्भिन्नम् प्रेमाधिक्यप्रभूतक्षीराभिस्यन्दनार्द्रीभूतम् स्तनांशुकम् कुचाञ्चलम् वहन्ती धारयन्ती ते जननी माता प्राप्ता आगता, इयं तव जननी समायाता या त्वामनिमिषेण चक्षुषा पश्यति, यस्याश्च स्तवांशुकं त्वद्दर्शनोद्भूतस्नेहरसप्रकर्षवशात्स्नवता क्षीरेणार्द्रतां नीतम् इति भावः । चिरदृष्टेऽपत्ये मातुः स्तनौ प्रस्रवत इति स्वभावः । स्पष्टमन्यत् ॥ १२ ॥

प्रत्युद्गच्छ = प्रत्युत्थाय प्रणम ।

भर्त्तुः = स्वामिनः । बहुमता = अतिप्रीता ।

पितरमाराधयिता = पितुस्तोषकरः, 'यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरौ स पुत्रः' इति

राजा—(उर्वशीको देखकर) यह तुम्हारी मां आ गई जो तुम्हें एकटक देख रही है, स्नेहसे इसका स्तनदूध बहार रहा है जिससे इसका आंचल गीला हो रहा है ॥ १२ ॥

तापसी—लड़के, अपनी मांके सत्कारमें तत्पर होओ ।

कुमार—(उर्वशीके आगे जाता है)

उर्वशी—(तापसीसे) मां, प्रणाम करती हूँ ।

तापसी—बेटी, स्वामीकी दुलारी बनो ।

कुमार—(उर्वशीसे) मां, प्रणाम करता हूं ।

उर्वशी—(कुमारका मुंह उठाकर, गले लगाकर) बेटा, पिताकी आराधनामें

(राजानमुपेत्य) जयतु जयतु महाराजः । (वच्छ पिदरं आराधइत्तओ होहि । जेदु जेदु महाराओ)

राजा—स्वागतं पुत्रवत्यै । इत आस्यताम् । अर्धासनं ददाति)

उर्वशी—(उपविशति)

(सर्वे यथोचितमुपविशन्ति)

तापसी—एष गृहीतविद्य आयुः सांप्रतं कवचहरः संवृत्तः । तदेतस्य ते भर्तुः समक्षं निर्यातितो हस्तनिक्षेपः । तद्विसर्जयितुमिच्छामि । उपरुध्यते ममाश्रमधर्मः । (एसो गहिदविज्जो आऊ संपदं कवअहरो संवुत्तो । ता एदस्स दे भत्तुणो समक्खं णिज्जादिदो हत्थणिक्खेवो । ता विसज्जेदुं इच्छामि । उवरुज्झइ मे अस्समधम्मो)

उर्वशी—चिरस्यार्यां दृष्ट्वाधिकतरमवितृष्णास्मि । न शक्नोमि विस्र-

---

श्रूयते, तदनुसारिणीयमात्रा प्रयुक्ताऽऽशीः । आराधयितेति तृनन्तं तेन पितरमित्यत्र न षष्ठीप्रसक्तिः ।

पुत्रवत्यै = प्रशंसनीयपुत्रायै, प्रशंसायां मतुम् ।

गृहीतविद्यः = कृताध्ययनः । आयुः = तदाख्यः । कवचहरः = कवचवहनोपयुक्तवयाः । 'हरतेरनुद्यमनेऽच्' एतदनन्तरमुक्तेन 'वयसि च' इति सूत्रेणाच् । समक्षम् = पुरतः । निर्यातितः = प्रत्यर्पितः । विसर्जयितुम् = स्वयाऽऽज्ञप्ता भूत्वा गन्तुम् । उपरुध्यते = विनश्यति । आश्रमधर्मः = आश्रमकर्त्तव्यम् ।

चिरस्य = बहुकालानन्तरम् । आर्याम् = पूज्यां भवतीम् । अवितृष्णा = अनि-

तत्पर होओ । (महाराजके पास जाकर) जय हो महाराजकी जय हो ।

राजा—पुत्रवतीका स्वागत है । यहाँ बैठो (अर्धासन देता है)

उर्वशी—(बैठती है)

(सभी अपनी अपनी जगह पर बैठते हैं)

तापसी—यह आयु सब विद्या पढ़कर समर्थ हो गया, इसलिये तुम्हारी यह धरोहर तुम्हारे स्वामीके सामने तुम्हें सौंप दिया । मुझे इजाजत दो, हमारे आश्रम के नियमोंमें बाधा पड़ रही है ।

उर्वशी—बहुत दिनों पर आपको देखा है, देखनेकी प्यास बुझती ही नहीं

ष्टुम् । अन्याय्यं पुनरुपरोद्धुम् । तद्गच्छत्वार्या पुनर्दर्शनाय । (चिरस्स अज्जं देक्खिअ अहिअदरं अवितिण्हम्हि । ण सक्कुणोमि विसज्जिदुं । अण्णय्यं उण उवरोहिदुं । ता गच्छदु अज्जा पुणोदंसणाअ)

राजा—अम्ब भगवते च्यवनाय मां प्रणिपातय ।

तापसी—एवं भवतु । (एव्वं भोदु)

कुमारः—आर्ये यदि सत्यमेव निवर्तसे तदा मामप्याश्रमं नेतुमर्हसि ।

राजा—अयि वत्स उषितं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे । द्वितीयमध्यासितुं तव समयः ।

तापसी—जात गुरोर्वचनमनुतिष्ठ । (जाद गुरुणो वअणं अणुचिट्ठ)

कुमारः—तेन हि ।

वृत्तभवद्दर्शनस्पृहा । चिरकालदृष्टाया भवत्या दर्शने धृतादरेत्यर्थः । न शक्नोमि विसृष्टुम् = न पारयामि गन्तुमनुमन्तुम् । अन्याय्यम् = न्यायविरुद्धम् । उपरोद्धुम् = प्रसह्य स्थायितुम् । पुनर्दर्शनाय = पुनः साक्षात्काराय, मां प्रणिपातय = मम प्रणामं निवेदय ।

निवर्त्तसे = आश्रमाय परावर्त्तसे ।

उषितम् = वासः कृतः । पूर्वस्मिन्नाश्रमे = ब्रह्मचर्ये । द्वितीयम् = गार्हस्थ्यम् । (कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते)

गुरोः=पितुः, वचनम्=द्वितीयाश्रमाध्यासनरूपम्, ब्रह्मचर्याश्रमाभिवृत्तिरूपं वा ।

तेन = मदत्र वासविषये निर्णयस्य सर्वसम्मतत्वेन ।

है । आज्ञा भी नहीं दे सकती, और आपको रोकना भी अनुचित होगा । अतः आप जांय फिर दर्शन देनेकी कृपा करेंगी ।

राजा—मां, च्यवन भगवान्को मेरा प्रणाम कहना ।

तापसी—ऐसा ही होगा ।

कुमार—आर्ये, यदि तुम सचमुच जा रही हो तो मुझे भी आश्रम लिये चलो ।

राजा—बेटा, तुम आश्रममें रह चुके, अब तुमको गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिये ।

तापसी—लड़के, पिताकी आज्ञा मानो ।

कुमार—तब—

यः सुप्तवान्मदङ्के शिखण्डकण्डूयनोपलब्धसुखः ।
तं मे जातकलापं प्रेषय मणिकण्ठकं शिखिनम् ॥ १३ ॥

तापसी—(विहस्य) एवं करोमि । स्वस्ति भवतु युष्मभ्यम् (इति निष्क्रान्ता) । (एव्वं करेमि । सत्थि भोदु तुम्हाणं)

राजा—कल्याणि ।

अद्याहं पुत्रिणामग्र्यः सत्पुत्रेणामुना तव ।
पौलोमीसंभवेनेव जयन्तेन पुरन्दरः ॥ १४ ॥

उर्वशी—(स्मृत्वा रोदिति)

यः सुप्तवानिति । शिखण्डकण्डूयनोपलब्धसुखः बर्हकण्डूयनोपजातानन्दः यः (शिखी) मदङ्के मत्क्रोडे सुप्तवान् निद्रामाप्तवान्, जातकलापम् सञ्जातबर्हम् तम् मे मम मणिकण्ठकम् नाम शिखिनम् प्रेषय अत्र प्रापय । यथा युष्मदादेशमहमत्र तिष्ठामि, परमेकस्तु ममानुरोधो रक्षणीयो भवत्या तत्राश्रमे यस्य शिखिशिशोर्बहमहमकण्डूयिषि, तस्य चातिविश्वस्ततया मदङ्क एवागच्छतिस्म तत्कण्डूयनसुखोपलब्ध्या निद्रा, तं जातकलापं मणिकण्ठकं नाम शिखिनमत्र भवती प्रेषयेदिति । फुटा बालस्वभावोक्तिः ॥ १३ ॥

एवं करोमि = त्वदनुरोधं पालयामि ।

अद्याहमिति । अहम् अद्य आस्मिन्नहनि अमुना अङ्कोपविष्टेन तव सत्पुत्रेण सुपुत्रेण पौलोमीसंभवेन शचीगर्भसंभूतेन जयन्तेन तदभिधानेन पुरन्दरः शक्र इव पुत्रिणाम् पुत्रवताम् अग्र्यः श्रेष्ठः सञ्जात इति शेषः । 'जयन्तः पाकशासनिः' इत्यमरः ॥

स्मृत्वा = पुरन्दरनामस्मरणात्तदादेशमनुस्मृत्य ।

जो मयूरका बच्चा मेरी गोदमें सोता था, जिसका पङ्ख मैं सहला दिया करता था, मणिकण्ठ नामक उस मयूरके बच्चेको मेरे पास भेज देना जब उसके पङ्ख हो जांय ॥ १३ ॥

तापसी—(हंसकर) ऐसा ही करूंगी । आप लोगोंका कल्याण हो । (जाती है)

राजा—कल्याणि,

आज मैं तुम्हारे इस सुपुत्रसे पुत्रवानोंमें अग्रगण्य हो गया हूँ, जिस तरह पौलोमीके गर्भसे उत्पन्न जयन्तसे इन्द्र हैं ॥ १४ ॥

उर्वशी—(याद करके रोती है)

विदूषकः—किं नु खलु तत्रभवत्येकपदेऽश्रुमुखी संवृत्ता। (किं णु खु तत्तहोदी एक्कपदे अस्सुमुही संवुत्ता)

राजा—(सावेगम्)

किं सुन्दरि प्ररुदितासि ममोपपन्ने
वंशस्थितेरधिगमान्महति प्रमोदे।
पीनोन्नतस्तनविसर्पिभिरानयन्ती
मुक्तावलीविरचनापुनरुक्तिमस्रैः॥ १५॥

(बाष्पमस्याः प्रमार्ष्टि)

उर्वशी—शृणोतु महाराजः। प्रथमं पुनः पुत्रदर्शनेन विस्मृतास्मि।

किं नु खलु = कुतः कारणात्। तत्रभवती = पूजनीया। एकपदे = अकस्मात्। अश्रुमुखी = साश्रुनयना।

किं सुन्दरीति। हे सुन्दरि, रमणीयसर्वावयवे, वंशस्थितेः पुत्ररूपवंशप्रतिष्ठायाः अधिगमात् प्राप्तेः हेतोः मम महति प्रचुरे प्रमोदे अत्यानन्दे उपपन्ने उपस्थिते सति पीनोन्नतस्तनविसर्पिभिः पीवरोच्चकुचमण्डलविसारिभिः अस्रैः अश्रुभिः मुक्तावलीविरचनापुनरुक्तिम् मुक्तावलीसदृशस्वच्छवर्त्तुलाश्रुविन्दुप्रवाहेण मुक्तामालाद्विरुक्तिम् आनयन्ती सम्पादयन्ती त्वम् किम् कुतः प्ररुदितासि अश्रुमुखी संवृत्तासि। अधुना वंशरक्षकस्य सुतस्याप्त्या मम महान् प्रमोद उपस्थितः, सम्प्रति प्रसन्नतासूचिका एव सर्वेषां चेष्टाः, अथापि भवती रोदिति, रोदनं चेदं नानन्दाश्रु, यतो भवत्याः प्रवर्त्तमानोऽयमश्रुप्रवाहो मुक्तावलीव द्वितीया दृश्यते तदाख्याहि मे रोदनकारणमिति भावः। 'प्ररुदिता' इत्यत्रादिकर्मणि क्तः। 'वंशो वेणौ कुले वर्गे पृष्ठाद्यवयवेऽपि च' इति विश्वः। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ १५॥

विदूषक—यह एकाएक रोने क्यों लगीं?

राजा—(घबड़ाकर) हे सुन्दरि! हमारे वंशके चलानेवाले पुत्रकी प्राप्तिसे महान् प्रमोदका अवसर प्राप्त है तब तुम अपने उन्नत स्तनपर फैलनेवाली आंसूकी बूंदोंसे दुहरी मुक्तामाला बनाकर इस तरह क्यों रो उठी?॥ १५॥

(उसके आंसू पोंछता है)

उर्वशी—सुनिये महाराज, पुत्रके देखनेसे पहले मुझे यह बात याद नहीं पड़ी।

इदानीं महेन्द्रसंकीर्तनेन स्मारितः समयो मम हृदयमायासयति । (सुणादु महाराओ । पढमं उण पुत्तदंसणेण विसुमरिदम्हि । दाणिं महिन्दसंकित्तणेण सुमरिदो समओ मह हिअअं आआसेदि)

राजा—कथ्यतां समयः ।

उर्वशी—अहं पुरा महाराजगृहीतहृदया महेन्द्रेणाज्ञापिता । (अहं पुरा महाराअगहिदहिअआ महिन्देण आणत्ता)

राजा—किमिति ।

उर्वशी—यदा स मम प्रियसखो राजर्षिस्त्वयि समुत्पन्नस्य वंशकारस्य मुखं प्रेक्षिष्यते तदा त्वया भूयोऽपि मम समीपमागन्तव्यमिति । ततो मया महाराजवियोगभीरुतया जातमात्र एव विद्यागमनिमित्तं भगवतश्च्यवनस्याश्रमपदे एष पुत्र आर्यायाः सत्यवत्या हस्तेऽप्रकाशं निक्षिप्तः ।

संकीर्त्तनेन = नामग्रहणेन । समयः = कालावधिः, 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । आयासयति = खेदयति ।

महाराजगृहीतहृदया = महाराजे भवति संजातस्नेहा । अज्ञापिता = आदिष्टा ।

प्रियसखः – प्रियमित्रम् (पुरुरवाः) त्वयि समुत्पन्नस्य=त्वया प्रसूतस्य । वंशकरस्य=वंशविस्तारकारिणः । प्रेक्षिष्यते=द्रक्ष्यति । भूयोऽपि=पुनरपि । मम समीपमागन्तव्यम् = पुरुरवसं हित्वा सदा स्वर्गे वासः कर्त्तव्यः । महाराजवियोगभीरुतया = मर्वाङ्गिरहासहिष्णुतया । जातमात्रः = तत्कालोत्पन्नः । विद्यागमनिमित्तम् = विद्या-

---

इस समय इन्द्रका नाम लिया गया तो याद आ गई, मुझे वह प्रतिज्ञा बहुत कष्ट दे रही है ।

राजा—कहो तो क्या प्रतीज्ञा है ?

उर्वशी—जब मैं आपके ऊपर आकृष्ट हुई थी उसी समय इन्द्रने मुझे आज्ञा दी थी ।

राजा—क्या आज्ञा दी थी ?

उर्वशी—यही कि हमारे प्रियबन्धु राजा पुरुरवा जब तुमसे उत्पादित अपने पुत्रका मुख देख लें, तब तुम फिर मेरे यहाँ चली आना । मुझे आपके वियोगका इतना भय हुआ कि मैंने लड़काके जन्म लेते ही उसे विद्याध्ययनके बहाने च्यवन मुनिके आश्रममें आर्या सत्यवतीके हाथमें सबसे छिपाकर सौंप दिया । अब वह

अद्य पितुराराधनसमर्थः संवृत्त इति कलयन्त्या निर्यातितो मे दीर्घायुः । तदेतावान्मे महाराजेन संवासः । (जदा सो मम पिअसहो राएसी तुइ समुप्पण्णस्स वंसकरस्स मुहं पेक्खिस्सदि तदा तुए भूओवि मम समीवं आअन्तव्वंति । तदो मए महाराअविओअभीरुदाए जादमेत्तो एव्व विज्जागमणिमित्तं भवअदो खवणस्स अस्समपदे एसो पुत्तओ अज्जाए सच्चवदीए हत्थे अप्पआसं णिक्खित्तो । अज्ज पिदुणो आराहणसमत्थो संवुत्तोत्ति कलअन्तीए णिज्जादिदो मे दीहाऊ । ता एत्तिओ मे महाराएण संवासो ।

(सर्वे विषादं रूपयन्ति ।)

राजा—(सनिःश्वासम्) अहो सुखप्रत्यर्थिता दैवस्य ।

आश्वासितस्य मम नाम सुतोपलब्ध्या
सद्यस्त्वया सह कृशोदरि विप्रयोगः ।

ऽध्ययनहेतवे । आश्रमपदे = आश्रमस्थाने । अप्रकाशम् = निभृतम् । अप्रकाशनिक्षेपे कारणं च भवतो गोपनमन्यथा पुत्रं द्रष्टुं भवान् यतेत, त्वया दृष्टे च पुत्रे वियोगः समापतेत्तस्य वारणार्थमेवायं न्यासविधिरिति बोध्यम् ।

आराधनसमर्थः = तोषणक्षमः । संवृत्तः = जातः । इति कलयन्त्या = एवं विश्वस्त्या । निर्यातितः = प्रत्यर्पितः । तत् = तस्मात् इन्द्रकृतात्समयावधेः । एतावान् = एतदवधिः । संवासः = सहस्थितिः । सुखप्रत्यर्थिता = सुखविरोधिता । भाग्यं सुखविरोधकृत्, यतः पुत्राधिगमे सत्यानन्दावसरे प्रियावियोगमुपनमयतीति भावः ।

आश्वासितस्येति । हे कृशोदरि, (कृशं दुर्बलमुदरं यस्याः सा कृशोदरी, उदरपदमिह लक्षणया कटिवाचकम्) तनुमध्ये सुतोपलब्ध्या पुत्राधिगमेन आश्वासितस्य सञ्जातसान्त्वनस्य मम नाम सद्यः तत्काल एव त्वया प्रियतमया विप्रयोगः चिरविरहः उपस्थितः प्राप्तः । यावदनेन पुत्रलाभेन किञ्चिदाश्वासितो भवामि तावदयं त्वद्विरहः समुपनत इत्यहो सुखप्रत्यर्थिता दैवस्येति भावः । उक्तमर्थमुपमया

पिताकी आराधनाके योग्य हो गया है ऐसा समझ उन्होंने उसे वापसकर दिया है । इतने ही समय तक मैं आपके साथ रह सकी ।

(सभी खेद प्रकट करते हैं)

राजा—(निःश्वास लेकर) भाग्य कैसा सुखविरोधी है ।

कृशोदरि, इधर पुत्रके प्राप्त होनेसे मुझे कुछ आश्वासन मिला ही था कि उधर

व्यावर्तितातपरुजः प्रथमाभ्रवृष्ट्या
वृक्षस्य वैद्युत इवाग्निरुपस्थितोऽयम् ॥ १६ ॥

विदूषकः—अयं सोऽर्थोऽनर्थानुबन्धी संवृत्तः । सांप्रतं तर्कयामि तत्रभवता वल्कलं गृहीत्वा तपोवनं गन्तव्यमिति । (अअं सो अत्थो अणत्थाणुबन्धी संवुत्तो । संपदं तक्केमि तत्तभवदा वक्कलं गेण्हिअ तवोवणं गन्दव्वंति)

उर्वशी—मामपि मन्दभागिनीं कृतविनयस्य पुत्रस्य लाभानन्तरं स्वर्गारोहणेनावसितकार्यां महाराजः समर्थयते । (मंपि मन्दभाइणिं किदविणअस्स पुत्तस्स लाभाणन्तरं सग्गारोहणेण अवसिदकज्जं महाराओ समत्थेदि)

स्पष्टयति—प्रथमाभ्रवृष्ट्या नूतनमेघवर्षणेन व्यावर्तितातपरुजः दूरीकृतग्रीष्मसन्तापस्य वृक्षस्य तरोः वैद्युतः अग्निः अशनिसम्पात इव । अयमाशयः—यथा निदाघे प्रचण्डभास्करकरैर्म्लायितो वृक्षस्य नवमेघेन वृष्टौ कृतायां सन्तापो निवर्त्यते, परं तत्कालमेव यद्यशनिपातस्तदा यादृशी तस्य तरोः स्थितिस्तादृश्येव मम पुत्रप्राप्तयेऽन्तः सचिन्तस्य तदाप्त्या किञ्चिदाश्वसतस्सम्प्रति त्वद्वियोगावसरोपस्थित्या स्थितिरिति । पूर्णोपमाऽलङ्कारः । 'अभ्रं मेघो वारिवाहः' इत्यमरः । 'आतपोरश्मिमात्रे स्यात्सूर्यरश्मौ च दृश्यते' इति धरणीकोशः ॥ वसन्ततिलकमेव वृत्तम् ॥ १६ ॥

अर्थः = पुत्रप्राप्तिरूपः । अनर्थानुबन्धी = प्रियाविरहरूपकष्टसमन्वितः । एकस्मिन्निष्टे महतोऽनिष्टस्य बीजमवस्थितमित्यर्थः । 'तपोवनं गमिष्यसि' यत्र शमकथया शक्यते दुःखमिदं निवृत्तवेगं कर्त्तुमिति शेषः ।

मन्दभागिनीम् = हतभाग्याम्, तथात्वं च परवत्तया प्रियतमवियोगेऽपि जीवनधारणेन बोध्यम्, कृतविनयस्य = विनीतस्य शिक्षितस्येत्यर्थः, 'विनयं प्रणतौ प्राहुः शिक्षायां विनयो मतः' इति विश्वः । अवसितकार्याम् = समाप्तकर्त्तव्याम्, 'पुत्रप्रयोजना भार्या' इति प्रसिद्ध्येत्थमुक्तिः । समर्थयते = अनुमन्यते, अयमर्थः—शिक्षितस्तनयो मया भवते दत्तस्तत्समाप्तभार्याकर्त्तव्यां मां भवान् स्वर्गं गन्तुमनुमन्यते कच्चिदिति ।

तुम्हारा तत्काल वियोग आकर उपस्थित हो गया । प्रथम वृष्टिसे सन्ताप मिटा नहीं कि वृक्षपर विद्युत्के समान अग्नि प्रज्वलित हो उठी ॥ १६ ॥

विदूषक—यह अनर्थ हुआ । मैं समझता हूँ आपको वल्कल धारण करके वनमें चलाजाना चाहिये क्योंकि एक सफलता दूसरी विफलताके साथ उपस्थित हो रही है ।

उर्वशी—शिक्षित होकर हमारा पुत्र लौट आया, मुझ अभागीनका कार्य समाप्त हो गया, क्या अब आप मुझे स्वर्ग जानेकी अनुमति देंगे ।

राजा—सुन्दरि मा मैवम् ।

न हि सुलभवियोगा कर्तुमात्मप्रियाणि
प्रभवति परवत्ता शासने तिष्ठ भर्तुः ।
अहमपि तव सूनावायुषि न्यस्तराज्यो
विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि ॥ १७ ॥

कुमारः—नार्हति तातः पुंगवधारितायां धुरि दम्यं नियोजयितुम् ।

राजा—अयि वत्स

शमयति गजानन्यान्गन्धद्विपः कलभोऽपि सन्
भवति सुतरां वेगोदग्रं भुजङ्गशिशोर्विषम् ।

नहीति । सुलभः सुखलभ्यः वियोगः प्रियजनविरहः यस्याम् सा सुलभवियोगा अनायासलभ्यस्वेष्टविरहा परवत्ता पराधीनता आत्मप्रियाणि स्वाभिलषितानि कर्तुं न प्रभवति शक्नोति, पराधीनो जनः स्वशरीरस्य तच्चेष्टितानां चानीशतया स्वप्रियाणां सम्पादनेन निश्चयेन क्षम इत्यर्थः । (अतः परतन्त्रतया) भर्तुः महेन्द्रस्य शासने आज्ञायाम् तिष्ठ यथा तदादेशमाचर । अहमपि तव सूनौ पुत्रे आयुषि तन्नामके कुमारे न्यस्तराज्यः स्थापितराज्यवहनधुरः विचरितमृगयूथानि सञ्चरन्मयूरकुलानि वनानि आश्रयिष्ये गाहिष्ये । राज्यभरं तव तनये निवेश्याश्रममिमं विसृज्य वानप्रस्थमवलम्बिष्य इत्यर्थः । 'वनानि' इति बहुवचनेन कुत्राप्येकत्रानवस्थानं तेन च मानसिकस्थितिः प्रकाश्यते ॥ १७ ॥

पुंगवधारितायाम् = महोक्षेणोह्यमानायाम् । धुरि = भारे । दम्यम् = वत्सतरम् । पुमाँश्चासौ गौः पुङ्गवः = महोक्षः । 'दम्यवत्सतरौ समौ' इत्यमरः ।

शमयतीति । गन्धद्विपः गन्धगजः कलभः अप्राप्तप्रौढभावः—बालः अपि अन्यान्

राजा—सुन्दरि, नहीं नहीं,

पराधीनतामें वियोग अतिसुलभ होता है, इसमें अपनी रुचिसे नहीं चला जा सकता है, तुम्हें अपने स्वामी इन्द्रकी आज्ञा माननी चाहिये । मैं भी तुम्हारे पुत्र कुमारके कन्धोंपर राज्यका भार डालकर मृगगणसे निषेवित वनमें चला जाऊंगा ॥

कुमार—आपको वृषराजके वहन करने योग्य बोझ ढोनेमें बछड़ेको नहीं लगाना चाहिये ।

राजा—अरे बेटा, गन्धद्विप उम्रमें छोटा होकर भी दूसरे हाथियोंको भगा देताहै, सांपके बच्चेका भी विष बहुत वेगवान् होता है । तुम बालक होकर भी इस

भुवमधिपतिर्बालावस्थोऽप्यलं परिरक्षितुं
न खलु वयसा जात्यैवायं स्वकार्यसहो भरः ॥ १८ ॥

लातव्य मद्वचनादमात्यपरिषदं ब्रूहि संभ्रियतामायुषो राज्याभिषेक इति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति दुःखितो निष्क्रान्तः)

गजान् शमयति पराजयते । गन्धगजलक्षणं यथा—यस्य गन्धं समाघ्राय न तिष्ठन्ति प्रतिद्विपाः । तं गन्धहस्तिनं प्राहुर्नृपतेर्विजयावहम्' इति । भुजङ्गशिशोः बालसर्पस्यापि विषम् गरलम् वेगोद्ग्रम् वेगैः वक्ष्यमाणलक्षणैः सुतराम् अतितराम् उद्ग्रम् भयानकम् भवति, विषवेगलक्षणं यथा—'धातोर्धात्वन्तरप्राप्तिर्विषवेग इति स्मृतः' । धातवश्च सप्त, तदुक्तं वाग्भटे—'रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः' इति । एवं च धातूनां सप्ततया तावन्त एव विषवेगा भवन्ति । यथा—'वेगो रोमाञ्चमाद्यो रचयति विषजः स्वेदवक्त्रोपशोषौ, तस्योर्ध्वस्तत्परौ द्वौ वपुषि जनयतो वर्णभेदप्रवेपौ । यो वेगः पञ्चमोऽसौ नयनविवशतां कण्ठभङ्गं च हिक्कां, षष्ठो निश्वासमोहौ वितरति च मृतिं सप्तमो भञ्जकस्य' ॥ बालावस्थः अनधिगतयौवनः अपि अधिपतिः राजा भुवम् धरित्रीम् परिरक्षितुम् समन्तात् त्रातुम् अलम् समर्थः । अत्रार्थान्तरमाह—'न खलु' इति । वयसा अवस्थया न खलु नहि, किन्तु जात्या एव अयम् भरः राजभावरूपः । प्रकर्षः स्वकार्यसहः स्वकर्त्तव्यनिर्वाहक्षमः भवतीति शेषः । अयमाशयः—बालोऽपि गन्धद्विपोऽन्यान् करिणोऽभिभवति, शिशोरपि सर्पस्य विषं दष्टजनमृत्यवे जायते, एवं बालोऽपि राज्यधुरमारोपितः स्वराज्यं रक्षितुं दक्षो भवति, यतोऽयं राजरूपेण वरणात्मप्रकर्षः किमपि वयो न निमित्तभावेनापेक्षते स हि स्वोत्पत्तिवशादेव स्वकार्यक्षम इति । पुरुषविशेषनिष्ठः स्वभावसिद्धएव कोऽपि महिमातिशयो भवति न तत्र वयोऽन्यद्वा किञ्चित् कारणमिति काले महाशयः ॥ हरिणीवृत्तम् ॥ १८ ॥

अमात्यपरिषदम् = मन्त्रिमण्डलम् । राज्याभिषेकः संभ्रियताम् = राज्येऽभिषेकायापेक्ष्यमाणाः सामग्र्यः समाह्रियन्ताम् ।

दुःखितः = राजवियोगसंभावनया खिन्नमनाः ।

पृथिवी रक्षा कर सकते हो, उम्रसे नहीं, जन्मसे ही यह भार ढोया जाता है ॥१८॥

लातव्य, मेरी ओरसे मन्त्रिमण्डलको कुमार आयुके राज्याभिषेकका प्रबन्ध करनेको कह दो ।

कञ्चुकी—महाराजकी जो आज्ञा (दुःखी होकर जाता है)

(सर्वे दृष्टिप्रविघातं रूपयन्ति)

राजा—(आकाशमवलोक्य) किं नु खलु निरभ्रे विद्युत्संपातः ।

उर्वशी—(विलोक्य) अहो भगवान्नारदः । (अम्मो भअवं णारदो)

राजा—अये भगवान्नारदः । य एषः ।

गोरोचनानिकषपिङ्गजटाकलापः
संलक्ष्यते शशिकलामलवीतसूत्रः ।
मुक्तागुणातिशयसंभृतमण्डनश्री-
र्हेमप्ररोह इव जङ्गमकल्पवृक्षः ॥ १९ ॥

दृष्टिप्रविघातम् = दृष्टिलोपम्, विद्युदादिना हता दृष्टिः कियन्तं कालं यावत्स्वकार्यासमा भवति स एवात्र दृष्टिप्रविघातो बोध्यः ।

निरभ्रे = मेघशून्ये व्योम्नि । विद्युत्सम्पातः = चपलास्फुरणम् ।

अत्राद्भुतसंप्राप्तेः उपगूहनं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्, तदुक्तम्—'तद्भवेदुपगूहनम् । यस्मादद्भुतसंप्राप्तिः' ।

गोरोचनेति । गोरोचनायाः स्वनामख्यातायाः निकषः कषपाषाणः तद्वता रेखा वा तद्वत् पिङ्गः पिङ्गलवर्णः जटाकलापः जटाजूटः यस्य तादृशः, शशिनः चन्द्रमसः कलाषोडशो भागः तद्वत् अमलं धवलं वीतसूत्रं यज्ञोपवीतं यस्य सः, मुक्तागुणानां मौक्तिकहाराणाम् अतिशयैः उत्कर्षैः संभृता सम्पादिता मण्डनश्रीः अलङ्कारशोभा यस्य सः नारदः, हेम्नः सुवर्णस्य प्ररोहो जटाशाखादिः यस्य तादृशः जङ्गमकल्पवृक्ष इव गमनशीलकल्पतरु इव संलक्ष्यते दृश्यते । गोरोचनाकषणरेखोपलक्षिततत्पाषाणस्थरेखातुल्यजटाजूटधरः शशिकरश्वेतयज्ञोपवीतो मौक्तिकमालाशाली च नारदः सुवर्णमयप्ररोहयुतजङ्गमकल्पशाखिनस्तुलां विभर्त्तीति भावः । उपमासङ्कीर्णा स्वभावोक्तिरलङ्कारः, वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १९ ॥

(सभीकी आँखें चका चौंधमें पड़ जाती हैं)

राजा—(आकाशकी ओर देखकर) बिना मेघकी यह बिजली कैसी ?

उर्वशी—(देखकर) अहा, यह तो भगवान् नारद हैं ।

राजा—ऐ, यह भगवान् नारद हैं, जो यह—

गोरोचनके निकषके समान पिङ्गल वर्ण जटाजूट और चन्द्रमाकी कलावत् धवल यज्ञोपवीत धारण किये तथा मुक्तामालासे अपनी शोभाको बढ़ाये हुए ऐसे मालूम पड़ रहे हैं जैसे स्वर्णमय प्ररोहोंसे भरा जङ्गम कल्पवृक्ष हो ॥ १९ ॥

अर्घ्यमस्मै ।

उर्वशी—(यथोक्तमादाय) इयं भगवतेऽर्हणा । (इअं भअवदो अरिहणा)

(ततः प्रविशति नारदः)

नारदः—विजयतां मध्यमलोकपालः ।

राजा—(उर्वशीहस्तादर्घ्यमादायावर्ज्य) भगवन्नभिवादये ।

उर्वशी—भगवन्प्रणमामि । (भअवं पणमामि)

नारदः—अविरहितौ दम्पती भूयास्ताम् ।

राजा—(आत्मगतम्) अपि नामैवं स्यात् । (प्रकाशम् । कुमारमाश्लिष्य) वत्स भगवन्तमभिवादयस्व ।

अर्घ्यम् = अर्घः पूजाविधिः, तदर्थं द्रव्यमर्घ्यम्, 'पादार्घाभ्यां चे'ति यत् । 'गन्धमाल्यादिसंयुक्तमुदकमर्घ्यमुच्यते' । 'षट् तु त्रिष्वर्घ्यमध्यार्थे पाद्यं पादाय वारिणि' इत्यमरः ।

अर्हणा = पूजा, 'पूजा नमस्यापचितिः सपर्यार्चार्हणाः समाः' इत्यमरः ।

विजयताम् = सर्वोत्कर्षेण वर्त्तताम् । मध्यमलोकपालः = मर्त्यलोकरक्षी, 'पुंसि श्रुतौ मध्यमलोकमर्त्यौ' इति त्रिकाण्डीशेषः ।

अभिवादये = प्रणमामि । नामोच्चारणपूर्वको नमस्कारोऽभिवादनम् । आभिमुख्येन वाद्यते आशीरनेनेत्यभिवादनम् । 'समे तु पादग्रहणमभिवादनमित्युभे' इत्यमरः ।

अविरहितौ = नित्यमिलितौ । दम्पती = जाया च पतिश्चेति विग्रहे राजदन्ता-

---

इनके (नारदके) लिये अर्घ्य लाओ ।

उर्वशी—(अर्घ्य लेकर) यह है मुनिवरके लिये अर्घ्य ।

(नारदका प्रवेश)

नारद—जय हो मध्यमलोकपालकी ।

राजा—(उर्वशीके हाथसे अर्घ्य लेकर तथा उनके सामने रखकर) भगवन् प्रणाम करता हूँ ।

उर्वशी—प्रणाम करती हूँ ।

नारद—आप दोनों सदा अवियुक्त रहें ।

राजा—(स्वगत) कहीं ऐसा हो जाता । (प्रकट) (कुमारको छूकर) बेटा, मुनिवरको प्रणाम कर ।

कुमारः—भगवन्नौर्वशेय आयुः प्रणमति ।

नारदः—आयुष्मानेधि ।

राजा—अयं विष्टरोऽनुगृह्यताम् ।

नारदः—(तथोपविष्टः)

(सर्वे नारदमनूपविशन्ति)

नारदः—राजन् ! श्रूयतां महेन्द्रसंदेशः ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

नारदः—प्रभावदर्शी मघवा वनगमनाय कृतबुद्धिं भवन्तमनुशास्ति···

राजा—किमाज्ञापयति ।

दिगणे पाठेन जायाशब्दस्य दम्भावः । अत्रोर्वशीपुरूरवसोः निष्प्रत्यूहसमागमोपक्षेपणात् 'कार्यम्' नाम पञ्चमी अर्थद्रकृतिरुक्ता भवति ।

और्वशेयः = उर्वश्या अपत्यं पुमान् और्वशेयः ।

विष्टरः = आसनम् । 'वृत्तासनयोर्विष्टरः' इति निपातः । अनुगृह्यताम् = उपविश्य सनाथीक्रियताम् । 'विष्टरो विटपी दर्भमुष्टिः पीठाद्यमासनम्' इत्यमरः ।

महेन्द्रसंदेशः = इन्द्रसंवादः ।

प्रभावदर्शी = प्रभावेण देवत्वकृतेन शक्तिविशेषेण । वनगमनाय कृतबुद्धिम् = वनं गन्तुं व्यवस्यन्तम् । अनुशास्ति = आदिशति·····

कुमार—उर्वशीपुत्र आयु प्रणाम करता हूँ ।

नारद—आयुष्मान् होओ ।

राजा—इस आसनपर विराजें ।

नारद—(बैठता है)

(सभी नारदके बैठ जानेपर बैठते हैं)

नारद—राजन्, महेन्द्रका सन्देश सुनिये ।

राजा—सावधान हूँ ।

नारद—प्रभावसे सबकुछ जान लेनेवाले इन्द्रने वनगमनोद्यत आपसे कहा है कि—

राजा—क्या आज्ञा दी है इन्द्रने ?

नारदः—त्रिकालदर्शिभिर्मुनिभिरादिष्टः सुरासुरसंगरो भावी । भवांश्च सांयुगीनः सहायो नः । तेन त्वया न शस्त्रं संन्यस्तव्यम् । इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति ।

उर्वशी—(अपवार्य) अहो शल्यं मे हृदयादपनीतमिव । (अम्महे सल्लं मे हिअआदो अवणीदं विअ)

राजा—परवानस्मि देवेश्वरेण ।

नारदः—युक्तम् ।

त्वत्कार्यं वासवः कुर्यात्त्वं च तस्येष्टमाचरेः ।

त्रिकालदर्शिभिः = भूतवर्त्तमानभविष्यद्रूपकालत्रयदर्शनक्षमैः । सुरासुरसंगरः= देवदानवयुद्धम् । सांयुगीनः = संयुगे साधुः, युद्धकुशलः । 'सांयुगीनो रणे साधुः' इत्यमरः । 'प्रतिजनादिभ्यः खञ्' इति खञ् प्रत्ययस्तस्येनादेशः । सन्यस्तव्यम् = त्याज्यम् । यावदायुः = जीवनपर्यन्तम् । सहधर्मचारिणी = भार्या ।

इयं चोर्वशीत्यादिना समग्रफलसंप्राप्तिकथनात् 'फलागमः' नाम पञ्चम्यवस्था कथिता, अस्याः कार्येणार्थप्रकृत्या योगान्निर्वहणसन्धिः ॥

शल्यम् = बाणाग्रम् । महद्हृदयदुःखमपगतमनेनेन्द्रसंदेशेनेति भावः ।

परवान्=पराधीनः । यथाज्ञापयति शक्रस्तथा मया शिरोधार्यं कार्यमिति भावः ।

युक्तम् = तदुक्तानुष्ठानपरत्वं तवोचितमित्यर्थः ।

अत्र 'शल्यमिव हृदयादपगतम्' इति दुःखापनयात्समयो नाम सन्ध्यङ्गम्, तल्लक्षणं यथा—'समयो दुःखनिर्याणम्' इति । 'परवानस्मि' इत्यत्र च वाञ्छितसिद्धेर्गम्यमानत्वाद् आनन्दो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् ॥

त्वत्कार्यमिति । वासवः इन्द्रः त्वत्कार्यम् । तवाभीष्टम् कुर्यात्, त्वं च तस्य वासवस्य इष्टम् अभिमतम् आचरेः कुर्याः । तत्र दृष्टान्तमाह–सूर्यः अग्निं तेजसा

नारद—त्रिकालज्ञ मुनियों का कहना कि देवासुरसंग्राम होनेवाला है, आप हमारे रणमें साथ देते हैं इसलिये आप शस्त्रत्याग न करें, और यह उर्वशी आयुभर आपकी स्त्री रहे ।

उर्वशी—(छिपाकर) हमारे हृदयका कांटा निकल सा गया ।

राजा—मैं तो इन्द्रके अधीन ही हूँ ।

नारद—ठीक है,

आप इन्द्रका कार्य करें और इन्द्र आपका कार्य किया करें । सूर्य अग्निको

सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं च तेजसा ॥ २० ॥

(आकाशमवलोक्य) रम्भे उपनीयतां स्वयं महेन्द्रेण संभृतः कुमारस्यायुषो यौवराज्याभिषेकः ।

(प्रविष्टा यथोक्तहस्ता अप्सरसः)

अप्सरसः—भगवन्नेतेऽभिषेकसंभाराः । (भअवं इमे अभिसेअसंभारा)

नारदः—उपवेश्यतामायुष्मान्भद्रपीठे ।

रम्भा—इतो वत्स (इति कुमारमुपवेशयति) । (इदो वच्छ)

नारदः—(कुमारस्य शिरसि कलशमावर्ज्य) रम्भे निर्वर्त्यतां शेषो विधिः ।

समेधयति वर्धयति अग्निश्च सूर्यं तेजसा समेधयति दीपयति । अग्नितेजो हि दिवसे सूर्यमनुप्रविशति रात्रौ सूर्यतेजोऽग्निमिति पौराणिकी प्रसिद्धिः । श्रुतिरप्याह—'सौरं तेजः सायमग्निं संक्रमते, आदित्यो वास्तं यन्नग्निमनुप्रविशति, अग्निर्वाऽऽदित्यं सायमनुप्रविशति' ॥ २० ॥

उपनीयताम् = उपस्थाप्यताम् । संभृतः = संचितसामग्रीकः ।

अभिषेकसंभाराः = अभिषेकेऽपेक्षिष्यमाणानि वस्तूनि, बिल्ववल्मीकमृत्तिकाकलशतीर्थजलादीनि तत्रापेक्ष्यन्ते इति तात्कालिकः सम्प्रदायः ॥

भद्रपीठे = भणिखचिते हैमासने । 'नृपासनन्तु यद्भद्रासनं सिंहासनञ्च तत्' इति हैमः । देवीपुराणोक्तं भद्रासनलक्षणन्तु—हैमं च राजतं ताम्रं क्षीरवृक्षमयं च वा । भद्रासनं प्रकर्तव्यं सार्धहस्तसमुच्छ्रितम् ॥ सपादहस्तमानं च राज्ञो माण्डलिकान्तरात्' ॥ इति । वराहसंहितायां तु—'त्रिविधस्तस्योच्छ्रायो हस्तः पादाधिकोऽर्धयुक्तश्च । माण्डलिकानन्तरजित्समस्तराज्यार्थिनां शुभदः' ॥

आवर्ज्य = निक्षिप्य, कलशजलेन स्नपयित्वेत्यर्थः । निर्वर्त्यताम् = सम्पाद्यताम् । शेषो विधिः = नीराजनादिः ।

उद्दीपित करता है और अग्नि अपने तेजसे सूर्यको प्रखर बनाता है ॥ २० ॥

(ऊपर देखकर) रम्भे, स्वयं महेन्द्रने कुमार आयुके अभिषेकार्थ जो सामग्री भेजी है वह तो लाओ । (सामग्री लेकर अप्सराओं का प्रवेश)

अप्सरायें—महाराज, यही है सामग्री ।

नारद—कुमार को भद्रासन पर बैठाइये ।

रम्भा—कुमार, इधर आइये (कुमारको बैठाती है)

नारद—(कुमारके शिरपर कलश डालकर) रम्भे, और विधियाँ तुम कर दे ।

रम्भा—(यथोक्तं निर्वर्त्य) वत्स प्रणम भगवन्तं मातापितरौ च ।
(वच्छ पणम भअवन्तं माइापिदरे अ)

कुमारः—(यथाक्रमं प्रणमति)

नारदः—स्वस्ति भवते ।

राजा—कुलधुरंधरो भव ।

उर्वशी—पितुराराधयिता भव । (पिदुणो आराधइत्तओ होहि)

(नेपथ्ये वैतालिकौ)

प्रथमः—विजयतां युवराजः ।

अमरमुनिरिवात्रिर्ब्रह्मणोऽत्रेरिवेन्दु-
र्बुध इव शिशिरांशोर्बोधनस्येव देवः ।

भगवन्तम् = नारदम् ।

कुलधुरन्धरः = कुलधौरेयः । धुरं धारयतीति धुरन्धरः 'संज्ञायां भृतॄवृजिधारिसहिपतिदमः' धारयते खचि 'खचि ह्रस्व' इति ह्रस्वः ।

आराधयिता = तोषकरः ।

अमरमुनिरिवेति । ब्रह्मणः प्रजापतेः अमरमुनिः अत्रिः इव, (अत्रिर्हि ब्रह्मणो मानसपुत्रः) अत्रेः इन्दुः चन्द्र इव, शिशरांशोः चन्द्रस्य बुध इव, बोधनस्य बुधस्य देवः राजा पुरूरवा इव त्वम् लोककान्तैः, जनमनोरमैः गुणैः पितुः स्वजनकस्य अनुरूपः समानः भव एधि, अतिशयिनि सर्वोत्कर्षयुते ते तव वंशे कुले आशिषः समाप्ताः निरवकाशा एव, सर्वश्रेयोधिगमादाशास्यान्तराभावात् । यथा ब्रह्मणोऽत्रि-

रम्भा—(यथोक्त करके) कुमार, मुनिवर तथा अपने मातापिताको प्रणाम करो ।

कुमार—(सबको यथाक्रम प्रणाम करता है)

नारद—तुम्हारा कल्याण हो ।

राजा—कुलका गौरव बढ़ाओ ।

उर्वशी—पिताकी आराधना करो ।

(नेपथ्यमें दो वैतालिक)

प्रथम—युवराजकी विजय हो । जिस प्रकारसे ब्रह्माके अनुरूप देवमुनि अत्रि, अत्रिके अनुरूप चन्द्रमा, चन्द्रमाके बुध, और बुधके अनुरूप हमारे महाराज हुए

भव पितुरनुरूपस्त्वं गुणैर्लौकिकान्तै-
रतिशयिनि समाप्ता वंश एवाशिषस्ते ॥ २१ ॥

द्वितीयः—

तव पितरि पुरस्तादुन्नतानां स्थितेऽस्मिन्-
स्थितिमति च विभक्ता त्वय्यनाकम्प्यधैर्ये ।
अधिकतरमिदानीं राजते राजलक्ष्मी-
र्हिमवति जलधौ च व्यस्ततोयेव गङ्गा ॥ २२ ॥

रनुरूपोऽत्रेश्चेन्दुस्तस्य बुधस्तस्य च तव पितानुरूपो जातस्तद्वत्त्वमपि स्वपितुरनुरूप एधि, नान्यत्तव किमप्याशास्यं सर्वश्रेयोऽधिगमादन्यासामाशिषां पुनरुक्तत्वापातादिति भावः। चन्द्रोऽत्रेर्नेत्रसमुत्थ इति पुराणानि प्रतिपादयन्ति, यथोक्तं पाद्मे—

'ब्रह्मणो मानसः पुत्रस्त्वत्रिर्नाम महातपाः ।
स्रष्टुकामः प्रजावत्स तपस्तेपे सुदुस्तरम् ॥
ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य रेतः सोमत्वमीयिवत् ।
नेत्राभ्यां तस्य सुस्राव दशधा द्योतयद्दिशः ॥

बुधो बृहस्पतिपत्नीतारागर्भे सोमेनोत्पादितः, यथोक्तं मात्स्ये—

'ततः संवत्सरस्यान्ते द्वादशादित्यसन्निभः ।
दिव्यपीताम्बरधरः पीताभरणभूषितः ॥
राज्ञः सोमस्य पुत्रत्वात्सौम्यो राजसुतः स्मृतः' । इति ॥

मालिनीवृत्तम् ॥ २१ ॥

तव पितरीति । उन्नतानाम् महताम् पुरस्तात् अग्रकोटौ स्थितेऽस्मिन् तव पितरि जनके अनाकम्प्यधैर्ये अचलधीरभावे स्थितिमतिमर्यादापालके च त्वयि विभक्ता लब्धविभागा राजलक्ष्मीः श्रीः (उन्नतशिरसाम् अग्रगण्ये) हिमवति हिमालये (अक्षोभ्यगाम्भीर्ये पृथ्वीमर्यादाकरे च) जलधौ समुद्रे व्यस्ततोया विभक्तजला गङ्गा इव इदानीम् तव राज्याभिषेके जाते अधिकतरम् बहु राजते शोभते । यथा हिमवतोऽवतीर्णा गङ्गा जलधौ विश्राम्यति, उभयत्र प्रसरति च तद्वदियं तव राजलक्ष्मीरिदानीं प्रसरतीति भावः । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् । उपमालङ्कारः श्लेषश्च ॥ २२ ॥

उसी तरह लोकरमणीय गुणोंसे आप भी युवराज ! अपने पिताके अनुरूप हों, आपकी सर्वोच्च कुलपरम्परामें ही सभी आशीर्वाद समाप्त हैं ॥ २१ ॥

द्वितीय—तुम्हारे पिता जो सभी उन्नतोंमें अग्रगण्य हैं वे वर्त्तमान हैं ही धैर्यके आगार तुम भी मर्यादाशाली होगये—इस तरह तुम दोनों में बंटी हुई यह राजलक्ष्मी अधिक शोभित हो रही है, जैसे हिमालयसे लेकर समुद्रतक फैली गङ्गा हो ॥२२॥

अप्सरसः—(उर्वशीमुपेत्य) दिष्ट्या पुत्रस्य युवराजश्रिया भर्तुरविरहेण वर्धसे । (दिट्ठिआ पुत्तस्य जुवराअसिरीए भत्तुणो अविरहेण वड्ढसि)

उर्वशी—साधारण एषोऽभ्युदयः । (कुमारं हस्ते गृहीत्वा) एहि वत्स ज्येष्ठमातरमभिवन्दस्व । (साहारणो एसो अब्भुदओ । एहि वच्छ जेट्ठमादरं अभिवन्देहि)

कुमारः—(प्रतिष्ठते)

नारदः—तिष्ठ, समये तत्रभवत्याः समीपं गच्छसि ।

आयुषो यौवराज्यश्रीः स्मारयत्यात्मजस्य ते ।
अभिषिक्तं महासेनं सैनापत्ये मरुत्वता ॥ २३ ॥

युवराजश्रिया = यौवराज्याभिषेकेण । अविरहेण = विरहसंभावनाऽपगमेन ।

एषः = मत्पुत्रस्य यौवराज्यलाभरूपः । अभ्युदयः = समृद्धिः । साधारणः = तुल्यः, यथाऽयं ममाभ्युदयस्तथा भवतीनामपि, अतो वयं सर्वा एवात्र प्रसन्ना भवेम, न केवलमहमिति भावः ।

ज्येष्ठमातरम्—राज्ञः प्रथमां पत्नीम्, देवीमौशीनरीम् इत्यर्थः । सा हि विमाता ज्येष्ठा चेति तथोक्तिः ।

समये = उपयुक्ते काले । तत्रभवत्याः = देव्या औशीनर्याः ।

आयुष इति । ते तव आत्मजस्य पुत्रस्य आयुषः तन्नामकस्यास्य कुमारस्य यौवराज्यश्रीः युवराजपदाभिषेकः मरुत्वता इन्द्रेण सैनापत्ये सेनापतिभावे अभिषिक्तम् कृताभिषेकं महासेनम् कार्त्तिकेयम् स्मारयति स्मृतिगोचरतां प्रापयति । सदृशदर्शनं स्मृतिजनकमिति प्रसिद्धम्, अयञ्चास्याभिषेकः कुमारस्य सेनापतिपदेऽभिषेकं स्मारयति तेनायं कुमारतुल्य इति सिद्धमिति भावः । 'इन्द्रोमरुत्वान्मघवा' 'कार्त्तिकेयो महासेनः' इति चामरः ॥ २३ ॥

अप्सरायें—(उर्वशीके पास जाकर) बड़ी खुशीकी बात तुम्हारे लिये कि बेटा युवराज होगया और स्वामिविरह होते होते टल गया ।

उर्वशी—वह खुशी हमारी और तुम्हारी सबकी है । (कुमारका हाथ पकड़कर) आओ बेटा, बड़ी मांको प्रणाम करो ।

कुमार—(चलता है)

नारद—ठहरो, समय पर ही देवीके पास जा रहे हो ।

तुम्हारे पुत्र कुमार आयुका यौवराज्य मुझे इन्द्रद्वारा सेनापतित्वपर अभिषिक्त महासेन की याद कराता है ॥ २३ ॥

राजा—एवमनुगृहीतो भगवता कथं न योग्यो भविष्यति ।

नारदः—किं ते भूयः पाकशासनः प्रियं करोतु ।

राजा—यदि मे मघवा प्रसन्नः किमतः परमिच्छामि । तथापीदमस्तु ।

(भरतवाक्यम्)

परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम् ।
सङ्गतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम् ॥ २४ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति पञ्चमोऽङ्कः ।

अनुगृहीतः=दयया सनाथीकृतः, यस्योपरि भवत ईदृशी दया, यस्त्वयं कलशजलमावर्ज्याभिषिञ्चसि स कुतो न योग्यः स्यादिति भावः ॥

पाकशासनः=इन्द्रः । 'भूयः प्रियं करोतु' इत्यनेन काव्यसंहारलक्षणभङ्गमुपक्षिप्तम्, तल्लक्षणं यथा—'वरप्रदानसंप्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते' इति ।

भरतवाक्यम्=नटवाक्यम्, नाटकाभिनयसमाप्तौ नटेन सामाजिकेभ्य आशीर्दीयते इति व्यवहारः, सैवाशीर्भरतवाक्यमिति सम्प्रदायविदो वदन्ति ।

परस्परेति । परस्परविरोधिन्योः अन्योन्यबद्धवैरयोः श्रीसरस्वत्योः लक्ष्मीविद्ययोः एकसंश्रयदुर्लभम् एकत्र वासदुरापम् सङ्गतम् मिलनम् सताम् सज्जनानाम् भूतये कल्याणाय सदा सर्वदा अस्तु जायताम् । प्रायेण हीश्वरा अविद्या विद्यावन्तश्च निर्धना भवन्ति तेन कल्प्यते यत् लक्ष्मीसरस्वत्यौ परस्परविरोधिन्यौ, तयोरेकत्र वासो न संभवति, तत्तयोः सङ्गतिर्जायातां येन सतां भूतिरस्तु, विद्वांसः समृद्धा राजानश्च विद्यानुरागवन्तः सन्त्वित्यर्थः ॥ २४ ॥

राजा—जब आपकी इतनी कृपा है तब क्यों न योग्य होगा

नारद—इन्द्र इसके अलावा आपका क्या प्रिय करें ?

राजा—यदि इन्द्र मुझपर प्रसन्न हैं तब इससे अधिक क्या चाहूँ, फिर ? यह होवे— (भरतवाक्य)

एक दूसरेसे विरोध रखनेवाली लक्ष्मी और सरस्वतीका सङ्गम, जो कम जगह देखा जाता है, सज्जनोंके कल्याणके लिये सदा हुआ करे ॥ २४ ॥

(सबका प्रस्थान)

पञ्चम अङ्क समाप्त

अत्र सज्जनानां प्रशंसाया गम्यमानत्वात् प्रशस्तिर्नामाङ्कमुक्तम् , तल्लक्षणं यथा—
'देवद्विजनृपादीनां प्रशस्तिः स्यात् प्रशंसनम्' इति ।

यो जातो धरणीसुरान्वयसरो हंसात्प्रसर्पद्यशो—
ज्योत्स्नाद्योतितदिङ्मुखान्मधुरिपुध्यानैकबद्धाशयात् ॥
मिश्राख्यान्मधुसूदनाजयमणौ सीमन्तिनीनां मणौ
तस्य श्रीयुतरामचन्द्रसुधियो व्याख्या प्रसिद्ध्यादियम् ॥ १ ॥
व्योमक्षोणिखबाहुसम्मितशरद्याशातिथौ श्रावणे
चन्द्रे पुष्यति वासरे सुरगुरोः श्रीशारदानुग्रहात् ॥
समाड्धर्मसमाजसंस्कृतमहाविद्यालये पूर्णता-
मानीतेयमुमामहेश्वरपदाम्भोजेषु विश्राम्यतु ॥ २ ॥
'विद्वांसो वसुधातले परवचः श्लाघासु वाचँयमाः—
उक्त्वैतद्विमुखी भवामि न मनागालोचनावर्त्मनः ॥
ते हि स्वर्णपरीक्षणैकनिकषा निष्पक्षपातां दृशं
प्रक्षिप्यात्मगुणोचितादरभुवं कुर्युर्ममेमां कृतिम् ॥ ३ ॥
छिद्रान्वेषणमात्र सज्जधिषणानप्यत्र दोषान्बहून्
ग्रन्थे दर्शयतो न मत्सरितया निन्दामि किन्त्वर्थये ॥
निर्दोषेण पथा प्रशस्तरचनां निर्माय काञ्चित्कृतिं
लोकेभ्यः समुपाहरन्तु भविता भूयो यशोऽनेन वः ॥ ४ ॥
मान्यान् यानहमाद्रिये नतशिरास्ते ते सखायश्च मे
येषामाग्रहतो विदन्नपि निजां शक्तिं प्रवृत्तोऽभवम् ॥
व्याख्यानेऽत्र न तैरियं मम कृतिः कार्यान्यथाद्दक्पदं
सर्वानिन्दितकीर्त्तिलाभसुभगं भाग्यं कुतोऽस्मादृशाम् ॥ ५ ॥

इति मुजफ्फरपुरमण्डलान्तःपाति'पकडी'ग्रामवासिना धर्मसमाजसंस्कृतमहाविद्यालये वेदान्तदर्शनाध्यापकेन व्याकरणवेदान्तसाहित्याचार्याद्युपाधिप्रसाधिना मैथिलपण्डित श्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मणा विरचितायां विक्रमोर्वशीय त्रोटकस्य प्रकाशाभिधायां व्याख्यायां पञ्चमाङ्कप्रकाशः ।

समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः

'प्रकाश' कर्त्तुर्वंशपरिचयः

माण्डरसंज्ञकमैथिलभूसुरवंशेऽजनिष्ट कृती ।
श्रीमान् 'कन्हाइ' मिश्रो हृतजनताऽज्ञानतामिस्रः ॥ १ ॥
उदित'श्छीतन' शर्मा ततः सुमेरोरिवादित्यः ।
योऽमानि मानिनिवहश्रेयान् सुकृतावदातात्मा ॥ २ ॥
मृतपितृकः सबाल्ये लातुलकुलमाश्रितः शरणम् ।
ग्रामे 'पकडी' नामनि गृहस्थतां प्रापितो न्यवसत् ॥ ३ ॥
तत्तनयेषु प्रथमो वयसा ज्ञानेन यशसा च ।
'मधुसूदन' मिश्राख्यो भक्तश्चतुराग्रणीरभवत् ॥ ४ ॥
तत एव श्री 'जयमणि' संज्ञायां मातरि प्रापम् ।
जनिमब्धिरामवसुभूमितशाके 'रामचन्द्रो'ऽहम् ॥ ५ ॥
प्रभवादष्टमशरदि स्नेहान्मामुपनिनीषन्तम् ।
तातं सदा स्वतन्त्रा नियतिरकार्षीत् कथाशेषम् ॥ ६ ॥
बाल्ये पण्डित 'शिङ्कुर' शर्म कृपाप्राप्तबोधस्य ।
मम चक्षुषी चमत्कृतसंस्कृतभाषा-प्रयोगेषु ॥ ७ ॥
उन्मीलिते अभूतां श्री 'श्रीनाथा'ख्यविबुधस्य ।
मम मातुलस्य चरणौ निषेवमाणस्य न चिरेण ॥ ८ ॥
गूढं शास्त्ररहस्यं ज्ञातुं निखिलं निबद्धकक्षस्य ।
उपदेशको ममाभू'दीश्वरनाथो' विदद्वन्द्यः ॥ ९ ॥
स्वाभाविक्या कृपया स्नेहेनान्तःप्ररूढेन ।
ममता दृशा च यो मामपुषत् सोदर्यभावेन ॥ १० ॥
तत्कृपयाऽधिगताखिलसंस्कृतसाहित्यमर्माणम् ।
बुधवर 'किशोरि' शर्मा मां व्यधिताचार्यपदभाजम् ॥ ११ ॥
श्रीयुत 'जटेश्वरा'भिधविद्वद्वरपादमुपजीव्य ।
दर्शनशास्त्ररहस्यं न चिरेणाशेषमाचकलम् ॥ १२ ॥
एतानन्यांश्च गुरून्मनसि ममावस्थितान् सततम् ।
ध्यायामि यत्कृपा मे मानुष्यकमञ्जसाऽस्तासीत् ॥ १३ ॥
सोऽहं वाक्परिचरणव्यापृतचेताः प्रकाशममुम् ।
निरमामिह विद्वांसः कृपास्पृशः स्वादृशो दध्युः ॥ १४ ॥

परिशिष्टम्

नोट्स (Notes)

प्रथम अङ्क

१ विक्रमोर्वशीय (पृ. १)

विक्रमेण पराक्रमेण लब्धा उर्वशी विक्रमोर्वशी, तामधिकृत्य कृतं त्रोटकं विक्रमोर्वशीयम् 'अधिकृत्यकृते ग्रन्थे' इससे छ प्रत्यय होता है। वस्तुतः—**'विक्रमश्च उर्वशी च विक्रमोर्वश्यौ, तावधिकृत्य कृतं त्रोटकम् 'विक्रमोर्वशीयम्'** यह विग्रह होगा, क्योंकि छ प्रत्यय होनेके लिये द्वन्द्व समास होना चाहिये—**'शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजनादिभ्यश्छः'** ऐसा सूत्र है। विक्रम यह पुरूरवाका नामान्तर है। चाहे कोई भी विग्रह किया जाय यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कालिदासने जानकर विक्रम शब्दका प्रयोग इस ग्रन्थके नाममें और जहाँ तहाँ भी करना चाहा है, जैसे—**'विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्' 'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः'** इत्यादि। ऐसा करनेसे उनका मतलब अपने आश्रयदाता विक्रमादित्यको अमर बनाना था। इस तरह की बात यहाँ कही जाती है। परन्तु यह विवादग्रस्त है कि विक्रमादित्य उनके आश्रयदाता थे और आश्रयदाताके नामको अपनी कृतियोंमें पिरोनेकी बात कालिदास जैसे महाकविके लिये उपहासास्पद प्रतीत होती है। इसलिये भी ऐसा नहीं मानना चाहिये। विक्रम पुरूरवाका नामान्तर मानकर द्वन्द्व समास करके छ प्रत्यय किया जाय और विक्रम शब्दसे विक्रमादित्यका स्मरण न किया जाय।

२ वेदान्तेषु (पृ. १)

वेदोंके अन्तको वेदान्त कहते हैं वह उपनिषद् है। वेद तीन भागोंमें विभक्त किया जाता है, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। अन्तिम भाग उपनिषद् हैं इन्हें ज्ञानकाण्ड भी कहते हैं, वही वेदान्त ब्रह्मविद्या आदि कहा जाता है। सूत्रकालमें वेदान्त उत्तरमीमांसा भी कहा जाता था। वेदान्त ब्रह्मविद्या है। इसके द्वारा परमतत्त्व या आत्मतत्त्व जाना जाता है।

३ एक पुरुष (पृ. १)

वह अन्तिम पुरुष जो अन्तमें अकेला बच जाय। उसे पुरुष इसलिये कहते हैं कि वह जीवरूपसे पुरों—शरीरोंमें रहा करता है। भागवतमें कहा है—

'शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ' 'पुरि शेते पुरुषः' यही पुरुष पदकी व्युत्पत्ति की

गई है। पृषोदरादित्वात् सिद्धि मानी जाती है। महाभारतकारने इसकी दूसरी व्युत्पत्ति की है :—

'पूरणात्सदनाच्चैव ततोऽसौ पुरुषो मतः'
नवद्वारं पुरं पुण्यमेतैर्भूयः समन्वितम्।
व्याकरोति महात्मा यत्तस्मात्पुरुष उच्यते'
'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः'॥

इसलिये उसका सजातीय, विजातीय, स्वगत, एतत्त्रिविधभेदशून्य होनेसे एक पुरुषत्व शास्त्रसिद्ध माना जाता है।

४ स्थाणु (पृ. २)

स्थाणु उसे कहते हैं जो सदा अपरिवर्त्तितरूपमें बना रहे जिसमें किसी प्रकारका बाह्य या आन्तर परिवर्त्तन नहीं हो। यहाँ स्थाणुसे शिव अर्थ लिया जाता है क्योंकि वह एक ठूठकी तरह रह जाता है। विष्णुपुराणमें लिखा है:—

'समुत्तिष्ठञ्जलात्तस्मात् प्रजास्ताः सृष्टवानहम्।
ततोऽहं ताः प्रजा दृष्ट्वा रहिता ब्रह्मतेजसा॥
क्रोधेन महता युक्तो लिङ्गमुत्पाट्य चाक्षिपम्।
उत्क्षिप्तं सरसो मध्ये ऊर्ध्वमेव सदास्थितम्॥
तदाप्रभृतिलोकेषु स्थाणुरित्येव विश्रुतम्'।

५ निःश्रेयसः (पृ. २)

सबसे बड़ा कल्याण को 'निःश्रेयस' कहते हैं, फलतः इसका अर्थ मोक्ष होता है। क्योंकि वही सर्वाधिक श्रेय माना गया है। 'निःश्रेयस' पा लेनेपर कुछ प्राप्तव्य नहीं रह जाता है, अत एव उसे परमपुरुषार्थ कहते हैं, **'न स पुनरावर्त्तते'** इससे उसे नित्य कहा है। इसके अतिरिक्त स्वर्गादि तो स्वकारणभूत तपोविशेष या अदृष्ट विशेषके समाप्त होनेपर समाप्त हो जाते हैं इसीलिये निःश्रेयस नहीं हो सकते हैं। **'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति'॥**

६ नान्द्यन्ते (पृ. ३)

नान्दीपदकी व्युत्पत्ति तथा लक्षण टीका (पृ. ३) में देखिये। यहाँकी नान्दी चतुष्पदा है। यह पत्रावली नामक है। इसमें संक्षेपमें काव्यका अर्थ बता दिया गया है। संक्षेपमें श्लेष या समासोक्तिके द्वारा जहाँ काव्यार्थ बता दिया जाय उसे पत्रावली नामक नान्दी कहते हैं। नाट्यदर्पणमें कहा है—

'यस्यां बीजस्य विन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुनः।
श्लेषेण वा समासोक्त्या नाम्ना पत्रावलीति सा'॥

यहाँ पर पादशब्दसे क्या लिया जाता है इसका भी विवरण टीकामें देखें।

७ नरसखस्य मुनेः (पृ. ७)

नर और नारायण नामक दो मुनियोंकी चर्चा वैदिक साहित्यमें की गई है। ऋग्वेदमें दो मन्त्र हैं जिनमें इनकी चर्चा है। आगेके साहित्यमें इन्हें 'देवौ' या 'पूर्व देवौ' कहा गया है। पीछे चलकर इन्हें अर्जुन और कृष्णके रूपमें वर्णित किया गया है। इनका आश्रम 'बदरिकाश्रम' मानते हैं। वामनपुराणमें लिखा है कि—

इनकी तीव्र तपस्यासे घबड़ाकर इन्द्रने इनके पास कामदेवके साथ वसन्त तथा अप्सराओंको इन्हें तपसे च्युत करनेके निमित्त भेजा था। नारायणने इनका अभिप्राय जान लिया और इनका स्वागत किया। इसके बाद इन लोगोंको दिखाकर नारायणने एक फूल लिया और उसे अपनी जांघपर रखा। रखते ही वह फूल अप्सरा बन गया। इस आश्चर्य को देखकर अपनी बुरी नीयतके लिये उन लोगोंको खेद हुआ, और वे स्वर्ग लौटने लगे। चलनेके समय नारायणने-वह अप्सरा जो उनके जघापर पैदा होनेके कारण उर्वशी नामसे ख्यात हुई, इन्द्रको देनेके लिये उनके साथ भेज दी। हरिवंशकारने लिखा है कि नारायणने अपनी जंघा चीरकर उर्वशी पैदाकी थी।

८ अप्सरसाम् (पृ. ७)

अप्सरायें स्वर्गकी वेश्या कही गई हैं, इन्हें इन्द्रकी अधीनतामें रहना पड़ता है और इन्द्र जब किसी तपस्वीके तपोविशेषसे शङ्कित होते हैं तब उसे तपश्च्युत करनेमें इनका उपयोग करके अपना मतलब साधते हैं। पानीसे पैदा होनेके कारण इनको 'अप्सरस्' कहते हैं। बाल्मीकिने समुद्रमन्थनसे इनकी उत्पत्ति मानी है, परन्तु महाभारतकारने इनकी उत्पत्ति कश्यप और प्रधासे मानी है :—

'इमं त्वप्सरसां वंशं विदितं पुण्यलक्षणम्। प्रधाऽसूत महाभागा देव देवर्षितः पुरा॥
अलंबुषा मिश्रकेशी विद्युत्पर्णा तिलोत्तमा। अरुणा रक्षिता चैव रंभा तद्वन्मनोरमा॥
केशिनी च सुबाहुश्च सुरता सुरसा तथा। सुप्रिया चातिबाहुश्च'.....॥

बाणने भी कादम्बरीमें(१) अप्सराओंके चौदह कुल कहे हैं॥

९ असुरावलेपात् (पृ. ८)

असुराणां दैत्यानामवलेपात् दर्पात्। 'न सुरः असुरः' इस नञ् समासमें नञ्का अर्थ है विरोध, **असुर = सुरविरोधी।** बाल्मीकिने कहा है कि समुद्रमन्थनके अवसर पर जिन्हें सुरा (अमृत) मिली वे सुर हुए और जो उससे वञ्चित रहे वे असुर कहलाये:—

'सुराप्रतिग्रहाद्देवाः सुरा इत्यभिविश्रुताः।
अप्रतिग्रहणात्तस्या दैतेयाश्चासुरा मताः'।

निरुक्तकारने असुरपदकी दूसरी व्युत्पत्ति की है :—

---

(१) 'चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय' बनारससे प्रकाशित संस्कृत-हिन्दी टीकायुत 'कादम्बरी-पूर्वार्ध' की 'कादम्बरी-समालोचना' पढ़िये।

'अस्ताः प्रच्याविताः देवैः स्थानेषु न सुष्ठु रताः, चपला इत्यर्थः। यद्वा **असुः प्राणास्तेन तद्वन्तो भवन्ति'** ऋग्वेदके कुछ मन्त्रोंमें इन्द्र और अग्निके लिए भी असुर पदका प्रयोग देखा जाता है। इस जगह विद्वानोंका कहना है कि पहले देवोंके लिये ही असुर पद प्रयुक्त होता था, **असु + र = असुर = धार्मिक प्राणधारी।** पीछे चलकर पारसियोंके साथ हिन्दुओंका संघर्ष हुआ और उन्होंने हिन्दुओंके देवोंको ऐसा-वैसा कहा, हिन्दुओंने भी उनके देवोंकी निन्दा की। समय बीतता गया, लोगोंमें सद्भावना हुई, हिन्दुओंने पारसियोंके देवोंको असुर कहना प्रारम्भ कर किया, परन्तु कुछ लोगोंने जिनको इस तरहकी क्षमा नहीं थी, उन्हींके देवोंके लिये 'असुर' शब्दको छोड़ दिया और अपने देवोंको 'सुर' कहना प्रारम्भ कर दिया। इस तरह जो पहले असुर कहाते थे वे अब सुर कहे जाने लगे।

१० राजर्षि (पृ. १२)

जब कोई राजा क्षत्रियजाति होकर धार्मिक जीवन बिताता है तब वह राजर्षि कहा जाता है। राजर्षिका दर्जा ब्रह्मर्षिसे नीचा माना गया है। ऋषियोंकी सात श्रेणियाँ हैं— १-ऋषि, २ महर्षि, ३ देवर्षि, ४ ब्रह्मर्षि, ५ काण्डर्षि ६ सूत्रर्षि और ७ राजर्षि।

११ शृङ्गार (पृ. १८)

शृङ्गं प्राधान्यमियर्त्तीति शृङ्गारः। यह सामान्य विग्रह हुआ। आलङ्कारिकोंके मतमें निम्न विग्रह है:—

'शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः। पुरुषप्रमदाभूमिः शृङ्गार इति गीयते'॥

यौनवासनाके उदयको शृङ्ग कहते हैं, तदालम्बी सभी भावनायें शृङ्गारमें आ जाती हैं। यह रसराज कहा गया है, क्योंकि यह अतिस्वाभाविक तथा विस्तृत क्षेत्र है।

१२ वेदाभ्यासजडः (पृ. १९)

वेद पढ़नेसे जिसका शरीर तथा ज्ञान दोनों जड़, अचल अकार्यक हो गये हैं। मालूम पड़ता है कालिदास इस विशेषणद्वारा नारायण मुनिकी निन्दा नहीं करवाना चाहते थे। किन्तु वेदाभ्यासलीनता प्रत्यायनद्वारा उनकी प्रशंसा ही अभीष्ट थी, परन्तु उनके शब्दों में कुछ इस तरहकी व्यञ्जना आ गई है जिससे निन्दा ही प्रधान प्रतीत विषय हो जाती है।

१३ विशाखासमीपगत (पृ. २२)

हिन्दू ज्यौतिषके अनुसार आकाश प्रदेशको २७ भागोंमें बांटा गया है। प्रत्येक भागका नाम नक्षत्र है। कविताकी भाषामें इन्हीं नक्षत्रोंको दक्षकी कन्यायें तथा चन्द्रमाकी प्रियायें कहते हैं। चित्रा और विशाखा नामके तारे ग्रीष्ममें अधिक दीपित रहते हैं। चित्रा और विशाखाके समीपस्थ चन्द्रमाका नाम कालिदास अधिकतर लिया करते हैं। इससे मालूम पड़ता है कि वह बहुत सुन्दर होता है। **'चित्राचन्द्रमसोरिव'** इत्यादि। विशाखा द्विशाखा का घिसा-अभ्यस्तरूप है। क्योंकि विशाखा दो तारोंका सम्मिलित नाम है।

१४ नारद (पृ. २७)

नारद योगिराज तथा भक्तराज हैं। यह ब्रह्माके मानस पुत्रोंमें हैं, इन्होंने ब्रह्मचर्य का व्रत लिया था। इनका प्रधान कार्य भगवद्भजनके साथ समाचारवहन भी था। यह परम भागवत कहे जाते हैं। नारद पदकी व्युत्पत्तिके विषयमें भानुजी दीक्षित कहते हैं:— (१) **नरस्य धर्मं नारं ददातीति** (२) यद्वा **'नारं पानीयमित्युक्तं तत्पितृभ्यः सदा भवान्। ददाति तेन ते नाम नारदेति भविष्यति'** (इत्यागमः) (३) **नारं नरसमूहं द्यति कलहे इति वा।** (४) **नुरिदं नारमज्ञानं द्यति ज्ञानोपदेशेन इति वा।**

१५ चारण (पृ. २७)

चारयन्ति कीर्त्तिमिति चारणाः। आजकल चारण भांटको कहते हैं। पहले जवानेमें ये लोग राजा लोगोंकी कीर्त्ति यहाँ-वहाँ गा-गाकर सुनाया करते थे, इसीसे उन की जीविका थी। आज भी गुजरातमें चारणजाति मिलती है। भाँट तो प्रायः सभी प्रान्तों में मिलेंगे, ये हिन्दू मुसलमान दोनों होते हैं।

द्वितीय अङ्क

१६ कार्यासन (पृ. ३४)

राजा जिस आसन पर बैठकर शासन चलाते, फरियाद सुनते तथा निर्णय सुनाते हैं उसे कार्यासन कहते है। यही धर्मासन भी कहा गया है। **'धर्मासनाद्विशति वासगृहं नरेन्द्रः'** (उत्तररामचरित १।७) **'न संभावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्'।** (शाकु. ६) रघुवंशमें इसीका नाम व्यवहारासन भी कहा गया है—**'नृपतिः प्रकृतीरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा'** (८।१८) यह न्यायासन नामसे पुकारा जाय तो भी कुछ अनुचित नहीं होगा।

१७ वैतालिक (पृ. ३६)

'विभिन्न तालोंसे गानेवाले' यह इस शब्दका योगार्थ है, परन्तु यह शब्द राजा लोगोंके कर्त्तव्यकाल बतानेके लिये नियुक्त गायकोंमें रूढ़ हो गया है। राजागण सो रहे हैं, वैतालिक उनकी कीर्त्तिको दृष्टि में रखकर कुछ ऐसा गायेंगे जिससे उन्हें शय्याका त्याग करनेकी प्रेरणा मिले। किरातार्जुनीयमें **'विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः'** इसी प्रतीक पर लिखा है। राजा कार्यव्यस्त हैं, स्नान या भोजनका समय बीता जा रहा है, वैतालिकने कुछ ऐसा गा दिया कि चेतनाकी एक लहर सी उठ गई, सभी सावधान हो गये और राजा भी स्नानादिके लिये उठ गये।

१८ महानस (पृ. ४३)

महच्च तदनसं महानसम् **'अनस्'** गाड़ीका नाम है, तत्पुरुषभेद–कर्मधारय समासमें **'अनोऽश्मायः सरसां जातिसंज्ञयोः'** इस सूत्रसे समासान्त अप्रत्यय होकर महानस पद बनता है। अनस्=गाड़ी **'यन्नुन्नमुदलसन्नामानः'** (नलोदय)। अमरकोशकी टीकामें भानुजी दीक्षितने **'अत्र अनसा उपकरणं लक्ष्यते'** ऐसा लिखा है। अतः हम अनसका अर्थ उपकरण ही मानते हैं, **अनिति जीवनं धारयत्यनेनेत्यनः। महत् प्रचुरम् अनः भोजनोपकरणं यत्र तत् महानसम्।** बहुव्रीहि समासमें समासान्त कैसे हुआ यह प्रश्न टेढ़ा है, फिर भी लक्ष्यानुरोधिनी व्यवस्था करेंगे। यदि अत्याग्रह हो तो यह भी प्रकार हो सकता है। **महच्च तदनः महानसम् (प्रचुरमुपकरणम्)** कर्मधारय। इसके बाद अप्रत्ययान्तसे अर्श आद्यच्। इस तरह सब ठीक हो जाता है।

१९ पञ्चबाण (पृ. ४९)

कन्दर्पके पांच बाण हैं यह साहित्यिक मान्यता है।

अरविन्दमशोकं च शिरीषं चूतमुत्पलम्। पञ्चैतानि प्रकीर्त्यन्ते पञ्चबाणस्य सायकाः॥

इसप्रकार पुष्पजातिके पांच बाण हैं। गुणकर्मसे भी कामके बाण गिनाये जाते हैं—

'उन्मादनस्तापनश्च शोषणः स्तम्भनस्तथा।
संमोहनश्च कामस्य पञ्च बाणाः प्रकीर्त्तिताः'॥

२० अहल्याकामुकस्य (पृ. ५३)

ब्रह्माद्वारा निर्मित स्त्रियोंमें अहल्या आदि रमणी हैं। अहल्या गौतमसे व्याही गई थी। उसके अपार रूपगुणसे मोहित हो इन्द्र गौतमका स्वरूप ग्रहणकर उसके पास गये और उसे दूषित कर दिया। कुछ लोग यहाँ यह भी कहते हैं कि अहल्या इन्द्रको पहचानकर भी उनकी अङ्कशायिनी बनी। गौतमने आनेपर इन्द्रको भागते देखा और शाप दिया जिससे वह भगाकार आंखोंसे सहस्राक्ष हुए। अहल्या भी शापसे पाषाण हो गई जिसका उद्धार रामने अपनी चरणधूलि देकर किया। यह पौराणिक कथा है।

वेदमें अहल्या प्रातःसन्ध्या या रात्रिको कहा गया है, अहनि लीयते इत्यहल्या। सूर्यके आते ही वह भागने लगती है और अन्तमें अदृश्य हो जाती है। सूर्यको ही अहल्याका जार कहा है **'स्वसुर्यो जार उच्यते'** ऋग्वेद (६–५५–४,) इन्द्रको सूर्यरूपमें कहकर यह कथा मूलाधारितकी जा सकती है। यह कथा तन्त्रवार्त्तिकमें प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्टद्वारा इस प्रकार स्पष्ट लिखी गई है:—**'एवं समस्ततेजाः परमेश्वरत्वनिमित्त इन्द्रशब्दवाच्यः सविता एव अहनि लीयमानाया रात्रेरहल्याशब्दवाच्याया क्षयात्मकजरणहेतुत्वाज्जीर्यत्यस्मादनेन वोदितेनेत्यहल्याजारः, न परस्त्रीव्यभिचारात्'।**

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक प्रकृति वर्णनमें जो रूपक दिया गया वही पौराणिक युगमें आकर एक रोचक कथाके रूपमें परिणत हो गया है।

२१ प्रतिष्ठान (पृ. ५८)

सामान्यतः प्रतिष्ठान शब्दका अर्थ आश्रय होता है परन्तु यहाँ पुरूरवाकी राजधानी का नाम है। कालिदासके अनुसार यह गङ्गा-यमुनाके सङ्गमपर कहीं उसके अतिनिकट अवस्थित था। हरिवंशके अनुसार भी प्रयागके ही समीप कहीं प्रतिष्ठानका होना सिद्ध होता है:—

'उत्तरे जाह्नवीतीरे प्रतिष्ठाने महायशाः।
राज्यं च कारयामास प्रयागे पृथिवीपतिः' ॥

विक्रमोर्वशीयके टीकाकार रंगनाथने आधुनिक 'झूसी' को ही प्राचीन प्रतिष्ठान सिद्ध किया है।

शालिवाहनकी राजधानीका नाम भी प्रतिष्ठानही था, परन्तु वह गोदावरीके किनारे थी, इसलिये पुरूरवाकी प्रतिष्ठान नगरी वह नहीं हो सकती है। पुरूरवाकी प्रतिष्ठानपुरी गङ्गाके किनारे थी। पुरूरवा गङ्गा-यमुनाका बराबर नाम लेता था। पुरूरवा तथा उर्वशी विहारके लिए हिमालयकी तराई में गये, यदि उनकी राजधानी गोदावरीतटपर होती तब इतनी दूरीपर जाना अकारण तथा व्यर्थ होता। पुरूरवा जब विहारोपरान्त राजधानी लौटे तब फिर उनके सङ्गमस्नानका वर्णन आया है इससे भी गङ्गा-यमुनाके समीपमें उनकी राजधानीका होना सिद्ध होता है। प्रतिष्ठान या गङ्गा-यमुनका 'दोआब' सदासे चन्द्र-शियोंकी राजधानी चली आरही है, पुरूरवा चन्द्रवंशियोंके आदिम राजा थे, इससे उनकी राजधानी यहीं मानी जानी चाहिये।

२२ स्वस्तिवाचनक (पृ. ६८)

स्वस्ति वाच्यते येन तत्स्वस्तिवाचनकम्, स्वस्तिवाचनक उस मिष्टान्नादिरूप उपहारको कहते हैं जो समय समयपर ब्राह्मणोंको दिया जाता है और जिसे पाकर ब्राह्मण दाताकी मंगलकामना करते हैं। कुछ लोग 'स्वस्तिवायनक' ऐसा पाठ मानते है 'वाणक' शब्द उपायन अर्थमें प्रचलित था, आज भी महाराष्ट्रमें 'वाण' उपायनके लिये व्यवहृत होता है। मिथिलामें तो 'वायन' यह अविकृतरूपमें उसी उपायनरूप अर्थमें व्यवहृत होता ही है। फलतः यह मानना होगा कि वायन भी उपायनका पर्याय है।

२३ दूती (पृ. ७३)

दूति, दूती दोनों रूप व्यवहृत होता है। **'रतिदूतिपदेषु कोकिलाम्'** दूती प्रसिद्ध ही है। दूतिके लिए निम्नलिखित गुण अपेक्षित हैं—

'पटुता धृष्टता चेतोङ्गितज्ञत्वं प्रतारणम्।
देशकालज्ञता चैव दूतीकृत्ये मता गुणाः ॥'

२४ अष्टरसाश्रयः (पृ. ७५)

नाटकमें आठ ही रस मानते हैं, शान्तरस नहीं मानते।

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥'

यह भरतकी कारिका है, काव्यप्रकाशकारने भी इसे ज्यों का त्यों उतार दिया है। नाट्यमें तो अवस्थानुकृति होती है, उसमें विषयोपरमरूप शान्तरसका होना असंभव है, और रोमाञ्चादिके बिना उसका अभिनय किस प्रकार किया जा सकता है। गीतवाद्य नाट्यमें अवश्य होंगे और वह उसके विरोधी है, इसलिये भरताचार्यने नाट्यमें आठ ही रस माने हैं। अन्य आचार्योंने 'अष्टौ' और 'नाट्ये' इन दोनोंको उपलक्षण मानकर **'शान्तोऽपि नवमो रसः'** ऐसा कहा है और शान्तरस श्रव्यनाट्य साधारण माना है। शान्त का भी अभिनय किया जा सकता है इसे तो **'प्रबोधचन्द्रोदय' चैतन्यचन्द्रोदय' 'विद्या-परिणय'** के ज्ञाता अवश्य कहेंगे। ऐसी दशामें शान्तरस नाट्यमें है, परन्तु भरतमुनिने वैसा नहीं कहा है।

२५ अञ्जना (पृ. ८३)

वायुकी स्त्री और हनुमान्‌की माता का नाम अञ्जना है। वह कुञ्जर नामक कपिकी कन्या तथा केसरीकी स्त्री थी। पूर्वजन्ममें वह एक अप्सरा थी और उसका नाम पुञ्जकस्थली था। शापवश उसे मर्त्यलोकमें जन्म लेना पड़ा। एक समय वह किसी पर्वत शिखरपर बैठी थी, संयोगवश उसका अञ्चल खिसक गया। वायुने उसकी जवानी देखी और शरीर धारण करके उससे रति की याचना की। अञ्जनाने उसकी प्रार्थनाको स्वीकार किया किन्तु शर्त्त यह रही कि उसका कौमार्य अक्षत रहे। वायुने उसे कहा कि ठीक वैसा ही होगा, और तुमको बल पराक्रममें हमारे ही तुल्य पुत्र होगा। समय पर अञ्जनाने हनुमान्‌को जन्म दिया। मरुत् हवाके पुत्र होनेके कारण हनुमान्‌का एक नाम मारुति भी है।

तृतीय अङ्क

२६ पुरुषोत्तम (पृ. ९४)

'पुरुषेषु उत्तमः' यह सप्तमी समास है। **पुरुषाणामुत्तमः** यह षष्ठी समास नहीं होगा, **'न निर्धारणे'** यह निषेधक सूत्र है। **'पुरुषश्चासावुत्तमः'** यह कर्मधारय भी नहीं किया जा सकता, वैसा करने पर विशेषणभूत उत्तमका पूर्व प्रयोग हो जायगा। यह बात मल्लिनाथने रघुवंशकी टीकामें लिखी है—**'पुरुषेषूत्तमः' इति सप्तमी समासः, (षष्ठीसमासस्तु न) 'न निर्धारणे' इति षष्ठीसमासनिषेधात्। कर्मधारये तु 'सन्महत्परमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' इत्युत्तमपुरुष इति स्यात्।** तत्त्वबोधिनीकारने इस विषयपर इस प्रकार अपना-

मत व्यक्त किया है :—'कथं पुरुषोत्तम इति ? यस्मान्निर्धार्यते, यश्चैकदेशो निर्धार्यते, यश्च निर्धारणहेतुः, एतत्त्रितयसंनिधाने सत्येवायं निषेध इति' द्विवचनविभज्योपपदे' इति सूत्रे कैयटः। अन्ये तु 'पुरुषेषूत्तमः' इति निर्धारणसप्तम्याः 'संज्ञायाम्' इति समासः। न चैवं 'न निर्धारण' इति व्यर्थं, स्वरे भेदात्। सप्तमीसमासे हि 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरः, षष्ठीसमासे 'समासस्य' इत्यन्तोदात्तत्वं स्यात्तच्चानिष्टमित्याहुः, तन्मन्दम्, संज्ञायामिति समासस्य नित्यत्वेन स्वपदविग्रहासङ्गति प्रसङ्गात्। तस्मात् कैयटोक्तसमाधानमेव समीचीनमिति नव्याः।

२७ गिरिरिव गतिमान् (पृ. ९९)

पुराने जवानेमें पर्वतोंके पंख थे, अतः वे यहाँ वहाँ उड़कर जाते थे, इसीको दृष्टिमें रखकर ऐसा कहा गया है। पर्वतोंके पंखकी बात वाल्मीकिने इस प्रकार कही है :—

'पूर्वं कृतयुगे तात पर्वताः पक्षिणोऽभवन्। तेऽपि जग्मुर्दिशः सर्वा गरुडानिलवेगिनः॥ ततस्तेषु प्रयातेषु देवसङ्घाः महर्षिभिः। भूतानि च भयं जग्मुस्तेषां पतनशङ्कया॥ ततः क्रुद्धः सहस्राक्षः पर्वतानां शतक्रतुः। पक्षांश्चिच्छेद वज्रेण ततः शतसहस्रशः॥'

२८ स्पन्दितैर्बाहुराश्वासयति दक्षिणः (पृ० १०७)

पुरुषोंके लिये दायें अङ्ग तथा स्त्रियोंके लिये बायें अङ्गका स्पन्दन शकुन माना जाता है। इसके द्वारा प्रियप्राप्तिका अनुमान किया जाता है, इसी आधारपर भट्टिने कहा है :—

'अभिमतफलशंसी चारुपुस्फोरबाहुः'

इस अङ्गस्फुरणके विषयमें वसन्तराजीयमें लिखा है:—

'पुंसां सदा दक्षिणदेहभागे स्त्रीणां तु वामावयवे प्रजातः।
स्पन्दः फलानि प्रदिशत्यवश्यं निहन्त्यनुक्ताङ्गविपर्ययेण'॥

यहाँ कालिदासने इस शकुनका उल्लेख करके सामाजिकोंको तैयार कर रखा है, उर्वशी को देखनेके लिये जो अब रङ्गमञ्च पर आ रही है।

२९ निर्वाणाय तरुच्छाया (पृ. १३३)

निर्वाण शब्दका अर्थ है बेहद खुशी, पूर्ण आनन्द। दार्शनिक लोग इसका अर्थ मोक्ष कहते हैं। बुद्धमतावलम्बी भी अपने मतानुसार इसका अर्थ अक्षुब्धशान्ति ही कहते हैं। **'निर्वाणोऽवाते'** इस सूत्रके अनुसार हवाके अलावे अभिप्रायमें निर्वाणपद होगा और हवा में निर्वात, **'निर्वाणोऽग्निर्मुनिर्वा'** अन्यथा **निर्वातो वात,** इस श्लोकका समभाव पञ्चांश मृच्छकटिक(१)में ऐसा है :—**'सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते, घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्'॥**

(१) चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस से प्रकाशित 'मृच्छकटिक' की संस्कृत-हिन्दी टीका और 'नोट्स' मनन करने योग्य है।

चतुर्थ अङ्क

३० उन्मत्तवेषः (पृ. १४३)

पागलोंके ऐसा वेष बनाकर यह इसका अर्थ है। राजाकी उन्मादावस्था यहाँ वर्णित हुई है, साहित्यदर्पणकार उन्मादका लक्षण करते हैं :—

चित्तसंमोह उन्मादः कामशोकभयादिभिः'

रसगङ्गाधरकारने इस प्रकार लक्षण किया है :—

'परमानन्दादिजन्मान्यस्मिन्नन्यावभास उन्मादः ।'

माधवनिदानमें जो उन्मादका लक्षण है वह रोग है, उसके सभी अंशोंका समावेश इस साहित्यिक उन्मादमें नहीं होता, इसलिये वह पृथक् वस्तु है।

३१ मानसोत्सुकचेतसाम् (पृ. १६२)

कैलास पर्वत पर अवस्थित यह एक विशाल सरोवर है। अब यहाँ लोग जाते हैं, जलकी निर्मलताके लिये इसकी प्रसिद्धि है। इसका नाम मानस क्यों पड़ा इसके लिये लिखा है :—

'कैलासपर्वते राम मनसा निर्मितं सरः ।
ब्रह्मणा नरशार्दूल, तेनेदं मानसं सरः ॥

मानससरोवर इतनी ऊचाई पर है कि मेघकी गति उतनी ऊचाई तक नहीं होती। इसी लिये बरसातमें भी वहां वृष्टिके नहीं होनेसे उसका पानी गदला नहीं होता है। यही कारण है कि सभी हंस, जिनको गंदला पानी नहीं भला मालूम देता है, बरसातमें मानस चले जाते हैं।

३२ साधयामः (पृ. १७५)

नाटकमें जानेके लिये **'साधयामः'** का प्रयोग आता है। ण्यन्त साध् धातुका यह रूप है। साहित्यदर्पणमें कहा है :—

'प्रायेण ण्यन्तकः साधिर्गमेरर्थे प्रयुज्यते' ।

जहाँ तहाँ काव्यमें भी इसका प्रयोग आया है :—

'अयि साधय साधयेप्सितम्' (नैषध)

'साधयाम्यहमविघ्नमस्तुते देवकार्यमुपपादयिष्यतः' (रघुवंश)

पञ्चम अङ्क

३३ यवनी (पृ. २०३)

पुराने जवानेमें भारतीय राजागण यवन युवतियोंको खासकर अस्त्रागारमें रखा करते थे। शाकुन्तलमें भी **'बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिः'** ऐसा उल्लेख है। यहाँ यवनीका तात्पर्य 'ग्रीक' या 'लोनियन' स्त्रियोंसे है। मुहमंडनसे नहीं, मुसलमानोंका अस्तित्व यहाँ कालिदासके समयमें एकदम नहीं था।

३४ नैमिषेयसत्रात् (पृ. २०७)

नैमिषारण्य एक स्थान है जहाँ पौराणिक समयमें प्रायः करके सभी यज्ञ संपन्न हुआ करते थे, भागवतमें लिखा है :—

'नैमिषे निमिषक्षेत्रे ऋषयः शानकादयः।
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ॥'

महर्षि सूतने और मुनियोंको पुराण भी यहीं सुनाये थे। महाभारतमें नैमिषकी दूसरी व्युत्पत्ति कही गई है :—

'यतस्तु निमिषेणेदं निहतं दानवं बलम्।
अरण्येऽस्मिंस्ततस्त्वेतन्नैमिषारण्यसंज्ञितम् ॥'

३५ पौलोमी (पृ. २१९)

पुलोमन् नामक दैत्यकी कन्या तथा इन्द्रकी स्त्री उसीके गर्भसे उत्पन्न जयन्त नामक इन्द्रका पुत्र था **'पुलोम'** दैत्य था इस बातकी पुष्टि रामायण उत्तरकाण्ड २८ वां सर्ग देखनेसे होती है। उसमें लिखा है कि राम-रावण युद्धमें जयन्त रामकी ओर से लड़ते थे उनके आहत हो जानेपर विपक्षमें लड़ता हुआ उनका नाना पुलोम उनकी रक्षाके लिये दौड़ा और उन्हें बचाया।

३६ जङ्गम (पृ. २२६)

भृशं गच्छतीति जङ्गमः। 'जङ्गम्य' यङन्तसे अच् प्रत्यय, यलोप। यद्यपि गत्यर्थक धातुओंसे **'नित्यं कौटिल्ये गतौ'** के अनुसार कौटिल्यमें ही यङ् प्रत्यय होना चाहिये, भृशार्थमें नहीं, तथापि महाभाष्यकारके मतानुसार नागेश लिखते हैं कि **'तस्माद्गत्यर्थेभ्यः क्रियासमभिहारे यङ् भवत्येव अत एव स्थावरप्रतिद्वन्द्वयर्थको जङ्गम इति सिद्धम्।**

नोट—यवनिका और **जवनिका** आदि शब्दोंकी समीक्षा प्रोफेसर कान्तानाथ शास्त्री तेलंग एम. ए. संपादित 'उत्तररामचरित' की प्रस्तावना व नोट्समें विस्तारसे की गयी है। तेलंग शास्त्री विरचित शाकुन्तलके नोट्स भी हिन्दी जगतमें प्रथम वार प्रकाशित हुआ है। (प्रकाशक)

विक्रमोर्वशीयगतानि छन्दांसि

१—अनुष्टुप्—

'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुःपादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः' ॥

२ अपरवक्त्रं—'अयुजि नन्नरलागुरुः समे तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ' ।

३—आर्या—'यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ।

४—इन्द्रवज्रा, ५—उपेन्द्रवज्रा, ६—उपजातिः—

'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः'
'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ'
'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' ॥

७-द्रुतविलम्बित—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' ।

८-पुष्पिताग्रा—

'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' ।

९-पृथ्वी—'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' ।

१०-मञ्जुभाषिणा—

'सजसा जगौ च यदि मञ्जुभाषिणी' ।

११-मन्दाक्रान्ता—

'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगै म्भौ नतौ ताद्गुरू चेत्'

१२-मालभारिणी—

'विषमे ससजा गुरू समे चेत्सभरा येन तु मालभारिणीयम्' ।
(इदमेवौपच्छन्दसिकमित्यप्याख्यायते)

१३-मालिनी—'न न म म य युतेयं मालिनीभोगिलोकैः'

१४-वंशस्थं—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' ।

१५-वसन्ततिलका—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ।

१६-वियोगिनी—

'विषमे ससजा गुरुः समे सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी' ।

१७-शार्दूलविक्रीडितं—

'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' ॥

१८-शिखरिणी—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' ।

१९-हरिणी—'नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता'

सुभाषितानि

'अतिस्नेहः कार्यदर्शी'।

'अनिर्वेदप्राप्याणि श्रेयांसि'।

'अनुग्रहः खलु नोपरोधः'।

'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः'।

'अन्यसङ्क्रान्तप्रेमाणो नागरिका अधिकं दक्षिणा भवन्ति'।

'अहो नु खलु दुर्लभाभिनिवेशी मदनः'।

'अहो विरुद्धार्थसम्पादयितेप्सितलाभो नाम'।

'अहो सुखप्रत्यर्थिता दैवस्य'।

'को देवतारहस्यानि तर्कयिष्यति'।

'चन्द्रादमृतमिति किमत्राश्चर्यम्'।

'छिन्नहस्तो मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणति धर्मो मे भविष्यतीति'।

'तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम्'।

'दूरारूढः खलु प्रणयोऽसहनः'।

'न खल्वचिदुःखितोऽभिमुखे दीपशिखां सहते'।

'न युक्तं सुभाषितं प्रत्याचरितुम्'।

'नहि सुलभवियोगा कर्त्तुमात्मप्रियाणि प्रभवति परवत्ता'।

'नास्ति विधेरलङ्घनीयं नाम'।

'नास्त्यगतिर्मनोरथानाम्'।

'नोच्छ्वसिति तपनकिरणैश्चन्द्रस्येवांशुभिः कुमुदम्'।

'परावृत्तभागधेयानां दुःखं दुःखानुबन्धि'।

'परिभवास्पदं दशाविपर्ययः'।

'प्रथमं मेघराजिर्दृश्यते पश्चाद्विद्युल्लता'

'प्रभुता रमणेषु योषितां नहि भावस्खलितान्यपेक्षते'।

'भवितव्यतानुविधायीनीन्द्रियाणि।'

'महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः'।

'राजा कालस्य कारणम्' ।

'लोत्रेण गृहीतस्य कुम्भीरस्यास्ति वा प्रतिवचनम्' ।

'विविक्ताद्दते नान्यदुत्सुकस्य शरणमस्ति' ।

'सर्वः कल्पे वयसि यतते लब्धुमर्थान् कुटुम्बी' ।

'पश्चात्पुत्रैरपहृतभरः कल्पते विश्रमाय' ।

'सर्वत्रौदारिकस्याभ्यवहार्यमेव विषयः' ।

'स्वार्थात्सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव' ।

पद्यानि

'प्रियवचनशतोऽपि योषितां दयितजनानुशयो रसाद्दते ।
प्रविशति हृदयं न तद्विदां मणिरिव कृत्रिमरागयोजितः' ॥ (२।२२)

'अवधूतप्रणिपाताः पश्चात्सन्तप्यमानमनसोऽपि ।
निभृतैर्व्यपत्रपन्ते दयितानुनयैर्मनस्विन्यः' ॥ (३।५)

'नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासंकटस्खलितवेगः ।
'विघ्नितसमागममुखो मनसिशयः शतगुणो भवति' ॥ (३।८)

'यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरम् ।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः' ॥ (३।२१)

'शमयति गजानन्यान् गन्धद्विपः कलभोऽपि सन् ।
भवति सुतरां वेगोदग्रं भुजङ्गशिशोर्विषम् ।
भुवमधिपतिर्बालावस्थोऽप्यलं परिरक्षितुं
न खलु वयसा जात्यैवायं स्वकार्यसहो भरः' ॥ (५।१८)

नाटकीया विषयाः

स्वगतम्—(आत्मगतम्)

'अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्' ॥

प्रकाशम्—'सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्' ।

अपवार्य—·····तद्भवेदपवारितम् ।

रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते ।

त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ॥

जनान्तिकम्—'अन्योन्यामन्त्रणं यस्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्' ।

नेपथ्यम्—'नटानां वेषपरिग्रहस्थानम्'

त्रोटकम्—सप्ताष्टनवपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसंश्रयम् ।

त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यङ्कं सविदूषकम्' ॥

('अत्र सर्वस्मिन्नेवाङ्के विदूषकस्यावश्यकत्वे स्वष्टार्थं 'सर्वाङ्के सविदूषकम्' इत्येवाभिदध्यात्तदनभिधानाच्च कुत्रचिद्विदूषकाभावेऽपि त्रोटकत्वं भवत्येवेति विक्रमोर्वश्यां प्रथमचतुर्थाङ्कयोर्विदूषकाभावेऽपि नाव्याप्तिः' इति साहित्यदर्पण-टीकायां हरिदासः)

अङ्कः—'प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः ।

भवेदगूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः ॥

नानेकदिननिर्वर्त्य कथया संप्रयोजितः ।

आवश्यकानां कार्याणामविरोधाद्विनिर्मितः ॥

प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तो भावरसोद्भवैः ।

अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इतिकीर्त्तितः ॥

नान्दी—'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।

देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥

मङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंशिनी ।

पदैर्युक्ताद्वादशभिरष्टाभिर्वापदैरुत' ॥

सूत्रधारः—'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।

सूत्रं धारयते यस्तु सूत्रधारः स उच्यते' ॥

प्रस्तावना—'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्वक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा' ॥

विष्कम्भकः—वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः' ॥

प्रवेशकः—'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा' ॥

नायकः—'त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता' ।

विदूषकः—'कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः ।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः' ॥

प्रस्तावना- उद्घात्यकः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ।
भेदाः—प्रवर्त्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभिदाः ।

अत्र प्रयोगाति-यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते ।
शयाख्या—तेन पात्रप्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा' ॥

पताकास्थानं—'यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते ।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत्' ॥

बीजम्—'अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति ।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजमित्यभिधीयते' ।

बिन्दुः—'अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्' ।

कार्यम्—'अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः ।
समापनं तु यत्सिद्ध्यैतत्कार्यमिति सम्मतम्' ॥

सन्धिः—अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।

पञ्चसन्धयः—'मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः ।
इति पञ्चास्य भेदाः स्युः .....' ।

मुखम्—'यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्त्तितम् ॥

प्रतिमुखम्—
'फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशितः ।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखञ्च तत्' ॥

गर्भः—'फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन ।
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्यासान्वेषणवान् मुहुः ।

विमर्शः—'यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः ।
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः' ।

निर्वहणम्—'बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्' ॥

एषां यान्यङ्गान्यत्र प्रकाशे समागतानि तानि लक्षणनिर्देशपुरस्सरमुपक्रम्यन्ते—

प्राप्तिः—'प्राप्तिः सुखागमः' ।

पुष्पम्—'पुष्पं विशेषवचनं मतम्' ।

नर्म—'परिहासवचो नर्म' ।

प्रगमनम्—'प्रगमनं वाक्यं स्यादुत्तरोत्तरम्'

नर्मद्युतिः—'दोषप्रच्छादनं नर्मद्युतिः' ।

विरोधनं—'कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमिति स्मृतम्' ।

सन्धिः—'बीजोपगमनं सन्धिः' ।

ग्रंथनम्—'उपन्यासस्तु कार्याणां ग्रथनम्' ।

उपगूहनं—'तद्भवेदुपगूहनं, यस्मादद्भुतसंप्राप्तिः' ।

फलागमः—फलप्राप्तिः फलागमः ।

समयः—'समयो दुःखनिर्याणम्' ।

काव्यसंहारः—वरप्रदानसंप्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते' ।

प्रशस्तिः—'देवद्विजनृपादीनां प्रशस्तिः स्यात्प्रशंसनम्' ॥

—०:०:०—

नायकादिनिरूपणम्

नायकः—चन्द्रवंशी पुरूरवा—धीरोदात्तः

(अविकत्थनः क्षमावानतिगंभीरो महासत्त्वः ।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः)

नायिका—दिव्या उर्वशी, अभिसारिका ।

(अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा ।
स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका' ॥)

उद्दीपनविभावाः—

मलयानिलमाकन्दमुकुलवर्षासमयाः ।

अनुभावाः—परस्परसंवादाक्षिविक्षेपादयः ।

सात्त्विकाः—हासपुलकादयः ।

व्यभिचारिणः—

आवेगौत्सुक्योन्मादचिन्तादयः ।

स्थायी—रतिः ।

रसः—संभोगश्रृङ्गारोऽङ्गी, हास्यादयोऽङ्गानि ।

रीतिः—पाञ्चाली ।

गुणः—माधुर्यात्मकः ।

चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।

वृत्तिः—कैशिकी ।

श्रृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्वत्यारभटी पुनः ।

(या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसङ्कुला पुष्कलनृत्यगीता ।
कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलासयुक्ता ॥)

—०:०—

प्रश्नपत्राणि

१—कीदृशं दृश्यकाव्यं विक्रमोर्वशीयं नाम ? तल्लक्षणमुल्लिख्य समन्वीयताम् ।

२—विक्रमोर्वशीयमिति पदं व्युत्पाद्यताम् । अत्र प्रकृतिभूते पदे कीदृशः समासः ? किंच विक्रमपदोपादनरहस्यम् ?

३—विष्कम्भकप्रवेशकयोः भेदः ? किञ्च तयोः स्वरूपम् ?

४—अस्य रूपकस्य मूलकथा कुत्र ? किंच ततो वैलक्षण्यं कविना कृतम् ?

५—पुरूरवसश्चरित्रमालोच्यतामौशीनर्याश्च ।

६—प्रकृतिवर्णनपटुत्वप्रमापकस्थलानि विक्रमोर्वशीयादुद्धृत्य कवेः प्रकृतिवर्णन-नैपुण्यमुपपाद्यताम् ।

७—अधोलिखितानां परिचयोऽपेक्ष्यते ।

१. नान्दी । २. प्रस्तावना । ३. वरसखः । ४. शिखाबन्धनी । ५. प्रतिष्ठानम् । ६. शिखरिणी । ७. गन्धद्विपः । ८. लक्ष्मीस्वयंवरम् । ९. अहल्या । १०. अञ्जना ।

८—एषां सन्दर्भाणां विस्तृता व्याख्याभिधेया ।

(क) 'विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते' ।

(ख) 'सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ' ।

(ग) 'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः' ।

(घ) 'न खल्वचिदुःखितोऽभिमुखे दीपशिखां सहते' ।

(ङ) 'प्रभुता रमणेषु योषितां नहि भावस्खलितान्यपेक्षते' ।

(च) 'दूरारूढः खलु प्रणयोऽसहनः' ।

(छ) नोच्छ्वसितितपनकिरणैश्चन्द्रस्यैवांशुभिः कुमुदम्' ।

(ज) 'छिन्नबन्धे मरुत्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणति धर्मो मे भवतीति' ।

(झ) अन्यसंक्रान्तप्रेमाणो नागरिका अधिकं दक्षिणा भवन्ति ।

९—विक्रमोर्वशीयगतं कथानकं संक्षिप्य लिख्यताम् ।

१०—व्याख्यायन्ताम् (छन्दोऽलङ्कारनिर्देशेन सह)

१. अस्याः सर्गविधौ० २. ननु वज्रिण एव० ३. आलोकान्तात् प्रतिहत० ४. नितान्तकठिनां रुजं० ५. सर्वः कल्पे वयसि० ६. तरङ्गभ्रूभङ्गा० ७. प्रभालेपी नाथम्० ८. नहि सुलभवियोगा० ९. शमयति गजा० १०. आविर्भूते शशिनि०

११—'कालिदासः प्रेमकविः' लोकोक्तिमिमां विक्रमोर्वशीयमाधारीकृत्यालोच्यत ।

१२—कालिदासविषये किं ज्ञायते भवता ? तस्य के ग्रन्थाः ? कश्च तेष्वाद्यः ?

१३—कालिदासस्य कालविषये मतभेदा आलोच्यन्ताम् ।

विक्रमोर्वशीय-शब्दकोश

अग्निशरण = अग्निगृह
अग्र्य = आगेवाला, अग्रिम
अङ्कुरित = जिसमें अङ्कुर लगे हो
अचिरप्रभा = बिजली
अतिमुक्त = माधवीलता
अतिवाहयति = बिताता है
अतिसन्धेय = वञ्चनीय
अतिसृष्ट = दत्त
अत्याहित = महाभय
अधिवासित = सुरभीकृत
अनिमिष = निर्निमेष
अनिर्भिन्न = असङ्कीर्ण
अनिर्वेद = उत्साह
अनुत्सेक = गर्वशून्यता
अनुपक्रम्य = अचिकित्स्य
अनुबन्धि = सम्बद्ध
अनुलेपन = चन्दन
अनुवाचय = सुनाओ
अनुविधायि = अनुसरण करनेवाला
अनुशय = पश्चात्ताप
अन्तर = हृदय
अन्तरा = मध्य
अन्तराय = विघ्न
अपटीक्षेप = बिना पर्दा गिराये
अपदेश = छल
अपराजिता = जो परास्त न हो अवन्ध्य
अपराद्ध = कृतापराध
अपहस्तित = हाथसे निकला हुआ
अपाङ्गनेत्रा = जिसकी आँखें अपाङ्ग तक हो, विशालाक्षी
अपाच्छिद्य = छीनकर
अपोहितुम् = हटानेके लिये, दूरकरनेके लिये
अभिक्रुद्ध = नाराज
अभिजात = मनोरम, कुलीन
अभिनिवेश = आग्रह
अभिनिवेशी = आग्रही
अभियुज्यते = चोरितत्वेन प्रमाणित किया जाता है
अभिविनीत = साधु शिक्षित
अभिसंहित = प्रतारित
अभिसन्धाय = मनमें रखकर
अभिसारिका=छिपकर प्रियसमीपजानेवाली
अभ्यन्तर = छिपी हुई चीज
अभ्यवहार = भोजन
अभ्यवहार्य = भोज्य
अर = गाड़ीके चक्केका स्पोक
अर्चिष्मत् = तेजस्वी
अर्हणा = पूजा
अलम् = बिना प्रयोजनके, पर्याप्त
अलात = **लुकारी, अग्निमुखदण्ड**
अवकाश = छुट्टी, स्थान
अवतार = आना, गिरना
अवन्ध्य = अनिष्फल
अवलेप = गर्व
अवश्याय = ओस (शवनम)
असूयन्ति = दोष देते हैं
असूया = दोष प्रकट करना
अस्र = आंसू
आकीर्ण = जनसङ्कुल, घिरा हुआ
आगन्तुक = अस्थायी, अतिथि
आचार = क्रिया, व्यवहार

आतङ्क = भय
आतुर = रोगी, बेचैन
आपन्न = विपत्तिग्रस्त
आमिष = मांस
आयाम = दीर्घता
आर्त्तवी = ऋतुसम्बन्धिनी
आर्द्र = भींगा हुआ
आर्यमिश्र = आदरणीय
आलवाल = क्यारी
आलोक = प्रकाश
आवसते = सङ्गच्छमानाय, मिलनेवाले
आविद्ध = मिलित
आसार = जलधारा
आह्निक = दैनिक, दिनकृत्य = पूजापाठ
इन्द्रगोप = वीरबहूटी, लाल रंगका कीट
उत्कीर्ण = खचित
उत्तरच्छद = उत्तरीय वस्त्र
उत्पक्ष्म = उठी हुई बरौनीवाला
उत्पतन = गिरना
उत्सुक = व्यग्र, बेचैन
उदग्र = क्रूर
उदन्त = समाचार
उदबिन्दु = जलकण
उद्धात = संक्षोभ, चलना
उद्बाष्प = बाष्पसे युक्त
उपकार्या = राजभवन
उपचार = सत्कार
उपत्यका = पहाड़की तलहटी
उपपन्न = युक्त
उपप्लव = विघ्न ग्रहण
उपरोध = प्रतिबन्ध
उपलक्षण = चिह्न
उपलम्भ = प्राप्ति
उपश्लेषयति = समीप लाता है
उपतिष्ठते = स्तुति करता है
उपस्थान = स्तुति करना
उपहार = भेंट
उपायन = उपहार
उपोढ = सञ्चित
उष्णालु = गरम
ऋते = बिना
एकदेश = हिस्सा
एकपदे = तुरत
एकान्तर = एक पुरुष व्यवहित
एकावली = माला
ऐशानी = पूर्वोत्तर दिशा
औदरिक = पेटू, भोजनभट्ट
औपहारिक = उपहार द्रव्य
कच्छ = जलप्रायदेश
कथाप्रसङ्ग = बात-चीतके सिलसिलेमें
कपिश = श्याव-पीत वर्ण
कमलनालायमान = कमलदण्डसम
कलभ = बच्चा हाथी
कलयति = जानना, भोगना इत्यादि
कलाप = मयूरपिच्छ
कलुष = मटमैल
कल्प = युग
कल्य = प्रातःकाल
कवचहर = जवान, युद्धसमर्थ
कातर = कायर, पर्याकुल
कारण्डव = जलकुक्कुट वत्तक
कार्यासन = आफिस, कार्यालयकीगद्दी
कुणप = शव, मुर्दा
कुम्भीरक = चौर
कुरबक = एक प्रकारका फूल
कुररी = मृगी

: कष्ट
कृती = कृत-कृत्य
कृष्णसार = मृगभेद
केतन = पताका
केशहस्त = हाथोंमें केश लिये
केसर = जटा एक प्रकारका फूल
कोटि = अग्रभाग, संख्या
कौतूहल = उत्सुकता
कौन्द = कुन्दसम्बन्धी
कौलीन = अपवाद
क्रव्य = कच्चा मांस
क्षपानाथ = चन्द्रमा
क्षम = समर्थ
क्षितिभृत् = पर्वत
खण्डमोदक = चीनीका लड्डू
गन्धद्विप = युद्धगज
गृहीतार्थ = जिसने मतलब समझ लिया हो
घटन = संयोग
घर्म = गर्मी, धूप, घाम
चामीकर = सुवर्ण
चारण = बन्दी यशोगायक
चिरकारक = विलम्ब करनेवाला
चीवर = वस्त्रखण्ड, चिथड़ा
चेटिका = दासी
छन्द = इच्छा, अभिप्राय
छिन्नहस्त = जिसने हाथ काटलिया हो
जङ्गम = चलने-फिरनेवाला
जयोदाहरण = जयगान, स्तुति
जातकर्म = जन्मानन्तर संस्कार
जाप्य = जप
जाल्म = अविचारक
ज्योतिः = तेज
तडित्वान् = मेघ
तालवृन्त = व्यजन, पंखा
तिरस्करिणी = अन्तर्धान विद्या
तूर्ण = शीघ्र
त्रिदश = देवता
त्रियामा = रात्रि
दक्षिण = चतुर, दक्षिण दिशा
दम्य = बोझ ढोने योग्य जवान बैल
दस्यु = लुटेरा
दाक्षिण्य = सुशीलता
दारिका = लड़की
दिनकृत् = सूर्य
दीपिका = छोटा दीप
दुरागत = असमयमें आगत, अनिष्ट व्यक्ति
दुर्जात = विपत्ति, बदमाश
दुर्ललित = जिद्दी, दुलारा
दूरारूढ = दूरतक पहुँचा हुआ
धारासार = धारापात, वृष्टि
धीवर = मछुआ, नाविक
धृति = धैर्य
नागरिक = शहरी, चतुर
नाराच = धनुष
निकष = कसौटी
निचुल = बेतवृक्ष
निमन्त्रणिक = निमन्त्रित
नियोग = आज्ञा
निर्मोक = त्वचा, सांपका केंचुआ
निर्यातय = सौंप दो
निर्यातित = सौंपा गया
निर्वाण = मुक्ति, शान्ति
निर्वृत = शान्ति प्राप्त
निर्वृति = शान्ति
निर्वेद = उदासीनता
निःश्रेयस = मोक्ष, परमशान्ति

निषिञ्चन् = सींचता हुआ, गर्भाधान कराता हुआ
नीलकण्ठ = मयूर
नेपथ्य = पर्दा
नैगम = वणिक्
नैश = रात्रिका
नोदय = हांको
न्यासीकृत = धरोहर रखा हुआ
पक्ष्य = सपक्ष, अनुकूल पक्षवाला
पटु = दक्ष, सुन्दर
पट्टक = पीढ़ा, आसनोपयुक्त खण्ड
परभृत = कोयल
परमान्न = पायस, खीर
परमार्थ = सार, रहस्य
परवत्ता = पराधीनता
परिक्रामित = सलील गमन, अभिनयगति
परिच्छद = पोशाक, आवरण, सामग्री
परिणति = अन्त, फल
परिदेवित = विलाप
परिसर = पर्यन्तभूमि, आसपास
पर्यवस्थापयामि = स्थिर करती हूँ
पर्याप्त = पूर्ण, समर्थ
पर्व = शरीरावयवसन्धि, गांठ, पोर
पाक = परिणाम, फलदातृता
पाकशासन = इन्द्र
पाथेय = संवल, राहखर्च
पिशुन = सूचक, खल
पिहित = छिपा, ढका
पुंगव = वृष (उसरपदमें रहनेपर, श्रेष्ठ)
पुण्डरीक = श्वेत कमल
पुनरुक्ति = दुबारा कहना
पुरन्दर = इन्द्र
पुरस्कृत्य = आगे करके
पुरोभागी = केवल दोष देखनेवाला
पुरोवात = पूरबकी वायु
पूषा = सूर्य
पेटक = पिटारी
पौनरुक्त्य = द्विरुक्ति, पुनः कथन
पौलोमी = इन्द्रकी स्त्री शची
पौष्प—फूलोंका
प्रकृति = प्रजा, स्वभाव
प्रणय = अनुराग
प्रणयी = प्रिय, स्नेही
प्रणिधान = एकाग्रता, ध्यान
प्रतिकृति = छवि, चित्र, मूर्ति
प्रतिगृहीत = अंगीकृत, स्वीकृत
प्रतिपक्ष = दुश्मन, विरोधी
प्रतिपालयति = प्रतीक्षा करता है
प्रतीप = विरोधी, उल्टा
प्रतीच्छति = आडता है, आघात बचाता है प्रतीक्षा करता है
प्रत्यग्र = नवीन
प्रत्यर्थी = शत्रु
प्रत्याचरितुम् = प्रत्याख्यान करने के लिये
प्रत्यादिशति = छोड़ता है
प्रत्यादेश = त्याग, निन्दा
प्रत्युद्गच्छ = अगवानी करो, स्वागत करो
प्रत्युषस् = प्रातःकाल
प्रमदवन = अन्तःपुरोद्यान
प्रयोग = परीक्षा, व्यवहार
प्रविघात = भंग, नाश
प्रवृत्ति = वृत्तान्त, झुकाव
प्रसभ = हठात्
प्रसाद = प्रसन्नता
प्रसाधन = सजावट, बनाव शृंगार
प्रस्नव = दूधका बहना

प्रहरण = अस्त्र
प्रावृषेण्य = वर्षा कालिक
प्रेक्षण = आंख, देखना
बन्दिग्राह = बन्दी बनाना
बर्ही = मयूर
बलवत् = बलवान्, अत्यन्त
बाणासन = धनुष,
ब्रह्मबन्धु = निन्दायुक्त ब्राह्मण, ब्राह्मणाधम
बाष्पायते = आंसू बहाता है
बिस—कमलनाल
बोधन = बिकसित करना, बताना
भद्रपीठ = शुभासन
भागधेय = भाग्य
भुग्न = कुटिल, झुका हुआ
भूमिका = अवतरण, वेशग्रहण, प्रस्तावना
भूयिष्ठ = खूब, बहुत
मघवान् = इन्द्र
मदिराक्षी = सुन्दरी, मनवाली आंखवाली
मदिरेक्षणा = " "
मधुलिह् = भ्रमर
मनसिशय = कन्दर्प
मनस्वी = गम्भीर, विचारक
मन्द्र = गम्भीर स्वर
मरुत्वान् = इन्द्र
महानस = पाकालय, रसोई घर
महानुभाव = उदाराशय
महासेन = कार्त्तिकेय
माधवी = वासन्ती लता
मानुष्य = मनुष्य धर्म
मारिष = सूत्रधार संबोधन
मार्गण = बाण दूत,
माल्य = माला
मूर्च्छताम् = बढ़नेवाले
मृगचारी = मृगोंके समान सरल जीवनवाला
मृगतृष्णिका = उत्कृष्ट तथा व्यर्थ अभिलाष
मृगलाञ्छन = चन्द्रमा
मृणाल = कमलदण्ड
यन्त्रण = घिरना, यन्त्रसे दबाना दुःख
यष्टि = दण्ड, लाठी
याम = प्रहर
रथाङ्गनाम = चक्रवाक
रथी = रथपर चढ़ा हुआ
रम्भोरू = कदली तरुके समान जंघोंवाली
रस = स्नेह
रसाल = आम्र
रूक्ष = रूखड़ा
रोदस = आकाश-पाताल
रोधस् = तट
लघयेत् = शान्त करेगा, कम करेगा
लङ्घन = व्यतिक्रम, उपवास
लम्भय = दे दो, प्राप्त करा दो
लवली = हरफारेवड़
लुलित = इतस्ततः क्षिप्त
लोध्र = चोरीका सामान
लोहिताङ्ग = मङ्गलग्रह
वज्री = इन्द्र
वर्जयित्वा = छोड़कर
वलभि = छज्जा, ऊपरका तल्ला
वशा = हस्तिनी
वायव्य = वायुदेवताक
वार = दिन अवसर
वासगृह = शयन-कक्ष
विकत्थते = अपनी तारीफ करता है
विजृम्भते = बढ़ता है
विडम्बयति = नकल करता है
वितान = विस्तार चन्दवा

विधि = भाग्य क्रियाकलाप
विधुर = दुःखी वियोगी
विनिद्र = विकसित जगा हुआ
विपर्यय = विपरीत होना, गड़बड़ाना
विप्रकृष्ट = दूर
विप्रयोग = जुदाई
विभावित = तर्कित ज्ञात
विमनस्क = उदासीन, अन्यमनस्क
विलग्न = कृश
विविक्त = एकान्त
विशद = स्पष्ट, स्वच्छ
विश्रम = शान्ति, विश्राम
विष्टर = आसन
विसंवदति = नहीं मिलता है
विसृष्ट = दत्त
वीतसूत्र = यज्ञोपवीत
वीरुध—लता
वैजयन्तिका = पताका
वैतालिक = भाट, स्तुतिपाठक
वैद्युत = बिजलीसंबन्धी
वैधेय = मूर्ख
वैनतेय = गरुड़
वैयर्थ्य = बेकारी, निरर्थकता
व्यपत्रपन्ते = लज्जित होती है
व्यपदेश = छल, बहाना
व्यवसाय = काम-धन्धा
व्यवसित = चेष्टा
शतपत्र = कमल
शतह्रदा = बिजली
शबल = चित्रित
शरधि = तरकस, इषुधि
शराब = प्याला, कसोरा
शरासन = बाण
शल्य = मनोदुःख, कण्टक
शाखामृग = वानर
शाद्वल = हरी तथा छोटी घास
शिखण्ड = मयूरपुच्छ
शिखरिणी = चीनी, इलायची, केसर आदि युक्त दही (श्रीखण्ड)
शिलोच्चय = ऊंचा चट्टान
शुद्धान्त = अन्तःपुर
शैलेयस्थली = पर्वतभूमि
श्वभ्र = गर्त्त, बिल
संरम्भ = वेग, तैयारी
संवरण = निवारण
संगर = युद्ध
संघट्ट = टकराना
संज्ञा = होश, चेतना
संज्ञापयति = पुकारता है
सत्त्व = प्राणी, बल
संदीपदन = उत्तेजना
संधुक्षित = प्रज्वलित
संनद्ध = तयार
सपत्न = शत्रु
समय = काल, कौल, व्यवस्था, आचार
समर्थये = मानता हूँ
समापत्ति = अकारण, अकस्मात्
समासतः = संक्षेपमें
समेधयति = बढ़ाता है
सम्पराय = युद्ध
सम्पर्क = सरोकार
सम्पात = आवागमन, सञ्चार
सम्प्रधारयति = ठहरता है, निश्चय करता है
संभार = सामग्री
सशल्य = सदुःख
सहकार = आम्रवृक्ष

सांयुगीन = युद्धनिपुण
साकूत = अभिप्रायपूर्ण
साद्यन्ती = क्षीण करती हुई
साधयामः = चले, जाते हैं
साधर्म्य = तुल्यता
साधारण = अविशिष्ट, तुल्य
सानुमत् = पर्वत
सारङ्ग = मृग
सुरधनुष = इन्द्रधनुष
सैनापत्य = सेनापतिका कर्त्तव्य या भार
सौहृद = मित्रता
स्थाणु = शिवजी, ठूंठ वृक्ष
स्थाने = युक्त
स्निग्ध = प्रेमी
स्रोतोवहा = नदी वेगवती धारा
स्वस्तिवाचन या स्वास्तिवाचन = उपहार-भूत मिष्टान्नादि जिसके बदलेमें आशीर्वाद दिया जाय
हरि = सिंह
हरिचन्दन = दिव्य चन्दन, सुगन्ध लेप
हरिवाहन = इन्द्र
हस्तावाय = दस्ताना, धनुष आदि अस्त्र शस्त्रसे हाथको बचानेवाला
हार्द = प्रेम

नोटः—इस कोषमें शब्दोंके वही अर्थ दिये गये हैं-जिससे प्रकरणमें समन्वय हो जाय। इसका सभी उपयोग कर सकते हैं। अति प्रसिद्ध शब्द छोड़ दिये गये हैं॥

अकारादिश्लोकसूची

अग्रे यान्ति रथस्य	१।४	अमरमुनिरिवात्रि	५।२१
अग्रे स्त्रीनखपाटलं	२।७	अयं च गगनास्कोऽपि	१।१३
अङ्गमनङ्गक्लिष्टं	३।१६	अयं तस्या रथक्षोभा	३।११
अचिरप्रभाविलसितैः	४।७३	अयमचिरोद्गतपल्लव	४।४४
अदः सुरेन्द्रस्य कृता	१।१७	अयमेकपदे तया	४।१०
अद्याहं पुत्रिणामग्र्यः	५।१४	अवधूतप्रणिपाताः	३।५
अनिर्देश्यसुखः स्वर्गः	३।१८	असौ मुखालम्बितहे	५।२
अनीशया शरीरस्य	२।१९	अस्यान्तिकमायान्ती	४।५९
अनुपनतमनोरथस्य	३।२२	अस्याः सर्गविधौ	१।८
अनेन कल्याणि मृणाल	३।१३	आत्मनो वधमाहर्ता	५।१
अनेन निर्मितनुः	५।६	आ दर्शनात्प्रविष्टा	२।२
अपराधी नामाहं	२।२१	आभरणस्याभरणं	२।३
अपि दृष्टवानसि मम	४।६०	आभाति मणिविशेषो	५।४
अपि वनान्तरमल्पकु	४।४९	आयुषो यौवराज्यश्रीः	५।२३

आरक्तराजिभिरियं ४।१५
आलोकयति पयोदा ४।१८
आ लोकान्तात्प्रतिहत २।१
आविर्भूते शशिनि १।७
अविलपयोधराग्रं ५।८
आश्वासितस्य मम नाम ५।१६
इदं रुणद्धि मां पद्मं ४।४०
इदमसुलभवस्तुप्रार्थना २।६
इयं ते जननी प्राप्ता ५।१२
उत्कीर्णा इव वासव ३।२
उदयगूढशशाङ्कमरी ३।६
उर्वशीसंभवस्यायं ५।७
उष्णालुः शिशिरे २।२३
ऊरूद्भवा नरसखस्य १।३
एताः सुतनु सुखं ते १।१०
एषा मनो मे प्रसभं १।१८
कार्यान्तरितोत्कण्ठं ३।४
किं सुन्दरि प्ररुदितासि ५।१५
कुपिता न तु कोपकारणं ४।२६
कुसुमशयनं न प्रत्यग्रं ३।१०
कृष्णशारच्छविर्यो ४।५७
गतं भयं भीरु सुरारि १।५
गूढा नूपुरशब्दमात्र ३।१५
गोरोचनानिकषपिङ्ग ५।१९
णं मे लुलिअपारिजा २।१३
तन्वी मेघजलार्द्रपल्लव ४।६६
तया वियुक्तस्य विकस्व ४।६५
तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभित ४।५२
तव पितरि पुरस्ता ५।२२
तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभात ४।९
तुल्यानुरागपिशुनं २।१४
त्वत्कार्यं वासवः ५।२०
त्वद्वियोगोद्भवे तस्मि ४।६९
त्वयि निबद्धरतेः प्रिय ४।५५
त्वां कामिनो मदनदूति ४।२५
दातुं वा प्रभवसि ३।१४
देव्या दत्त इति यदि ३।१७
न तथा नन्दयसि मां २।१९
नद्या इव प्रवाहो ३।८
ननु वज्रिण एव वीर्यं १।२५
नवजलधरः संनद्धोऽयं ४।७
न सुलभा सकलेन्दु २।९
न हि सुलभवियोगा ५।१७
नितान्तकठिनां रुजं २।११
निषिञ्चन्माधवीमेतां २।४
नीलकण्ठ ममोत्कण्ठा ४।२१
पद्मयां स्पृशेद्वसुमतीं ४।१६
परस्परविरोधिन्यो ५।२४
परिजनवनिताकरा ३।३
पर्युत्सुकां कथयसि २।१६
पश्चात्सरः प्रतिगमिष्यसि ४।३१
पादास्त एव शशिनः ३।२०
पुरा नारायणेनेयं १।१४
प्रणयिषु वा दाक्षिण्या १।२
प्रभापल्लवितेनासौ ५।३
प्रभालेपी नायं हरि ४।६१
प्रियमाचरितं लते १।१६
प्रियवचनशतोऽपि २।२२
बाष्पायते निपतिता ५।९
मदकल युवतिशशि ४।४६
मधुकर मदिराक्षयाः ४।४२
मन्दारपुष्पैरधिवासि ४।६३
मम कुसुमितास्वपि २।८
मया नाम जितं यस्य २।१७
महदपि परदुःखं ४।२७
मामाहुः पृथिवीभृता ४।४७
मुञ्चति न तावदस्या १।६
मुनिना भरतेन यः २।१८

मृदुपवनविभिन्नो ४।२२
मेघश्यामा दिशो दृष्ट्वा ४।३०
यदयं रथसंक्षोभा १।११
यदि हंस गता न ते ४।३२
यदि हार्दमिदं श्रुत्वा ५।१०
यदृच्छया त्वं सकृद् १।९
यदेवोपनतं दुःखा ३।२१
यः सुप्तवान्मदङ्के ५।१३
यावत्पुनरियं सुभ्रू १।१२
रक्तकदम्बः सोऽयं ४।५६
रतिखेदसुप्तमपि मां ४।४१
रत्नमिति न मम ५।५
रथाङ्गनामन्वियुतो ४।३७
रविमावसते सतां ३।७
वचोभिराशाजननै ३।९
वासार्थं हर संभृतं २।२०
विद्युल्लेखाकनकरुचिरं ४।१३
विविक्तुर्यदहं २।५
वेदान्तेषु यमाहुरे १।१
शमयति गजानन्या ५।१८
संगमनीय इति मणिः ४।६४
समर्थये यत्प्रथमं ४।६८
सरसि नलिनीपत्रेणापि ४।३९
सर्वः कल्ये वयसि ३।१
सर्वक्षितिभृतां नाथ ४।५१
सर्वाङ्गीणः स्पर्शः सुतस्य ५।११
सामन्तमौलिमणिरञ्जित ३।१९
सामिअ संभाविआ २।१२
सितांशुका मङ्गलमात्र ३।१२
सूर्याचन्द्रमसौ यस्य ४।३८
स्फुरता विच्छुरितमिदं ४।७२
हंस प्रयच्छ मे कान्तां ४।३३
हृतोष्ठरागैर्नयनोद् ४।१७
हृदयमिषुभिः काम २।१०

चतुर्थाङ्कगताः प्राकृतश्लोकाः

एक्कक्कमवट्ठिअगुरुअ ४।४१
करिणीविरहसंता ४।४३
गन्धुग्गाइअमहुअर ४।१२
गहणं गइन्दणा हो ४।५
गोरोअणाकुङ्कुमवण्णा ४।३६
चिन्तादुम्मिअमाणसिआ ४।४
जलहर संहर ४।११
दइआरहिओ अहिअं ४।१४
पणइणिबद्धासाइ ४।६२
परहुअ महुरपला ४।२४
पसरिअम्बरसुर ४।४८
पसीअ पिअअम ४।५३
पाविअसहअरि ४।७४
पिअअमविरहकिला ४।२८
पिअकरिणीविच्छो ४।२९
पिअसहिविओअ ४।१
पुव्वदिसापवणाहअ ४।५४
फलिहसिलाअल ४।५०
बंहिण पै इअ ४।२०
मइ जाणिअ मिअलो ४।८
मम्मररणिअमणो ४।३५
मोरा परहुअ हंस ४।७०
लए पेक्ख विणु हिअए ४।६७
विज्जउज्झरकाणण ४।२३
संपत्तविसूरणओ ४।१९
सहअरिदुक्खालिद्धअं ४।२।४३
सुरसुन्दरि जहणभरा ४।५८
हइं पैं पुच्छिमि आअ ४।४५
हिअआहिअपिअदुक्खओ ४।६

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
L.B.S. National Academy of Administration, Library
मसूरी
MUSSOORIE
यह पुस्तक निम्नाँकित तारीख तक वापिस करनी है।
This book is to be returned on the date last stamped

दिनांक Date	उधारकर्त्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.

GL 351.22
KAL
126583
LBSNAA

Sans
891.22

अवाप्ति सं० 14614
ACC. No.....
वर्ग स.
Class No.....
पुस्तक सं.
Book No.....
लेखक
Author.....

Sans
891.22
कालिदा
14614

LIBRARY
LAL BAHADUR SHASTRI
National Academy of Administration
MUSSOORIE

Accession No. 125583

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving